नीतिशास्त्र

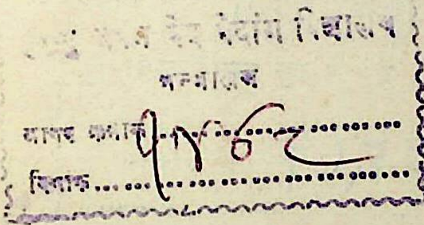
शांति जोशी

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र

(संक्षिप्त संस्करण)



शांति जोशी



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

संशोधित मूल्य
11/50
राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०
दिल्ली-6

प्रथम संक्षिप्त संस्करण | १९६९
मूल्य | ~~[illegible]~~
प्रकाशक | राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली-६
मुद्रक | शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस, के-१८, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

पूज्य पिता
श्री मथुरादत्तजी जोशी
को
सादर समर्पित

प्रस्तावना

विश्वविद्यालयों के बी० ए० के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए नीतिशास्त्र के इस संक्षिप्त संस्करण को प्रस्तुत करने में मुझे प्रसन्नता है। आशा है वे इस पुस्तक को केवल पाठ्यक्रम की दृष्टि से ही उपयोगी नहीं पाएँगे वरन् यह उनमें उस स्वस्थ प्रेरणा को भी जन्म देगी जो उनके व्यक्तित्व का संयोजन कर उन्हें नैतिक-सामाजिक एवं विश्व-एकता और प्रेम के बोध से युक्त कर सकेगी।

दर्शन-विभाग, शांति जोशी
प्रयाग विश्वविद्यालय
जुलाई, १९६९

अनुक्रमणिका

प्रथम भाग

सामान्य परिचय

द्वितीय भाग

नैतिक सिद्धान्त

अर्वाचीन सुखवाद : नैतिक सुखवाद

अर्वाचीन सुखवाद नैतिक है : दो प्रकार—स्वार्थ, परार्थ।

स्वार्थ सुखवाद : हॉब्स

जड़वाद, इन्द्रियसुखवादी मनोविज्ञान और नैतिक स्वार्थवाद का समन्वय : मनुष्य का स्वभाव—स्वार्थी, आत्म-संरक्षण और सुख का इच्छुक : वैयक्तिक-सामाजिक सुख का प्रश्न : नैतिक आदेश—आवश्यक और उपयोगी : भ्रान्तिपूर्ण मनोविज्ञान : सिद्धान्त की विशिष्टता।

परार्थ सुखवाद : उपयोगितावाद

सामान्य परिचय : परार्थ सुखवाद के प्रमुख प्रवर्तक।

बेंथम

सुख ही एकमात्र वाञ्छनीय ध्येय—नैतिक-मनोवैज्ञानिक सुखवाद का समन्वय : स्वार्थ से परार्थ की ओर : उपयोगितावाद : नैतिक आदेश द्वारा सामूहिक सुख की प्राप्ति : प्रेरणा, परिणाम, उद्देश्य : परिमाण—सुखवादी गणना : व्यापकता : त्रुटियाँ—विशेषता।

मिल

उपयोगितावाद के प्रचारक के रूप में : मिल का उपयोगितावाद—उसकी विशिष्टता : नैतिक ध्येय—सुख; नैतिक-मनोवैज्ञानिक सुखवाद : नैतिक मापदण्ड—सामान्य सुख : तार्किक युक्ति द्वारा पुष्टि : मनोवैज्ञानिक प्रमाण—स्वार्थ से परमार्थ : आन्तरिक आदेश—सजातीय भावना : उपयोगितावाद—उच्च आदर्श का पोषक : सुख की क्रमिक व्यवस्था—गुणात्मक भेद : मिल की सफलता और असफलता।

नैतिक सुखवाद की आलोचना

मनोवैज्ञानिक सुखवाद से अधिक व्यापक—दोहरी कठिनाई : स्वार्थ और परार्थ का विरोधपूर्ण सामंजस्य : नैतिक कर्तव्य तथा सद्गुण के लिए स्थान नहीं है : सुखवादी गणना असम्भव।

तृतीय भाग

भारतीय नीतिशास्त्र

प्रथम भाग

सामान्य परिचय

१

नैतिक समस्या

विषय-प्रवेश—मनुष्य अन्य जीवधारियों से अधिक श्रेष्ठ-स्थिति में है। वह बौद्धिक और विवेकशील है। उसके कर्म स्वतन्त्र और स्वेच्छाकृत होते हैं। वह यह जानने का प्रयत्न करता है कि मानव गौरव के अनुरूप कर्म कौन से हैं। इस जिज्ञासा ने उसका ध्यान आवश्यक और कल्याणप्रद नियमों की ओर आकृष्ट किया। नैतिक प्राणी होने के कारण उचित-अनुचित की भावनाएँ उसके स्वाभाविक गुण हैं। उसमें कर्मों का समर्थन और विरोध करने की एक अबाध प्रवृत्ति है। वह उनके औचित्य-अनौचित्य के बारे में निर्णय देता है। अपने दैनिक जीवन के चिन्तन और वार्तालापमें वह अनेक प्रकारके निर्णय करता है—'वह दुष्ट है या सुजन है ? मुझे क्या करना चाहिए ? क्या मेरा कर्म अनुचित था ? कर्तव्य और अधिकार के क्या अर्थ हैं ? शुभ और अशुभ का क्या अभिप्राय है ? जीवन का ध्येय क्या है ?' आदि। उसके मानस में उसके व्यक्तित्व के अनुरूप गुणों और अवगुणों की एक अनजानी परिभाषा रहती है। इस परिभाषा के अनुरूप ही उसका चिन्तनशील मानस उसके सम्मुख कुछ मान्यताएँ एवं आदर्श रखता है। अपने वातावरण, शिक्षा और वंशानुगत गुणों तथा जीवन सम्बन्धी अनुभवोंके कारण वह अनायास ही मानने लगता है कि झूठ बोलना, चोरी करना, शराब पीना, गाली देना आदि अनुचित कर्म हैं। वह अपने उन्नत स्वभावके कारण स्वार्थ और असत्य का विरोध करता है। उसकी नैतिक चेतना यह जानना चाहती है कि उसकी धारणाएँ और विचार कहाँ तक ठीक हैं; वह इनका परीक्षण और स्पष्टीकरण करना चाहती है; बौद्धिक विश्लेषण द्वारा श्रेयस्कर कर्मों को अपनाना चाहती है। वह निःश्रेय एवं परमश्रेय के स्वरूप को समझना चाहती है।

नीतिशास्त्र की उत्पत्ति—यदि इतिहास की ओर दृष्टि करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि मनुष्य के मन में जब गम्भीर विचारों तथा विवेचनाओं का उदय हुआ तो सर्वप्रथम उसका ध्यान वाह्य जगत की गुत्थियों को सुलझाने की ओर गया। कुछ काल पश्चात् ही उसने जीवन की व्यावहारिक आवश्यकताओं को सुलझाने का प्रयास किया। उसके जीवन के ध्येय को जानना चाहा। यही प्रेरणा नीतिशास्त्र की जन्मदात्री है। इसी प्रेरणा के कारण वह परम्परागत भावनाओं, प्रचलनों और अभ्यासों को समझना चाहता है। प्रचलित मान्यताएँ और आस्थाएँ जीवन की प्रगति में तथा मनुष्य को आत्म-सन्तोष देने में कहाँ तक सहायक होती हैं, उसकी बौद्धिक जिज्ञासा एवं नैतिक चेतना इस सत्य को निरन्तर खोजती है। नीतिशास्त्र, इस दृष्टिसे, वह बौद्धिक प्रणाली है जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्तिमें कर्तव्य का निर्णय किया जाता है। मनुष्य के लिए क्या उचित है, उसे प्रचलनों और अभ्यासोंका कहाँ तक अनुकरण करना चाहिये; उसे अपने स्वतन्त्र इच्छित कर्म द्वारा किस ध्येय की प्राप्ति करनी चाहिये, आदि सब बातें नीतिशास्त्र के ही अन्तर्गत आती हैं।

शब्द-विज्ञान के अनुसार नीतिशास्त्र की परिभाषा—मनुष्य की बुद्धि ने सर्वोच्च ध्येय (नि:श्रेयस) को जानने का तथा उसकी नैतिक प्रवृत्ति ने समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों और अभ्यासों को समझने का प्रयास किया। अभ्यासों एवं रूढ़ि-रीतियोंका उद्‌भव आकस्मिक घटना के रूप में नहीं होता। वे मनुष्य की आन्तरिक आवश्यकताओं और स्वभाव को व्यक्त करते हैं। वे देश, समाज और व्यक्ति के आन्तरिक जीवन के सूचक हैं। नीतिशास्त्र उन पर न्यायसम्मत निर्णय देने का प्रयास करता है। वह मनुष्यकी आदतों और रीति-रिवाजों का विज्ञान है। शब्द-विज्ञान के अनुसार एथिक्स (Ethics) अर्थात् नीतिशास्त्र ग्रीक शब्द एथौस (Ethos) से लिया गया है। एथौस का अभिप्राय चरित्र (Character) से है। यह चरित्र का विज्ञान है। एथिक्स का ही पर्यायवाची शब्द 'मॉरल फिलॉसफी' (Moral philosophy) है। मॉरल शब्द लैटिन के 'मॉरेस' (Mores) से लिया गया है। इसका सर्वप्रथम प्रयोग रीति-रिवाज और अभ्यास के अर्थ में हुआ। इस प्रकार मॉरल फिलॉसफी का अर्थ हुआ : रीति-रिवाज, प्रचलन और अभ्यास-

का दर्शन । यह मनुष्य के चरित्र का विवेचन कर उन तत्त्वों को जानना चाहता है जिनके आधार पर वे स्वभावत:—अभ्यासवश—कर्म करते हैं । यह मनुष्य के शुभ या उचित आचार (Conduct) का अध्ययन करता है । यह चरम ध्येय को समझने का प्रयास करता है और उसके अनुरूप ही आचार को शुभ और अशुभ कहता है । इसके अनुसार वही कर्म श्रेयस्कर हैं जो चरमध्येय अथवा नि:-श्रेयस की प्राप्ति में सहायक होते हैं । यह सामाजिक प्रथाओं, धार्मिक आस्थाओं, राजनीतिक नियमों और व्यक्तिगत एवं सामूहिक अभ्यासों का विवेकसम्मत विश्लेषण करता है और यह बतानेका प्रयास करता है कि व्यक्ति अपने दैनन्दिन के जीवन में इन आस्थाओं, विचारों और विश्वासों को अपनाकर अपने ध्येय को कहाँ तक प्राप्त कर सका है । उसके कर्म ध्येय की प्राप्ति के लिए कहाँ तक सफल साधन कहे जा सकते हैं । साधन की सफलता और असफलता को समझाने के लिए यह शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित शब्दों का प्रयोग करता है । कर्तव्य, अधिकार, बाध्यता, सद्गुण, उत्तरदायित्व[1] आदि भी इन्हीं के अनुगामी शब्द हैं ।

मूलगत नैतिक प्रत्यय : उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ का स्पष्टीकरण—नीति-शास्त्र जीवन के परमलक्ष्य की खोज करता है । इस लक्ष्य की प्राप्ति में सार्थक कर्मों को वह शुभ या उचित कहता है और जो कर्म उपयोगी नहीं होते उन्हें अनुचित या अशुभ कहता है। अत: ये शब्द अधिकतर विशेषणों के रूप में प्रयुक्त होते हैं । वैसे राइट (Right) अर्थात् उचित शब्द लैटिन शब्द रैक्टस (Rectus) से बना है जिसका अर्थ है सीधा अथवा नियम के अनुसार । किसी के चरित्र को उचित कहने का तात्पर्य यह होता है कि वह विशिष्ट नैतिक नियमों के अनुसार कर्म करता है । किन्तु नियम का सम्बन्ध ध्येय से होता है । वे लक्ष्य को सम्मुख रखकर बनाये जाते हैं अत: नियम, लक्ष्य या ध्येय की पूर्ति के लिए साधन मात्र हैं । यदि जीवन का ध्येय सुखी रहना है तो सुखी रहने के लिए आवश्यक नियमों के अनुसार कर्म करना उचित कहलायेगा और इसके विपरीत अनुचित । कोई भी विशिष्ट कर्म या तो उचित ही होता है और या अनुचित । उचित और शुभ (good) आपस में विरोधी लगते हैं । किन्तु इनमें मौलिक सम्बन्ध होता है । यह सम्बन्ध

---

१. देखिये भाग—१, अध्याय—६ ।

शुभ के अर्थ को समझने पर स्पष्ट होगा। 'गुड' (good) का सम्बन्ध जर्मन शब्द 'गुट' (gut) से है जिसका अर्थ शुभ होता है। शुभ से अभिप्राय है जो परमशुभ के लिए उपयोगी है, जो उसकी प्राप्तिके लिए साधन है। अधिकतर शुभ शब्दका प्रयोग दो अर्थोंमें होता है—साधन और साध्य; शुभ और परमशुभ (ultimate good, अर्थात् Summum bonum) से अभिप्राय उस परमध्येय (ultimate end) से है जो अपने आप में परिपूर्ण है। पूर्णता जिसका अन्तर्जात गुण है। नैतिक दृष्टि से साध्य और साधन में कोई विशेष भेद नहीं है। जो एक दृष्टि से साधन है वही दूसरी दृष्टि से परिणामतः साध्य हो सकता है। शुभ और उचित में भी कोई स्पष्ट अन्तर नहीं है। दोनों का अधिकतर एक ही अर्थ में प्रयोग होता है। उसी ध्येय और कर्म को शुभ और उचित कहेंगे जो कि परमध्येयकी प्राप्तिमें सहायक होता है।

परमशुभका अभिप्राय—परमशुभ वह है जो आपने आपमें मूल्यवान् है, जिसके लिए और सब कर्म साधनमात्र हैं। शुभ की सर्वोच्च स्थिति ही परमशुभ की स्थिति है। शुभ के, मात्राओं के अनुसार, अनेक भेद होते हैं। शुभ, अधिकशुभ, परम-शुभ आदि। अथवा शुभ की एक क्रमिक श्रेणी होती है और इसकी सर्वोत्तम स्थिति ही परमशुभ की स्थिति है। परमशुभ को निर्धारित करना ही नीतिशास्त्र का ध्येय है। परमशुभ के अनुरूप ही वह कर्मों को शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित कहता है।

परमशुभ या परमलक्ष्य से क्या अभिप्राय है? निःश्रेयस का क्या रूप है? जीवन का क्या ध्येय है? नैतिक आदर्श किसे कहते हैं? उपर्युक्त सभी प्रश्न पर्यायवाची हैं। वे एक ही साध्य के सूचक हैं? नीतिशास्त्र इसी साध्य को जानने का प्रयास है। यह साध्य वह संगतिपूर्ण इकाई है जिसका सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवन से है। मनुष्यों के स्वभाव का विवेचन करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि उनमें जीवन के ध्येय के बारे में मतभेद होता है। कोई यश का अभिलाषी है, कोई धन का और कोई जीवन में आनन्द और उल्लास का। एक ओर भभूत लगाकर, कोपीन पहन कर घूमनेवाले वैरागी, संन्यासी हैं और दूसरी ओर आमोद-प्रमोद, भोग-विलासमें रत रहनेवाले इन्द्रियजीवी। प्रश्न यह है कि नैतिक दृष्टिसे जीवनंका ध्येय एक है अथवा अनेक। यदि एक है तो इन विभिन्न ध्येयों के बीच

कैसे सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। नीतिशास्त्र मनुष्य के अनुभव या आचार के किसी विशिष्ट क्षेत्रतक अपने को सीमित नहीं रखता है। वह समस्त आचारों अथवा सम्पूर्ण अनुभवों का अध्ययन करता है। और इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इच्छित कर्म और वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं: वह जो स्वतः मूल्यवान् हैं और वह जो उपयोगी हैं। प्रथम प्रकार के कर्मों के गुण मौलिक, आभ्यंतरिक और निरपेक्ष हैं। दूसरे प्रकार के कर्मों के गुण गौण, वाह्य, और सापेक्ष हैं। एक साध्य है और दूसरा साधन है।

स्थूल दृष्टिसे यह भाषित होता है कि ध्येय अनेक हैं जो वैयक्तिक तथा आत्मगत हैं। किन्तु वास्तवमें विभिन्न ध्येय अपने आप में परम नहीं है। वह परमध्येय के लिए साधनमात्र हैं। मनुष्य धन या अन्य इच्छित वस्तु, धन या अन्य इच्छित वस्तुके लिए नहीं चाहता वरन् किसी विशिष्ट आदर्श की पूर्ति के लिए। साधारणत: जिनको हम साध्य कहते हैं वे अपने मूल रूप में साधनमात्र हैं। उनका सापेक्ष महत्त्व है। अत: विभिन्न ध्येयोंका परमध्येय एक ही है। यह निरपेक्ष ध्येय अनन्त सापेक्ष ध्येयों की संगतिपूर्ण इकाई है। यह वह ध्येय है जिसकी प्राप्ति के लिए मानव सदैवसे प्रयत्नशील रहा है, जो एक बौद्धिक प्राणीके लिए परमवांछनीय है तथा जो ध्येय अन्तत: एक है। नैतिक ज्ञान के अनुसार शुभ अपने सर्वोत्तम रूपमें एक ही है, जीवन का परम आदर्श भी एक ही है और यह अद्वितीय आदर्श ही नैतिक निर्णयकी कसौटी या मापदण्ड है।

परमशुभका स्वरूप—यदि वह मान लें कि सर्वोत्तम शुभ एक है तो इसका क्या स्वरूप है? शुभके स्वरूपके बारे में नीतिज्ञोंके विभिन्न मत हैं, जो विभिन्न सिद्धान्तों के अध्ययन से ही स्पष्ट होंगे। संपेक्ष में, कुछ विचारकों के अनुसार, जीवनका सर्वोत्तम शुभ इन्द्रियसुख है, कुछ के अनुसार शुद्ध बौद्धिक जीवन और कुछ के अनुसार आत्म-सन्तोष है। नैतिक सिद्धान्तोंके अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि परमशुभ को समझने में कहाँ तक सफलता मिली है, उसके आदेश-को व्यक्ति क्यों मानता है, और यह आदेश आन्तरिक है या बाह्य। नीतिशास्त्र इस आदेश को अन्त:प्रेरित अन्तरुद्भूत और अन्तरारोपित मानता है। उसका

कहना है कि विवेकशील आत्म-प्रबुद्ध व्यक्ति नैतिक आदर्शको, उसके अन्तर्जात गुणों के कारण स्वयं स्वीकार करते हैं। क्योंकि वह उनकी नैतिक चेतना और बौद्धिक आत्मा का आदेश है। वह आदेश ही परमवांछनीय शुभ है। नैतिक रूप से जागरूक प्राणी इसका अनिवार्यत: पालन करते हैं। अरस्तू (Aristotle) के अनुसार नीतिशास्त्र उस विचार या धारणा को खोजता है जो कि मनुष्यके लिए परमशुभ या वांछनीय है। जिसे वह स्वयं उसकी पूर्णताके कारण स्वीकार करता है। अतएव मानव-जीवनमें जो आदर्श स्वत:निहित है, नीतिशास्त्र सामान्यत: उसीका अध्ययन है।

नीतिशास्त्रका विषय और क्षेत्र—नीतिशास्त्र का विषय और क्षेत्र क्या है? वह मनुष्य के किस सत्य को महत्त्व देता है?

नीतिशास्त्र मानवता के उच्चतम आदर्शों का पोषक है। वह मनुष्य को बताता है कि वह श्रेष्ठ प्राणी हैं, उसे मानव-गौरव के बोध से प्रेरित होकर कर्म करने चाहिये। इसी उद्देश्य से वह परमशुभ की खोज करता है। उसके अनुरूप कर्मों के औचित्य-अनौचित्य को समझाने का व्यवस्थित प्रयास करता है। उसके क्षेत्र की परिभाषा देना, उसको सीमित या केन्द्रित करना, अत्यन्त कठिन है। उसका विषय व्यापक है। समस्त नैतिक चेतना ही इसका क्षेत्र है, जो मनुष्य के आचरण एवं उसके सम्पूर्ण जीवनको आच्छादित करती है। वह मनुष्यके क्रियाकलापों और कर्मों का मूल्यांकन करता है, जो इस सत्य पर आधारित है कि मनुष्य आत्म-प्रबुद्ध प्राणी है, स्वतन्त्र है, उसके जीवन की गति अर्थहीन या सारहीन नहीं है। वह उच्चतम आदर्शों को प्राप्त कर सकता है। इस आधार-पर नीतिशास्त्र मनुष्य के आचरण पर गुणात्मक निर्णय देता है। कर्मों का नैतिक मूल्यांकन करने के लिए वह गुण-अवगुण, कर्तव्य-अधिकार, शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित आदि का बौद्धिक विश्लेषण करता है। उनके पीछे जो सत्य है उसे जानने का भी प्रयास करता है। सम्पूर्ण मानव-जीवन का व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त करना एवं मानवता और सभ्यता के आदर्श को स्पष्ट रूप से समझना ही उसका चिरन्तन विषय है। उसे मनुष्य-जीवन की बाहरी सामाजिक झाँकी से सन्तोष नहीं होता है। वह उसके आभ्यंतरिक जीवन में प्रवेश करता है; तत्त्वदर्शन को

अपनाता है। उसके लिए यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि वह कर्म के उचित और अनुचित के बारे में तार्किक समाधान करे। यहाँ पर वह तर्कशास्त्र और वैज्ञानिक प्रणाली को अपनाता है। व्यक्ति के आचरण को न्याय-संगत बनाने के लिए, उसे मानवीय और नैतिक स्तर पर उठानेके लिए, वह लोक-प्रचलित धारणाओं, जनप्रिय विश्वासों, भ्रांत विचारों, धार्मिक आस्थाओंका आलोचनात्मक परीक्षण करता है। जीवन के गूढ़ सत्य को जानने के लिए सामाजिक प्रचलनों, राजनीतिक नियमों, और व्यक्तिगत निष्ठाओं का बौद्धिक विश्लेषण करता है। मनुष्य के कर्मों के औचित्य-अनौचित्य को निर्धारित करने के लिए उन सभी विद्याओं—मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, जीवशास्त्र, राजनीति, ईश्वरज्ञान, तत्त्वदर्शन आदि का अध्ययन नीतिशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाता है जो मनुष्य के स्वभाव और स्वरूप पर प्रकाश डालती हैं। मनुष्य के चरमशुभ को समझने के लिए, उसके जीवन के विभिन्न अंगों का उन्नयन करने के लिए वह उसके व्यक्तित्त्व का सम्पूर्ण अध्ययन करता है। मानव-जीवन का समस्त क्रियात्मक पक्ष तथा सम्पूर्ण मानव-जीवन ही नीतिशास्त्र क्षेत्र और विषय है।

नीतिशास्त्र की उपयोगिता : इसके पक्ष का समर्थन तथा उसके विरुद्ध अपवादों का खंडन—नीतिशास्त्र की क्या उपयोगिता है? नैतिक ध्येय और लक्ष्य को क्यों प्राप्त करना चाहिये? इसका जीवन में क्या मूल्य है? क्या इसका आदर्श वास्तविक है? इन सब प्रश्नों के समाधान के लिए आवश्यक है कि इसके विरुद्ध अपवादों की गम्भीरतापूर्वक समीक्षा की जाय। नीतिशास्त्र के आलोचकों के अनुसार वह अपने मूलरूप में ध्वंसात्मक है। वह वैयक्तिक विज्ञान है। व्यवित का कल्याण ही उसका ध्येय है। वह अधार्मिक और अवास्तविक है। किन्तु इन अपवादों में सत्य नहीं है।

वह निर्माणात्मक है—नीतिशास्त्र इस आशा और विश्वास पर चलता है कि मनुष्य अपनेकर्मोंको विवेकसे संचालित कर सकता है। इस आधारपर वह मनुष्यके आचार-विचार, सामूहिक एवं राष्ट्रीय चरित्र का विश्लेषण करता है। कोई भी विशिष्ट आचरण, धर्म, संस्कृति और नियम कहाँ तक उचित है वह इस पर प्रकाश डालता है। उसके अनुसार औचित्य और अनौचित्यका ज्ञान

प्राप्त करने के लिए आलोचनात्मक होना आवश्यक है। किन्तु यह नीतिशास्त्र का बाह्य और अस्थायी पक्ष है। अपने मूलरूप में वह भावात्मक और निर्माणात्मक है।

नीतिशास्त्रके दो रूप—निर्माणात्मक तथा आलोचनात्मक—वास्तव में नीतिशास्त्र के दो रूप हैं : धनात्मक या निर्माणात्मक और ऋणात्मक या आलोचनात्मक। आलोचना के द्वारा वह निर्माण करता है। मनुष्य को असत्य से सत्य की ओर ले जाता है। उसको सत्य की ओर आकृष्ट करने के अभिप्राय से प्रमुख-अप्रमुख, नित्य-अनित्य तथा भाव और रूप के भेद को समझाता है। बौद्धिक विश्लेषण द्वारा व्यक्ति को उसकी तात्त्विक स्थितिका बोध कराता है। अन्धविश्वासों, कुरीतियों और धार्मिक कट्टरपंथीके चक्करमें फँसनेसे सचेत करता है। उसे सावधान करता है कि कठपुतलों का-सा जीवन मनुष्य के लिए हास्यास्पद है। ये मनुष्यत्व के ह्रास के चिह्न हैं। किसी भी नियम को वेद-पुराण की या दिव्य आदेश की दुहाई देकर मान लेना मूर्खता है। नीतिशास्त्र के अनुसार देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप नियमों में परिवर्तन होना आवश्यक है और विवेकसम्मत, कल्याणप्रद नियम ही पालन करने योग्य हैं।

नियमों की सत्यता और असत्यता को सिद्ध करने के लिए नीतिशास्त्र वैज्ञानिक और बौद्धिक प्रणाली स्वीकार करता है। बौद्धिक आलोचना, सन्देह और अविश्वास द्वारा वह सार्वभौम नैतिक मान्यताओं का सृजन करता है। मनुष्य को नैतिक जगत का नागरिक बनानेके लिए उसमें भले-बुरे का ज्ञान उत्पन्न करता है। गले-पचे, मरणोन्मुख नियमों का बहिष्कार करते समय वह अपने आलोचनात्मक एवं ध्वंसात्मक पक्ष को सम्मुख रखता है, क्योंकि नियमों और विचारों की संकीर्णता के कारण जो वैमनस्य और मानसिक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है उसके लिए आलोचनात्मक पक्ष उतना ही आवश्यक है जितना कि कैंसर (नासूर) के रोगों के लिए शल्य-चिकित्सा। व्यक्ति समाज एवं मानवता को अवनति के पक्ष से विमुख करने के लिए ही नीतिशास्त्र अपने नकारात्मक रूप द्वारा पथप्रदर्शन का काम करता है एवं आलोचना के द्वारा सुधार करता है, आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। अन्याय से न्याय की ओर, अनुचित से उचित की ओर ले जाकर पवित्र

और उपादेय नियमों का सृजन करता है। इस प्रकार वह अपने ध्वंसात्मक रूपमें भी सृजनात्मक और पुर्ननिर्माणात्मक है। यही नीतिशास्त्र की विशेषता है। जीवन को सुन्दरम् और शिवम् का रूप देना ही उसका ध्येय है।

उसका ध्येय वैयक्तिक नहीं, सर्वकल्याणकारी है—आधुनिक नीतिज्ञ यह मानते हैं कि व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। बिना समाज के व्यक्ति का अस्तित्व असम्भव है और बिना व्यक्ति के समाज का अस्तित्व शून्य है। विना सामाजिक पृष्ठभूमि के व्यक्ति के आचरण पर निर्णय देना भी निरुद्देश्य तथा मूल्यरहित है। नीतिशास्त्र मनुष्य के कर्मों के औचित्य का स्पष्टीकरण उसके सामाजिक प्राणी होने के कारण ही करता है। यदि सार्व-जनिक जीवन सत्य से परे एक ऐसे वैयक्तिक जीवन की कल्पना कर भी लें जिसका कि समाज से कोई सम्वन्ध न हो तो ऐसे व्यक्ति के आचरण पर नैतिक निर्णय देना कोई अर्थ नहीं रखेगा। व्यक्ति और समाज के अनन्य सम्वन्ध के कारण ही नीतिज्ञों ने यह सिद्ध कर दिया है कि सामाजिक सुख से विच्छिन्न व्यक्तिगत सुख और व्यक्तिगत सुख से विच्छिन्न सामाजिक सुख की धारणा भ्रमात्मक है। अतः जीवन का ध्येय केवल व्यक्ति अथवा केवल समाज का ही कल्याण नहीं है, यह सर्वकल्याणकारी है।

विवेक-सम्मत धर्म—धर्म और अधर्म, इन दो शब्दोंको, किसी-न-किसी रूप में बच्चा बोध होने के साथ ही सुनता है। धर्म साधारणतः किसी विशिष्ट सम्प्रदाय या रूढ़ि-रीति और औचित्य का सूचक है। एक ओर धर्म का विवेक सम्मत रूप मिलता है और दूसरी ओर रूढ़ि-जर्जर प्रचलित रूप। अपने विवेक सम्मत रूप में वह विश्व-प्रेम, ऐक्य और देवत्व का सन्देश देता है और अपने प्रचलित रूप में अन्धविश्वासों एवं संकीर्ण रूढ़ि-रीति-जनित कर्मों का। उदाहरणार्थ, भारत में जो छुआछूत, अस्पृश्यता, बाल-विवाह, वैधव्य आदि तथाकथित धार्मिक नियम मिलते हैं वे मनुष्य की विवेक-कुंठित प्रवृत्ति के सूचक हैं। वे उस अविकसित ह्रासोन्मुखी वौद्धिक स्थिति पर प्रकाश डालते हैं जो मध्ययुगीन पूर्वाग्रहों और अन्धविश्वासों से ग्रसित हैं। जनसाधारण चमत्कारवाद, जादू-टोना आदि इन्हीं अन्ध-रूढ़ि-रीतियों में विश्वास करता है क्योंकि

उसकी मानसिक स्थिति विकसित नहीं है। तर्कहीन और विवेकहीन धर्म केवल प्रचलित मान्यताओं, सामाजिक तथा धार्मिक कहे जानेवाले प्रचलनों का सूचक है। अथवा सामान्यतः धर्म को जिस रूप में लोग ग्रहण करते हैं वह केवल वाह्याडम्वर तथा संकीर्णता से भरे नियमों का ढाँचामात्र है। वे प्राचीन युगों के मनुष्यों की आवश्यकताओं और अभ्यासों को सूचित करते हैं। किन्तु विकास और परिवर्तन के कारण उन नियमों का मूल्य भी वदलता जाता है। वे वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते हैं। वे लाभप्रद होने के वदले हानिकारक हो जाते हैं। अविवेकी व्यक्ति इन प्रचलनों और अभ्यासों का पालन धर्म के नामपर करते हैं, अथवा पूर्वजों और ऋषि-मुनियों के ज्ञान की दुहाई देते हैं। आज की उन्नत भौतिक तथा मानसिक स्थिति इन प्राचीन प्रथाओं को अनैतिक सिद्ध कर सकती है। प्राचीन परिपाटियों का मूल्य उस समय के लिए है जिस समय की आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए उनका निर्माण हुआ। वे वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते हैं। वे वौद्धिक जिज्ञासा को सन्तोप नहीं दे सकते हैं। धार्मिक आदेशों के वीच विरोध भी मिलता है। अतएव नीतिशास्त्र तथाकथित धर्म को उसी रूपमें मान्यता नहीं देता। वह शुद्ध आचरण के मापदण्ड की खोज करता है; परमसत्य को समझना चाहता है। वह सत्य के मार्ग को ही धार्मिक (उचित, तर्कसम्मत और विवेक-सम्मत) मार्ग कहता है और धर्मको भी सत्यकी कसौटीपर कसता है। वौद्धिक विश्लेषण एवं प्रश्नसूचक दृष्टिकोण द्वारा धर्म-सम्वन्धी वाह्य विरोधोंके भीतर आन्तरिक एकताको खोजता है।

यदि धर्म से अभिप्राय उस ईश्वर-ज्ञानसे है जो समष्टि के कल्याणको महत्त्व देता है तो नीतिशास्त्र निस्सन्देह धार्मिक है। वह उदार-चित-वृति, सहिष्णुता, एकता और न्याय का पाठ पढ़ाता है; जनसाधारण के अव्यक्त नैतिक विश्वासों को वौद्धिक अन्तर्दृष्टि देता है; सदाचरणवाले व्यक्तियों को आत्मबल का अमोघ अस्त्र देता है और अधर्म, अनीति, अन्याय, अशुभ और अनौचित्य के विरुद्ध लड़ने को कहता है। वह समस्त मानव-जीवन का अध्ययन करके एकांगी तथा भ्रमपूर्ण विचारों से ऊपर मानवता की स्थापना करता है

और इस परिणाम पर पहुँचता है कि प्रेम, स्नेह, एकता और समानता का वहिष्कार करने वाला धर्म, धर्म नहीं है। वह भाग्य और थोथे धर्म की दुहाई देनेवाले पण्डितों को अधार्मिक कहता है। मंगलमय जीवन के हत्यारों को वह नैतिकता अथवा विवेक-सम्मत कर्तव्य की चुनौती देता है। फिर भी नीतिशास्त्र के अलोचक उसे अधार्मिक कहते हैं। इसका एकमात्र कारण यह है कि कर्मों के महत्त्व के बारेमें चिन्तन एवं विश्लेषण करना प्राचीन परम्परा की स्वाभाविक एवं सामान्य प्रवृत्ति नहीं थी। दार्शनिक जिज्ञासा से शून्य चिन्तनहीन प्रवृत्त के लोग अपनी सुप्त और आलसी प्रवृत्ति को जगाने के बदले नीतिशास्त्र के अलोचक बन जाते हैं और उसे अधार्मिक कहकर सन्तोष करते हैं। पर वास्तव में नीतिशास्त्र विवेक-सम्मत धर्म है।

वास्तविक और उपयोगी—आलोचकों का यह भी कहना है कि नीतिशास्त्र अवास्तविक है। जीवन सत्यसे परे होने के कारण वह तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक गुत्थियों को नहीं सुलझा सकता है। वह वास्तविक तथ्यों की खोज नहीं करता है। वर्तमान कर्तव्यों की रूपरेखा नहीं बनाता है। वह तात्कालिक को महत्त्व देने और उसकी चिन्ता करने के बदले उन नियमों की खोज करता है जो कि उसके अनुसार भविष्य में आने वाली आदर्श सामाजिक व्यवस्था के लिए आवश्यक हैं। उनके अनुसार उसकी नींव काल्पनिक होने के कारण उसकी उपयोगिता सन्दिग्ध है। ऐसी आलोचना के द्वारा ये आलोचकगण उसके मूल सिद्धान्त से अपनी अनभिज्ञता ही प्रकट करते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि नीतिशास्त्र आदर्श-विधायक विज्ञान है। किन्तु इसके यह अर्थ कदापि नहीं होते कि वह बच्चे के दिवास्वप्न की भाँति है। नीतिज्ञ कल्पना की उड़ान नहीं भरता, वह उस नैतिक आदर्श की खोज करता है जो जीवन के ठोस वास्तविक सत्य पर आधारित है। मानव-जीवन को सुखी और सुसंस्कृत बनाने के अभिप्राय से वह विभिन्न विज्ञानों और कलाओं का अध्ययन करता है; दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश करता है और मनुष्य तथा विश्व के बारे में सर्वांगीण ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही वह मानवीय गौरव से युक्त नियम अथवा नैतिक नियम बनाता है। इन नियमों का आवश्यकताओं एवं

देश, काल, परिस्थिति के साथ परिवर्तन होना अनिवार्य है । अतः परम्परानुगत नियमों का पालन करना मनुष्य के विकास एवं उन्नति के लिए हानिप्रद है । नीतिशास्त्र एक ऐसे मापदण्ड को प्राप्त करने का प्रयास करता है जिसके आधारपर जीवन के विरोध एवं विषमताएँ सुलझायी जा सकें ।

नीतिशास्त्र मनुष्य की बौद्धिक माँग—'शुभ क्या है'—का विज्ञान है । यह बतलाता है कि मानव-जीवन विभिन्न विरोधी इच्छाओं, भावनाओं, आवेगों, रागात्मक प्रवृत्तियों का कोलाहलपूर्ण विप्लवमात्र नहीं हैं । वह नियमबद्ध और संगतिपूर्ण है एवं उसकी अपनी सार्थकता है । जब विभिन्न कर्तव्यों के बीच संघर्ष होता है, अनेक इच्छाओं के कारण मानसिक द्वन्द्व पैदा होता है तब यह मनुष्य का मार्गदर्शक बनता है । जब मनुष्य किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है और नहीं समझ पाता कि वह किस मार्ग का अनुसरण करे, उसका अपने प्रति और समाजके प्रति क्या कर्तव्य हैं, इन कर्तव्यों के बीच कैसे सामंजस्य स्थापित किया जाय, तब उसे नैतिक अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता होती है । नैतिक ज्ञान ऐसे व्यक्ति के लिए एक दृढ़ अवलम्बन के समान है । यह उसे आत्मबल देता है । इस बल के सहारे ही वह प्रचलित मान्यताओं से ऊपर उठकर महान् कर्म करता है । यदि महापुरुषों की जीवनियों का अध्ययन किया जाय अथवा बुद्ध, ईसा और गान्धी के कार्य-क्षेत्र को समझने का प्रयास किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उनका एकमात्र सम्बल उनका नैतिक-बल अथवा आत्म-बल ही था । उसी के सहारे उन्होंने जीवन में अनिवर्चनीय सफलता प्राप्त की । साधारणतः व्यक्ति धर्मभीरु और समाजभीरु होता है । नरक के अथवा पड़ोसी के भय से वह जघन्य कर्म सहर्ष कर लेता है । उसका विवेक कुण्ठित हो जाता है । वह यन्त्रवत् नियमों का पालन करने लगता है । नियमों के औचित्य की ओर से वह उदासीन रहता है । उसकी अन्ध-नैतिक निष्ठा उससे अनेक अनैतिक कर्म करवाती है । वह न तो जीवनके मूल्य को समझने का प्रयास करता है और न नियमों का बौद्धिक रूप से विवेचन करता है । मनुष्यको ऐसी दयनीय और हीन स्थितिसे उबारनेका प्रयास करना ही नीतिशास्त्रका ध्येय है । यह मनुष्यको समझाता है कि वह स्वतन्त्र बौद्धिक

प्राणी है। अतः वह शिवत्वको प्राप्त कर सकता है। नीतिशास्त्र प्रत्येक व्यक्तिके आचरण को विवेक-सम्मत बनाना चाहता है, जनमत को बौद्धिक स्तरपर उठाना चाहता है ताकि प्रत्येक मानव-शिशु स्वच्छ और स्वस्थ वातावरण में साँस ले सके; व्यष्टि और समष्टि सुदृढ़, स्वावलम्वी और सुसंस्कृत बन सकें; राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह से ऊपर उठकर व्यक्ति विश्व का नागरिक बन सके।

कई आलोचकों का कहना है कि नीतिशास्त्र कोरा सिद्धान्त है। वह उपयोगितारहित और वास्तविकताशून्य है। उसका व्यावहारिक मूल्य नगण्य है। इस तथ्य को समझने के लिए मानव-इतिहास से उदाहरण लेना आवश्यक है। आदिमकालमें मनुष्य-जीवन सरल था। उसकी आवश्यकताएँ थोड़ी थीं। वह अपनी भौतिक और शारीरिक आवश्यकताओं—नींद, भूख, प्यास—के लिए ही सचेत था। किन्तु, आधुनिक विज्ञान के युग में पहुँचने तक उसका जीवन अत्यन्त जटिल और व्यापक हो गया है। उसकी आवश्यकताएं केवल उसके समुदाय, झुण्ड, परिवार तक ही सीमित नहीं हैं। उसे अब राष्ट्र और विश्व के रूप में भी सोचना पड़ता है। वह आज सम्पूर्ण विश्व पर अपनी भौतिक, मानसिक आवश्यकताओं के लिए निर्भर है। वह बौद्धिकरूप से अधिक सचेत और जागरूक हो गया है। वह सामूहिक तथा वैश्व मनोवृत्ति को समझना चाहता है। उसकी बौद्धिक जिज्ञासा किसी भी प्रवृत्ति, संस्कृति अथवा धर्म को बिना समझे स्वीकार नहीं करती है। उसे वैयक्तिक, सामाजिक अभ्यासों में जो असंगति मिलती है उसे वह दूर करना चाहता है। नये विचार तथा नयी आवश्यकताओंके प्रादुर्भावसे उसकी व्यावहारिक समस्याएँ बढ़ गयी हैं। इन समस्याओं का रूप अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। व्यक्ति का जीवन और अस्तित्व केवल उसके जाति-वर्गतक ही सीमित नहीं रह गया है, वह विश्व-जनीन हो गया है। उसके सम्मुख एक ओर तो व्यक्तिगत सुख-दुःख है और दूसरी ओर सम्पूर्ण मानवता का शुभ है, जिसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने कर्तव्यों की स्पष्ट रूपरेखा बनाये, व्यष्टि और समष्टिके सम्बन्धको समझे। कर्तव्य और अधिकार की क्या सीमाएँ हैं? उनके क्या अर्थ हैं? वह कौन से कर्म हैं जिनका मनुष्य के ऊपर सामाजिक ऋण है? जिन्हें उसे करना

ही है, आदि। ये आज के बौद्धिकरूप से सजग प्रत्येक व्यक्ति की समस्याएँ हैं, जिनका उसे स्वयं समाधान खोजना है और जिनके लिए वह आज भाग्य और धर्म की दुहाई देनेवाले पण्डितों के पास जाना व्यर्थ समझता है। वह आज जन-साधारण द्वारा स्वीकृत दैवी आदेश और ईश्वरीय नियमों के मूल की खोज करना चाहता है। चमत्कारवाद और जादू-टोने के भय से ऊपर उठ जाने के कारण वह नैतिक मान्यताओं की प्रामाणिकता जानना चाहता है। आज के मानव की चिन्तन-धारा प्राचीन मानव की विचारधारा से नितान्त भिन्न है। उसके जीवन में विश्वव्यापी परिवर्तन आ गया है। उसके दार्शनिक, साहित्यिक, कलात्मक तथा व्यावसायिक विचारों में आमूल क्रान्ति आ गई है। उसका जीवन विश्व-जीवन का अंग बन गया है। उसका सुख व्यक्ति तक अथवा किसी विशिष्ट समुदाय तक ही सीमित नहीं रह गया है। वह सम्पूर्ण मानवता के शुभ तथा सुख का आकांक्षी है। ज्ञात-अज्ञात रूप से उसके जीवन का ध्येय सर्वकल्याणकारी हो गया है। अतः सोलहवीं शताब्दी के जड़वादी नैतिक सुखवाद के प्रचारक हॉब्स के विरुद्ध आज कहा जा सकता है कि नैतिक दृष्टि से कर्तव्य का बाह्य भय अथवा बाध्यता के कारण पालन करना अनैतिक है। कांट का कथन कि 'कर्तव्य का आदेश अन्तःआरोपित आदेश है', आज के व्यक्ति के मन के अधिक निकट है।

नीतिशास्त्र कर्तव्य का पथ दिखाता है। कठिनाइयों को हल करके जीवनको सरल और सुन्दर बनाता है; कर्मों के वास्तविक मूल्य के सम्बन्ध में प्रकाश डाल-कर उनका पुनर्मूल्यीकरण करता है। वह प्रचलित नैतिकता के उन नियमों को समझने का प्रयास करता है जिनके कारण हमारे सामाजिक जीवन की प्रगति कुंठित हो गई है; उदाहरणार्थ, बाल-विवाह, बाल-वैधव्य, सती-प्रथा, अस्पृश्यता आदि। व्यक्ति में अपनी भी अनेक दुर्बलताएँ हैं। उसकी अधिकांश इच्छाएँ आत्म-विनाशक और आत्म-घातक होती हैं जिन्हें यथार्थ-रूप से समझकर उनका संयमन तथा उन्नयन करना उसके लिए आवश्यक है।

नीतिशास्त्र मनुष्य को बताता है कि नैतिक प्रगति में ही जीवन की सार्थकता है। जीवन के अर्थ एवं मूल्य को समझाने के कारण ही वह निर्देश करता है कि सुख और आनन्द में क्या भेद है। सुख और सद्गुण में क्या अन्तर है। आनन्द को

आचरण का परमलक्ष्य क्यों मानना चाहिये। नैतिक वाध्यता के क्या अर्थ हैं? वैयक्तिक और सामाजिक कर्तव्य की क्या सीमाएँ हैं? स्वेच्छाकृत कर्म अथवा संकल्प की स्वतंत्रता का मानव-जीवन में क्या महत्त्व है? कर्मों की संचालिका भावना है अथवा बुद्धि? सत्य बोलना, वचन-बद्ध होना, शपथ खाना—शुभ, उचित, अन्तर्बोध, कर्तव्य और अधिकार आदि शब्दों का, जिनका कि प्रतिदिन के जीवन में प्रयोग किया जाता है, क्या मूल्य है?

इन कठिनाइयों को हल करने के लिए नीतिशास्त्र उस मापदण्ड की खोज करता है जिसके आधार पर इन सब का सापेक्ष मूल्य निर्धारित किया जा सके। अतः नैतिक आदर्श की नींव वास्तविक जगत है। व्यावहारिक कठिनाइयाँ ही इसके मूल में हैं। नैतिक आदर्श वह आदर्श है जो कि मानवीय प्रयास और पुरुषार्थ से पृथ्वी पर स्थापित किया जा सकता है। नैतिक आदर्श लौकिक और ऐहिक आदर्श है। मनुष्य के जीवन का व्यावहारिक और क्रियात्मक पक्ष ही उसका जन्मदाता है। जीवन की प्रगति और सर्वांगीण उन्नति ही उसका ध्येय है। वह उन नियमों का खण्डन करता है जो उस पारस्परिक व्यवस्था की उन्नति के प्रतिकूल हैं जिसे सामाजिक जीवन कहते हैं। अनुकूल नियमों को समझने और कल्याणप्रद नियमों का सृजन करने में वह अमूर्त और दुरूह विज्ञान बन जाता है। किन्तु उसकी दुरूहता यह सिद्ध नहीं करती कि नीतिशास्त्र काल्पनिक सिद्धान्त मात्र अथवा बौद्धिक व्यायाम या शतरंज के खेल की भाँति है। वह दुरूह इसलिए है कि वह सम्पूर्ण मानवता का आलिंगन करता है। उसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वह इस अर्थ में भी दुरूह है कि उसे वैज्ञानिक सत्य की भाँति प्रयोग द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता और न उसे काली-पाटी पर लिखकर समझाया ही जा सकता है। साधारण बुद्धिवाले व्यक्ति वैज्ञानिक सत्य को समझ सकते हैं, किन्तु नैतिक सत्य को समझने के लिए सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है। दुरूह होने पर भी नीतिशास्त्र मानव-जीवन के लिए अनिवार्य और आवश्यक है। आधुनिक काल में इसका महत्त्व विशेष रूप से बढ़ गया है। आज के युग में जीवन इतना व्यापक और विविधांगी हो गया है कि मनुष्य को पग-पगपर आचरण के

मापदण्ड की आवश्यकता पड़ती है। वह आज वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा उस परम-सत्य की खोज करना चाहता है जिसके आधार पर वह अपने कर्मों को संचालित कर सके। समुचित नैतिक ज्ञान के बिना मनुष्य का जीवन अत्यन्त दुखद हो जाता है। वह कर्तव्यों के झंझावात में खो जाता है। त्रिशंकु की भाँति वह न तो पृथ्वी पर ही रह पाता है और न स्वर्ग में ही। नीतिशास्त्र पृथ्वी और स्वर्ग, वास्तविक जीवन और आदर्श जीवन में सामंजस्य स्थापित करके मनुष्य को अशोभन से शोभन की ओर, अशिव से शिव की ओर एवं अमानुषिकता से मानुषिकता अथवा मनुष्यत्व की ओर ले जाता है।

२

नीतिशास्त्र और विज्ञान

विज्ञान का अर्थ—किसी भी विशिष्ट विषय को सुसम्बद्ध बौद्धिक प्रणाली द्वारा समझना, उसके बारे में व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त करना, विज्ञान का काम है। निर्णयों को विवेक की कसौटी पर कसकर एक सुसंगठित विचार-प्रणाली में बद्ध करना, सामान्यतः, समस्त विज्ञानों का ध्येय है। अधिकतर सामान्य निर्णयों में असंगति और विरोध रहता है। विज्ञान इस विरोध और असंगति को दूर करके एक विशिष्ट विचार पद्धति देता है। उसका सम्बन्ध अधिकतर अनुभवों की अभिन्न-रूपता एवं समानता से रहता है। वह वस्तुविशेष का ज्ञान देता है और बताता है कि बाह्य-जगत की घटनाएँ कैसे घटित होती हैं; वस्तुओं का अस्तित्व कैसे सम्भव है। उसके वस्तु-विषय कुछ अनिवार्य सत्य हैं। वह वस्तुओं तथा घटनाओं के कार्य-कारण-सम्बन्ध को समझने का प्रयास करता है और उसके आधार पर सामान्य नियमों का प्रतिपादन करता है। कार्य-कारण के नियमों को समझकर अथवा वस्तुओं के परस्पर अनिवार्य सम्बन्ध को समझने के पश्चात् वह नये परिणामों का निगमन करता है। विज्ञान की पूर्णता इसी पर निर्भर है कि वह ज्ञात कारणों के नियमों के आधार पर विशेष परिणामों के बारे में निश्चयपूर्वक कह सके।

विज्ञान : दो वर्ग—वैज्ञानिक विषयों को दो श्रेणियों या वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक ओर वे विषय हैं जो वर्णनात्मक या प्राकृतिक विज्ञान (Descriptive or Natural Science) के अन्तर्गत आते हैं और दूसरी ओर वे विषय, जो आदर्श विधायक या नियामक विज्ञान (Normative or Regulative Science) के अन्तर्गत आते हैं। दोनों प्रकार के विज्ञान

व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। किन्तु दोनों के लक्ष्य और निर्णयों में भेद है। यथार्थविज्ञान (पदार्थविज्ञान), मनोविज्ञान, वनस्पतिशास्त्र और जीवशास्त्र आदि वस्तुविषयक ज्ञान देते हैं। इसके अन्तर्गत वे सभी विज्ञान आते हैं जो प्रकृति के बारे में बताते हैं तथा मनुष्य को एक प्राणी के रूप में मानते हैं। पदार्थविज्ञान का सम्बन्ध अनुभव के एक विशिष्ट अंग से है। उसके विषय यथार्थ और तथ्यात्मक होते हैं। वह यथार्थ और दृश्यमान जगत के नियमों का अनुसन्धान करता है; अपरिवर्तनशील प्राकृतिक नियमों को समझाता है। सामान्य नियमों का ज्ञान प्राप्त कर इन नियमों के आधार पर भावी परिणामों के बारे में निश्चयात्मक रूप से कह सकता है। पदार्थ एवं असन्दिग्ध विज्ञान का ध्येय किसी आदर्श को निर्धारित करना नहीं है। वह घटनाओं और वस्तुओं का मूल्यांकन नहीं करता वरन् उन नियमों की खोज करता है जिनके आधार पर वस्तुओं के अस्तित्व पर अथवा घटनाओं के घटित होने पर प्रकाश डाला जा सके, उन्हें समझाया जा सके।

इसके विपरीत आदर्शविधायक विज्ञान उस मापदण्ड अथवा आदर्श की खोज करता है जिसके आधार पर विचार, भावना तथा कर्म के गुण का मूल्यांकन किया जा सके। वह मूल्य के मापदण्ड की खोज करता है; मानव-जीवन के मूल्य का निर्धारण करता है। यहाँ पर यह जान लेना उचित होगा कि मानव-अनुभूति की तीन सर्वोच्च मान्यताएँ हैं : सत्य, शिव और सुन्दर। यह कुछ अंशों तक मनश्चेतना के तीन स्वरूपों—ज्ञानात्मक, क्रियात्मक तथा रागात्मक से सादृश्य रखते हैं। अतः आदर्शविधायक विज्ञान के अन्तर्गत तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र आते हैं। ये तीनों एक ही परिवार के हैं। तीनों ही उन मापदण्डों की खोज करते हैं जिनके आधार पर विचार, आचार और सौन्दर्य का मूल्यांकन किया जाता है। तर्कशास्त्र सत्य और असत्य के निर्णय का विज्ञान है। वह सत्य-विचार के मापदण्ड को निर्धारित करता है; तर्क के सिद्धान्तों का निरूपण करता है। नीतिशास्त्र आचरण का विश्लेषण करके उसके शुभाशुभ के बारे में निर्णय देता है। परमध्येय के स्वरूप को निर्धारित करने के पश्चात् वह सिद्ध करता है कि कौन-से कर्म परमध्येय की प्राप्ति में सहायक हैं।

वह उस मापदण्ड की खोज करता है जिसके आधार पर उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ के निर्णयों का समाधान कर सकते हैं। नीतिशास्त्र मानव-शुभ का विज्ञान है। इसी प्रकार सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य और असौन्दर्य के निर्णय का विज्ञान है। यह सौन्दर्य की कसौटी प्रस्तुत कर सौन्दर्य का निर्माण और मूल्यांकन करने के लिए मापदण्ड देता है। अतः आदर्श-विधायक विज्ञानों का सम्बन्ध आदर्श के मापदण्ड से है, तथ्यात्मक जगत एवं वस्तुविशेष से इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है।

नीतिशास्त्र एवं नीतिविज्ञान—विज्ञान सूक्ष्म निरीक्षण, विश्लेषण, वर्गीकरण, अनुमान और प्रयोग द्वारा वस्तुओं का व्यापक ज्ञान प्राप्त करता है और तदनुसार सामान्य नियमों का प्रतिपादन करता है। वह सामान्य नियमों के आधार पर घटनाओं और वस्तुओं की व्याख्या तथा स्पष्टीकरण करता है। विज्ञान के अनुसार किन्हीं विशेष कारणों से किन्हीं विशेष घटनाओं का जन्म अवश्य होता है। उसकी दृष्टि में विश्व में सभी वस्तुएँ और घटनाएँ कार्य-कारण-भाव से परस्पर सम्बद्ध तथा अवलम्बित हैं। किसी वस्तु के बारे में पूर्ण रूप से तभी समझा जा सकता है जब कि उसके परिवेश से सम्बन्ध रखनेवाले अन्योन्याश्रित भाव अथवा परिस्थितियों से सम्बद्ध कार्य-कारण-भाव को पूर्णतया ग्रहण कर लिया जाय। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि अमुक घटनाओं या कारणों के क्रम से अमुक वस्तु संगठित होती है। अपने व्यापक अर्थ में विज्ञान वह बौद्धिक प्रणाली है जिसके द्वारा बाह्य-जगत का व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त होता है। इस अर्थ में नीतिशास्त्र को चरित्र और आचरण का विज्ञान अथवा नीतिविज्ञान कह सकते हैं। नीतिशास्त्र परमशुभ को समझने का एक क्रमबद्ध प्रयास है। वह वैज्ञानिक दृष्टि-बिंदु से वैयक्तिक, राष्ट्रीय अभ्यासों, सामाजिक, धार्मिक नियमों तथा चारित्रिक नैतिक सिद्धान्तों का निरीक्षण और विश्लेषण द्वारा अध्ययन करता है। वह नैतिक नियमों को समसामयिक परिस्थितियों अथवा देशकाल की आवश्यकता के आधार पर समझाता है। नीतिशास्त्र नैतिक नियमों के सापेक्ष महत्त्व को स्वीकार करता है। वह नैतिक नियमों को, समय-विशेष के सामाजिक ऐक्य का अनिवार्य परिणाम मानता है। विज्ञान की भाँति

वह नैतिक नियमों को अपने अस्तित्व के लिए परिस्थिति और परिवेश पर अन्योन्याश्रित भाव से अवलम्बित मानता है। विशिष्ट कारणों से ही नैतिक नियमों का प्रादुर्भाव होता है। अतः उन्हें सामाजिक परिस्थितियों से विच्छिन्न एक-दूसरे से असम्बद्ध सत्य के रूप में नहीं देखा जा सकता। वास्तव में उनका मानव-समाज के संगठन से सजीव सम्बन्ध होता है और इस सम्बन्ध के कारण ही वह परस्पर सम्बद्ध हैं।

नीतिशास्त्र और यथार्थ विज्ञान में स्पष्ट भेद—नीतिशास्त्र को विज्ञान की परिभाषा द्वारा वहीं तक सीमित कर सकते हैं जहाँ तक कि दोनों वैज्ञानिक प्रणाली का आश्रय लेकर अपने निर्णयों को सत्य अथवा यथार्थ की कसौटी पर कसने का प्रयास करते हैं। इसके आगे दोनों के लक्ष्य और क्षेत्र में भिन्नता है। नीतिशास्त्र की प्रणाली वैज्ञानिक होते हुए भी दार्शनिक तथ्यों पर[1] आधारित है। यथार्थ अथवा असन्दिग्ध विज्ञान बाह्य-जगत की घटनाओं का सम्यक् पर्यवेक्षण करता है। उसका ध्येय वस्तुओं और घटनाओं—मानसिक तथा भौतिक की तथ्यात्मक व्याख्या करना है। नीतिशास्त्र मान्यतामूलक है। उसके निर्णय का लक्ष्य मनुष्य का आचरण है।

यथार्थ विज्ञान का सम्बन्ध जड़-जगत से है अथवा उन मानसिक घटनाओं से जिनकी कि प्राकृतिक रूप से व्याख्या की जा सकती है। वह मनुष्य और जड़-जगत के व्यापारों का उनके स्वाभाविक रूप में वर्णन करता है। जड़-जगत की घटनाएँ चेतनाशून्य होती हैं, उनकी यान्त्रिक गति होती है। वे स्थिर प्राकृतिक नियमों द्वारा संचालित होती हैं। अतः यथार्थ विज्ञान जड़-जगत के व्यापारों के अस्तित्व, उत्पत्ति और विकास के बारे में निश्चित रूप से सामान्य नियमों का प्रतिपादन कर सकता है। नीतिशास्त्र मनुष्य के कर्मों और उनकी मूल प्रवृत्तियों की खोज करता है। संकल्प और आचरण की मूल प्रेरक शक्तियों की उन्नति, गति एवं व्यवहार की प्रगति को समझने का प्रयास करता है और समयानुकूल आचरण को नियमित करने के लिए सापेक्ष नियमों का प्रतिपादन करता है। किन्तु यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि मानव-व्यवहार की उत्पत्ति और विकास तक

---

१. देखिये—भाग १, अध्याय ३।

ही यह अपने को सीमित नहीं रखता है। वह नियामक विज्ञान है। उसका परम-लक्ष्य निःश्रेयस को समझना है। वह गौण रूप से ही कालक्रम में घटित होनेवाले आचरण को नियन्त्रित करने के लिए नियमों का प्रतिपादन करता है अथवा आचरण के उत्पत्ति-विषयक शास्त्र का अध्ययन करता है। यथार्थ विज्ञान आसन्न घटनाओं के बारे में निश्चयपूर्वक[1] कह सकता है। भौतिक घटनाएँ विशिष्ट परिस्थितियों के संयोग का अनिवार्य परिणाम हैं। किन्तु नीतिशास्त्र आचरण के बारे में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कह सकता। वह प्रत्यक्ष और ज्ञेय शक्तियों का परिणाम नहीं है। उसका मूल घटनाओं से अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। वह कार्य-कारण के नियम द्वारा नहीं समझाया जा सकता। उसके बारे में पूर्वविचार करना अत्यन्त कठिन है।

संकल्प की स्वतन्त्रता—संकल्प की स्वतन्त्रता नीतिशास्त्र की एक आवश्यक मान्यता है। यह इस सत्य पर आधारित है कि मनुष्य का आचरण—उसके द्वारा किसी कर्म का होना, न होना—उसकी स्वतन्त्र प्रेरणाशक्ति पर निर्भर है। मनोविज्ञान सिद्ध कर चुका है कि मनुष्य का स्वभाव चंचल और दोलायमान है। प्रबल से प्रबल व्यक्तित्व के आचरण के बारे में भी मिश्रित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। यथार्थ विज्ञान मनुष्य को प्रकृति का अंग मानता है, जिनका सम्बन्ध आंगिक है। नीतिशास्त्र के अनुसार मनुष्य आत्म-चेतन प्राणी है। वह इस सम्बन्ध में विशेषरूप से सचेत है क्योंकि मनुष्य को अनेक सम्भावित शक्तियाँ हैं। प्राकृतिक नियमों का यन्त्रवत् पालन करना तो दूर रहा, वह अपनी इन विशेष शक्तियों के बल पर प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है। अतः एक ओर तो प्राकृतिक घटनाएँ अनिवार्य प्राकृतिक नियमों द्वारा संचालित होती हैं और दूसरी ओर मनुष्य के आत्म-प्रबुद्ध प्राणी होने के कारण वे उससे नियन्त्रित

---

१. यदि कोई कहे कि मनुष्य का ज्ञान सीमित है और इस कारण विज्ञान के अनुसन्धान शत-प्रतिशत सत्य नहीं हो सकते हैं तो यह भी कहा जा सकता है कि यदि विज्ञान निन्यानवे प्रतिशत घटनाओं के बारे में निश्चयात्मक रूप से कह सकता है तो नीतिशास्त्र मानव आचरण के बारे में केवल एक प्रतिशत कह सकता है और वह भी अनिश्चित रूप से।

भी होती हैं। मनुष्य का आचरण उसकी आदर्श मन:स्थिति एवं सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर निर्भर है। वह अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। उसके आचार के औचित्य-अनौचित्य पर विचार किया जा सकता है।

यथार्थ विज्ञान का सम्बन्ध देशकाल में घटित होनेवाली घटनाओं से है फलतः उसकी प्रस्तावनाएँ व्याख्यात्मक होती हैं। 'पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है', यह स्थापना एक विशिष्ट घटना के बारे में बताती है। नीतिशास्त्र इससे एक पग आगे बढ़ता है। उसकी स्थापनाएँ न्यायसम्मत होती हैं। उसका सम्बन्ध उन घटनाओं से नहीं है जो देश-काल या भूत-वर्तमान में घटित होती हैं अथवा जिनका सम्बन्ध पूर्वापर कार्य-कारण भाव से है। दूसरे शब्दों में नीतिशास्त्र का सम्बन्ध चरित्र के उस पक्ष से नहीं है जो कि कालक्रम में होनेवाला एक व्यापार है। वह चेतन व्यापारों के औचित्य-अनौचित्य का अध्ययन करता है। यथार्थ विज्ञान का सम्बन्ध केवल वस्तुओं के अस्तित्व और उनके बोध से है। यथार्थ में 'क्या है', वह इसका निर्णय करता है। नीतिशास्त्र का सम्बन्ध आदर्श से है, 'क्या होना चाहिये' से है। उसके निर्णय नियामक एवं मान्यतामूलक हैं। वे वर्णनात्मक नहीं, आलोचनात्मक हैं। इसको यह कहकर और भी स्पष्ट कर सकते हैं कि नीतिशास्त्र बुद्धि की सहायता से उस सार्वभौम मापदण्ड की खोज करता है जिसके आधार पर तथ्यों का मूल्यांकन किया जाता है और इसके विपरीत बौद्धिक रूप से उस सार्वभौम नियम या विश्व-व्यवस्था का अनुसन्धान करता है जिसके आधार-पर विश्व के तथ्यों और घटनाओं की संगतिपूर्ण व्याख्या एवं स्पष्टीकरण किया जा सकता है। भौतिक विज्ञान उस वास्तविक विधान या बौद्धिक नियमों का अन्वेपण करता है जिसके द्वारा घटनाएँ संचालित होती हैं, जो उन्हें संगति और एकता देते हैं। नीतिशास्त्र इस ज्ञेय-व्यवस्था से परे उस परमआदर्श को खोजता है जिसके द्वारा विश्व-विधान तथा विश्व-व्यापारों का मूल्यांकन किया जा सकता है। यथार्थ विज्ञान का घटनाओं से वहीं तक सम्बन्ध है जहाँ तक वह उनके घटित होने को समझा सकता है, उनकी गणना कर सकता है। नीतिशास्त्र इस भौतिक व्यवस्था से परे उस नैतिक व्यवस्था की खोज करता है जो मानव-जीवन को महान् बना सकती है और यहाँ पर वह मानव-कल्याण का विज्ञान बन

जाता है। उसका निःश्रेयस से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। मानव-जीवन की प्रगति और उसका अधिकाधिक कल्याण उसका चरमध्येय है। वह विज्ञान की शक्ति से ध्वंसात्मक और स्वभावतः लोभी मानव को कल्याण के पथ पर अग्रसर कर उसे लोक-मंगल का विधायक बननेके लिए प्रेरित करता है।

तत्त्वदर्शन से सामीप्य—मानव के परमकल्याण की खोज करने के कारण नीतिशास्त्र तत्त्वदर्शन के अत्यधिक निकट आ जाता है। वह अपने आदर्श के लिए विज्ञान पर इतना अधिक निर्भर नहीं है। उसे हम केवल विज्ञान के व्यापक अर्थ में ही विज्ञान कह सकते हैं। विज्ञान का सम्बन्ध अनुभव के विशिष्ट अंग से है। यह सापेक्ष ज्ञान की खोज कर विशेष दृष्टिकोण से अनुभव का अध्ययन करता है। नक्षत्र-विद्या और पदार्थ-विद्या का महत्त्व उन्हीं के लिए है जो इन विद्याओं के बारे में अपनी जिज्ञासा का समाधान अथवा किसी विशिष्ट तथ्य का प्रतिपादन करना चाहते हैं। विज्ञान कुछ आवश्यक मान्यताओं के आधार पर ही अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन कर सकता है। अतः प्राकृतिक विज्ञान अधिकतर तत्त्वदर्शन से स्वतन्त्र रहते हैं। किन्तु नीतिशास्त्र का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह अपने आदर्श का स्वरूप भी तत्त्वदर्शन के अनुरूप निर्धारित करता है। नीतिशास्त्र का सम्बन्ध जीवन के क्रियात्मक पक्ष से है। उसके लिए जीवन का प्रत्येक क्षण महत्त्वपूर्ण और अर्थगर्भित है। वह उस परमसत्य के स्वरूप को निर्धारित करना चाहता है जिसका सार्वभौम और निरपेक्ष गुण सर्वमान्य हो अथवा जिसका सब देशों और सब कालों में एक ही स्वरूप हो। ऐसे निरपेक्ष आदर्श की स्थापना वह तत्त्वदर्शन की सहायता से ही कर सकता है। नीतिशास्त्र यह भी मानता है कि मनुष्य का अपने भौतिक और सामाजिक वातावरण से चेतन सम्बन्ध है। इसलिए वह जानना चाहता है कि मनुष्य की विश्व में क्या स्थिति और स्थान है। उसका दूसरों से क्या सम्बन्ध है और वह किस प्रकार अपने स्थिति-ज्ञान के अनुरूप कर्म करता है। यहाँ पर पुनः नीतिशास्त्र का तत्त्वदर्शन से अनन्य सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। तत्त्वदर्शन उसे बताता है कि मनुष्य केवल अपने सीमित परिवार या राष्ट्र का ही नागरिक नहीं है, वह समस्त मानव-समाज—'वसुधैव कुटुम्बकम्'—का भी अविच्छिन्न अंग है। उसका

विश्व से आत्मीय सम्बन्ध है, और इस सत्य के आधार पर नीतिशास्त्र मनुष्य के जीवन का ध्येय सार्वभौम तथा सर्वकल्याणकारी बताता है। तत्त्वदर्शन के निष्कर्ष नीतिशास्त्र को जिस रूप में प्रभावित करते हैं उस रूप में वे वैज्ञानिक जगत में अनिवार्य रूप से ऊहापोह नहीं मचा सकते हैं। नीतिशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायगा कि किसी भी नीतिज्ञ का नैतिक ज्ञान उसके तत्त्व-दर्शन के उस पक्ष से पूर्ण गम्भीर रूप से प्रभावित होता है जो कि उसके दृष्टिकोण को शासित करता है। नीतिज्ञों ने नैतिक प्रश्नों का उत्तर अपनी विश्व-विधान की धारणा के अनुरूप ही दिया है। भौतिकवादियों ने केवल वैयक्तिक ऐहिक सुख को ही जीवन का ध्येय बताया है किन्तु अध्यात्मवादियों ने समस्त विश्व के कल्याण को महत्त्व दिया है। इस प्रकार नीतिशास्त्र कर्मों का मूल्यीकरण करने के लिए, आचार के औचित्य-अनौचित्य को निर्धारित करने के लिए तत्त्वदर्शन के अत्यधिक समीप आता है। इसीलिए अनेक विचारकों ने इसे नैतिक-दर्शन या आचार-व्यवहार का दर्शन भी कहा है।

नैतिक अभिधारणाएँ, संकल्प-स्वातंत्र्य, आत्मा की अमरता, ईश्वर का अस्तित्व—संकल्प की स्वतंत्रता[1] नीतिशास्त्र की वह अनिवार्य आवश्यकता है जिसके बिना नैतिक आचरण संभव ही नहीं है। 'नैतिक चाहिए' का अर्थ ही यह है कि हम उस आचरण को करने की क्षमता रखते हैं जो उचित एवं नैतिक है। संकल्प स्वातंत्र्य, नैतिक अर्थ में, उस आचरण का सूचक नहीं है जो प्रेरणारहित है, अथवा जो यों ही, आवेगों के वशीभूत होकर किया जाता है या बिना सोचे-समझे किया जाता है वरन् उस आचरण का जिसे भली-भाँति सोच-समझकर सचेत भाव से किसी निर्दिष्ट लक्ष्य एवं मूल्य की प्राप्ति और संरक्षण के लिए किया जाता है।

इसी भाँति आत्मा की अमरता और ईश्वर का अस्तित्व भी नैतिक जीवन की अनिवार्य मान्यताएँ हैं। नैतिक प्रयासों एवं आचरण के लिए मानव जीवन के नैरंतर्य की धारणा हमें बल प्रदान करती है। यदि यह मान लें कि

---

१. देखिए—पृ० २३ तथा अध्याय ७।

क्षणभंगुर है, कल क्या होगा हम नहीं जानते, एवं भविष्य अनिश्चित और अज्ञेय है तथा इस जीवन के साथ ही आत्मा का विनाश हो जाएगा तो मनुष्य का नैतिक मूल्यों से विश्वास हट जाएगा और वह उस आचरण को अपना लेगा जो स्वार्थी, सुखवादी एवं असामाजिक है, जो मानवता—व्यक्ति तथा समाज—दोनों के लिए ही घातक है।[1] आत्मा की अमरता पर विश्वास रख मनुष्य उस भावी जगत की कल्पना करता है जहाँ उसका नैतिक आचरण शुभ और मंगल का प्रतीक होगा। भावी एवं नैतिक विश्व में, कांट के अनुसार नैतिकता अथवा शुभाचरण और आनंद एक-दूसरे से संबद्ध होंगे। अतः आत्मा की अमरता, उसकी अविच्छिन्नता, शुभ आचरण के लिए प्रेरणादायक है। यदि आत्मा के अस्तित्व का इसी जीवन के साथ पर्यवसान मान लें अथवा आत्मा की क्षणभंगुरता की धारणा को स्वीकार कर लें तो उसका स्पष्ट परिणाम भोगवादी अथवा चार्वाक और स्थूल सुखवादी दृष्टिकोण होगा जो व्यक्ति और समाज के जीवन के लिए विनाशकारी है।

जिस भाँति भविष्य जीवन नैतिकता की एक आवश्यक शर्त है उसी भाँति ईश्वर का अस्तित्व भी है।[2] नैतिक ज्ञान उस सत्ता की अपेक्षा रखता है जो पूर्ण, सर्वज्ञाता, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी है एवं जो नैतिकता और प्रकृति का संरक्षक तथा न्याय और औचित्य का रक्षक है। ऐसी सत्ता की धारणा नैतिकता का वह महान् आधार और संबल है जो नैतिक व्यक्ति को विषम से विषमतर स्थिति में अडिग रखता है। विश्व एक सुनियोजित सोद्देश्य समग्रता है और इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह शुभ की प्राप्ति के लिए प्रयास करे, शुभ की प्राप्ति में भगवान सहायक होंगे क्योंकि वह शुभत्व का प्रतीक है।

आचरण-कला की सम्भावना—कुछ विचारक नीतिशास्त्र को आचरण-कला कहते हैं, किन्तु उसे आचारविज्ञान ही कहना उचित है। यथार्थ विज्ञान से अन्तर होने पर भी उसकी प्रणाली के कारण उसे विज्ञान ही कहना चाहिए।

---

१. देखिए— सुखवाद, तथा अध्याय २१ (चार्वाक दर्शन)।

२. देखिए—अध्याय ४ के अन्तर्गत 'ईश्वर विधा'।

जहाँ तक कला-निबन्धों का प्रश्न है उनका प्रयोग उस सुव्यवस्थित व्यक्त ज्ञान के लिए होता है जो ज्ञात सत्य को व्यवहार में लाता है। कला का उद्देश्य उस विशिष्ट फल की उपलब्धि से है जिसे वह व्यक्त करती है। वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उचित साधनों की ओर ध्यान आकृष्ट करती है। नीति इस अर्थ में कला नहीं है। किसी प्रयोजन की सिद्धि इसका ध्येय नहीं है। नैतिकता के पीछे कोई ऐसा महान् उद्देश्य छिपा हुआ नहीं है जो मनुष्यों के आचरण को अप्रत्यक्ष रूप में नियन्त्रित करता है। नीतिज्ञ नैतिक आचरण को अपने में ही पूर्ण मानते हैं। कर्म अपने आप में साध्य हैं। कर्म, कर्म के लिए हैं। वह स्वतः वांछनीय है, किसी महत् उद्देश्य की योजना का अंग नहीं है। नैतिक कर्मों को उनके आभ्यन्तरिक गुणों के कारण स्वीकार करते हैं। उनका उद्देश्य किसी निश्चित फल का उत्पादन करना नहीं है। वह कला का उद्देश्य है। यदि कला लक्ष्य की पूर्ति की अपेक्षा रखती है तो नैतिकता आन्तरिक ध्येय की। कला की सफलता परिणाम पर एवं लक्ष्य की पूर्ति पर निर्भर है, चित्रकार के भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति पर। उसके लिए अपने भावों को व्यक्त करना आवश्यक है। किन्तु नैतिक कर्म की सफलता परिणाम पर निर्भर नहीं है, वह उसके आन्तरिक गुण पर निर्भर है। अतः नीतिज्ञ कहते हैं—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' सदाचारी का एकमात्र कर्तव्य शुभ कर्म करना है, उसे फल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। असफलता पाने पर अथवा बुरी परिस्थिति में पड़ जाने पर भी वह सदैव अपने शुभाचरण द्वारा मणि-दीप के समान ज्योतित् रहेगा।

व्यावहारिक दर्शन—कई विचारक सिद्धान्त और व्यवहार के बीच स्पष्ट भेद मानते हैं। इसी कारण एक ओर वे नीतिज्ञ मिलते हैं जो नीतिशास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान मानते हैं और दूसरी ओर वे जो उसे सैद्धान्तिक विज्ञान मानते हैं। किन्तु नीतिशास्त्र न तो मात्र व्यावहारिक है और न मात्र सैद्धान्तिक ही। वह व्यावहारिक होने के नाते ही सैद्धान्तिक है। इस तथ्य को समझने के लिए विज्ञान से उदाहरण लेना उचित होगा। प्रचलित धारणा के अनुसार विज्ञान केवल सैद्धान्तिक है। इस भ्रान्त धारणा के मूल में यह अभ्यास

है कि लोग प्राकृतिक विज्ञानों को सत्य की उन बँधी हुई पद्धतियों के रूप में देखते हैं जो केवल पुस्तकों में पढ़ने को मिलती हैं, और जो बौद्धिक अभ्यासों के लिए साधन-स्वरूप तथा लाभप्रद हैं। इतिहास बताता है कि विज्ञान के प्रारम्भ काल में उसके लिए केवल सैद्धान्तिक ही जिज्ञासा नहीं थी। मनुष्य की प्राकृतिक नियमों में स्वाभाविक रुचि होने के कारण वह अपने प्रयोजन की पूर्ति के लिए ही प्राकृतिक घटनाओं का कारण जानना चाहता था। उसकी भौतिक आवश्यकताओं ने उसे अनजाने में ही वैज्ञानिक बना दिया। वाह्य-जगत के नियमों को समझने के लिए उसने उनका अनुशीलन किया। वैज्ञानिक चिन्तन तथा सिद्धान्त उसके प्रयोजन के ही प्रतिबिम्ब हैं। दीर्घकाल के पश्चात् उसमें उस 'तटस्थ जिज्ञासा' का प्रादुर्भाव हुआ जो महान् वैज्ञानिक आविष्कारों की जननी है। इसी प्रकार नीतिशास्त्र के क्षेत्र में भी व्यावहारिक आवश्यकताएँ ही नैतिक सिद्धान्त के प्रादुर्भाव का कारण हैं। आवश्यकताओं द्वारा प्रेरित होने के कारण मनुष्य अपने जीवन और विचारों पर मनन करता है। वह सहज प्रेरणावश प्रचलित नियमों, संस्थाओं आदि का या तो अनुमोदन करता है, और या तो विरोध। धीरे-धीरे उसकी वुद्धि के विकास के साथ ही औचित्य-अनौचित्य के नैतिक नियम बौद्धिक, तर्कसंगत तथा सार्वभौमिक रूप धारण कर लेते हैं। इस रूप में वे अधिक लोगों को आकर्षित करते हैं और नियमबद्ध होने के कारण मानव की बौद्धिक माँग-नियम—प्रियता को सन्तुष्ट करते हैं। साथ ही दैनंदिन के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण नैतिक निष्कर्ष तात्कालिक और सार्वभौमिक अभिरुचि के होते हैं।

सिद्धान्त और व्यवहार का एक्य—नैतिकता का इतिहास यह भली-भाँति सिद्ध कर देता है कि व्यवहार और सिद्धान्त एक ही सत्य के दो रूप हैं नैतिक सिद्धान्त मूर्त सत्य (व्यावहारिक आवश्यकताओं) के ही अमूर्त रूप हैं। नैतिकता अपनी प्रथम स्थिति में सहजप्रवृत्ति, रूढ़ि और आदेश के रूप में प्रस्फुटित हुई, और बाद में इसके प्रति व्यक्ति अधिकाधिक सचेत होता गया। जीवन की बढ़ती हुई अव्यवस्था ने उसे संगति और विधान खोजने को प्रेरित किया। अतः प्रवृत्तियों के विरोध ने तथा वाह्य शक्तियों की क्रान्ति ने मनुष्य के

नैतिक ज्ञान को चेतावनी देते हुए जाग्रत किया। वह प्रबुद्ध एवं प्रौढ़ चिन्तन करने लगा। नैतिक ज्ञानी ने आत्मानं विद्धि—आत्मा को जानने का उद्घोष किया। आत्मा के सत्यस्वरूप का ज्ञान ही वास्तव में आचरण-पथ का निर्देशन करता है। नैतिक संहिताओं में जो परस्पर विरोध, द्वेष, क्रोध, वैमनस्यता आदि मिलते हैं आत्म-सत्य उन सब को समन्वित कर मानव-बुद्धि को शुद्ध तथा मुक्त करता है। वह जीवन की केवल इच्छाओं, सहजप्रवृत्तियों, आवेगों, वासनाओं तथा परिस्थितिजन्य संघर्षों के बीच नहीं बहने देता है। मानसिक विप्लव की स्थिति में नैतिक-ज्ञान शक्ति बनकर मनुष्य की रक्षा करता है।

जीवन की ठोस व्यावहारिक आवश्यकताएँ नैतिक मापदण्ड को खोजती हैं। वे उस मापदण्ड को निर्धारित करना चाहती हैं जो वास्तव में शुभ तथा सार्वभौमिक है। यह व्यावहारिक से सैद्धान्तिक स्थिति परिवर्तन का लक्षण है। मनुष्य जानना चाहता है कि जीवन किस सत्य पर आधृत है—वह सत्य व्यवस्थित तथा सन्तुलित है, अथवा अव्यवस्थित तथा संगतिहीन। जीवन का मूलतः क्या अर्थ है, और वह क्यों रहने योग्य है। यह स्वीकार करना उचित होगा कि प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतः कर्मशील है और उसी के अनिवार्य परिणाम-स्वरूप वह नैतिक है। जनसाधारण का चिन्तन अधिकतर अव्यवस्थित, अस्पष्ट और विरल होता है। स्पष्ट और पूर्ण आचरण का सिद्धान्त दीर्घ-प्रयास का फल है। गूढ़ नैतिक सिद्धान्त को तटस्थ जिज्ञासु ही जन्म दे सकता है—अथवा वह व्यक्ति जो आवश्यकताओं और विरोधों से ऊपर उठकर जीवन को उसकी पूर्णता में देखने का प्रयास करता है। नैतिक ज्ञान द्वारा वह सत्य को केवल बौद्धिक रूप से ग्रहण ही नहीं करता, वह उससे अपने आचरण का भी उन्नयन कर सत्य को भी आत्मसात् करता है। इस तथ्य को लक्षित करते हुए एक महान् विचारक ने कहा है कि नीतिज्ञ का चिरस्थायी अनुराग सैद्धान्तिक और व्यावहारिक है। यूनानी नीतिज्ञ, सुकरात की भाषा में 'ज्ञान सद्गुण है', सत्य का ज्ञाता अनिवार्य रूप से सत्य का मार्ग ग्रहण करेगा। बुद्ध ने भी प्रज्ञा और शील के एक्य को महत्त्व दिया है। परिपक्व नैतिकता व्यक्ति तथा राष्ट्र की बौद्धिक अन्तर्दृष्टि को जाग्रत करती है; सामाजिक संगठनों और विभिन्न

संस्थाओं को सामूहिक रूप से वांछनीय ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देती हैं; वह व्यक्ति को प्रवृत्ति मार्ग की ओर अग्रसर कर उसे कर्मयोग का सन्देश देती है। गांधी की सत्य-अहिंसा की नैतिकता कर्मयोग की नैतिकता है।

नैतिक सिद्धान्त आदर्शविधायक होने के कारण व्यक्ति को उचित कर्म करने के लिए बाधित न कर उसे प्रेरित करता है। वह सजग, प्रबुद्ध प्राणी को उन पथ-प्रदर्शक नियमों का ज्ञान देता है जिसके द्वारा वह अपने कर्मों को सुनियन्त्रित कर सकता है। नैतिक जीवन कोरा नियमों अथवा सिद्धान्तों का जीवन नहीं है। वह शुष्क बुद्धिवाद भी नहीं है। वह आचरण के लिए कठोर नियमों, निश्चित साधनों का प्रतिपादन नहीं करता, वह व्यक्ति की बौद्धिक अन्तर्दृष्टि को जाग्रत कर नैतिक जीवन के हृदय-स्पन्दन को उसके भीतर सजीव रूप दे देता है। नैतिक सिद्धान्त का सार स्थिर नियमों के प्रतिपादन में नहीं, नैतिकता की सहज स्वाभाविक उन्नति से है। मानव-जीवन के अभ्युदय को सम्मुख रखते हुए नीतिशास्त्र प्रत्येक देश, काल के सिद्धान्त को उस युग की आवश्यकताओं, सभ्यता और संस्कृति का प्रतीक मानता है। अतः, गूढ़ नैतिक सिद्धान्त उस परम मापदण्ड की खोज करता है जो विभिन्न सिद्धान्तों को संगठित कर उनके मूल कारणों को विशिष्ट समयानुसार प्रकाश में ला सके। नैतिकता की उत्पत्ति की माँग उस सिद्धान्त या मापदण्ड की माँग है जो जीवन के ध्येय और मूल्य को सम्यक् ज्ञान द्वारा प्रदर्शित कर सके। परम मापदण्डी की खोजके लिए नीतिशास्त्र अपनी व्यावहारिक अन्तर्दृष्टि का उपयोग करता है जो उसके लिए अनिवार्य है क्योंकि वह मानव आचरण की आवश्यकता का सिद्धान्त है।

जहाँतक नीतिशास्त्र के व्यवहार का प्रश्न है यह मनुष्य के व्यक्तित्व पर निर्भर है कि वह उसे अपने आचरण में कहाँ तक स्वीकार करता है। यह सम्भव हो सकता है कि वह नीतिशास्त्र का अध्ययन केवल परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए अथवा अपने सामान्य ज्ञान की अभिवृद्धि अथवा विद्वत्ता के प्रदर्शन के लिए ही करे। नीतिशास्त्र उसे केवल यह बता सकता है कि वास्तविक सुखोपभोग के लिए, जीवन की सार्थक प्राप्ति के लिए कल्याणप्रद नियम कौनसे

हैं। वह आत्म-प्रबुद्ध व्यक्ति की चेतना को जगाता है, उसे आत्म-सत्य की ओर प्रेरित करता है। आत्म-चेतन व्यक्ति को शुभप्रद नियमों के पालन के हेतु बाध्य करना वह हेय समझता है। यह सच है कि नैतिक सिद्धान्त का जनक जीवन है किन्तु अपनी नियामक शक्ति के कारण वह जीवन का निर्माता तथा पोषक बन जाता है। फिर भी यह प्रत्येक व्यक्ति पर निर्भर है कि वह अपने उचित ज्ञान के अनुरूप अपने आचरण को कितना संयमित करता है, पशु-जीवन से कितना ऊपर उठाता है और उसमें आत्म-पूर्णता को प्राप्त करने की प्रेरणा कितनी तीव्र है।

३

नीतिशास्त्र की प्रणालियाँ

नीतिशास्त्र की प्रणालियाँ—नीतिशास्त्र का आदर्श-विधायक स्वरूप यह स्पष्ट कर देता है कि धरती पर पैर होने पर भी यह मात्र धरती का नहीं है। मानव-जीवन के आदर्श से सम्बन्धित होने के कारण एक ओर तो वह यथार्थ विज्ञानों से सम्बन्धित है और दूसरी ओर तत्त्वदर्शन से। अतः यह न तो मात्र वह विज्ञान है जो अनुभव पर आधारित है और न मात्र वह आदर्श है जो अनुभव से स्वतन्त्र एवं अनुभवातीत है। नैतिक सिद्धान्तों का अध्ययन बतलाता है कि नीतिज्ञ इस सत्य की ओर से तटस्थ-सा रहे। प्रत्येक नीतिज्ञ ने एक विशिष्ट प्रणाली को महत्त्व दिया और उसी प्रणाली को उसने स्वयं स्वीकार किया। इस भाँति हमें अनेक प्रणालियाँ मिलती हैं। सुकरात की प्रश्नोत्तर एवं शंका-समाधान की प्रणाली,[१] स्पैंसर की विशुद्ध वैज्ञानिक प्रणाली, हीगल और ग्रीन की दार्शनिक प्रणाली, उपयोगितावादियों की मनोवैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक प्रणाली, ग्रीन की मिश्रित प्रणाली आदि का अध्ययन यह बतलाता है कि नीतिज्ञों ने किसी एक प्रणाली को नहीं अपनाया है बल्कि विभिन्न प्रणालियों का आश्रय लिया है। स्थूल दृष्टि से जिन विभिन्न प्रणालियों को उन्होंने स्वीकार किया है उन्हें दो विधियों[२] के

१—वह आलोचनात्मक प्रणाली जो कि अपने प्रतिद्वन्द्वी के मत का खण्डन करके अपने मत का प्रतिपादन करती है।

२—सिजविक ने सिद्धान्त को ही विधि मानकर नीतिशास्त्र की सभी विधियों को तीन मुख्य विधियों (स्वार्थवादी सुखवाद, सार्वभौम सुखवाद और सहजज्ञानवाद) के अन्तर्गत माना है। विधियों का इस प्रकार का वर्गीकरण अनुचित है क्योंकि सिद्धान्त और विधि में भेद है। विधियों का वर्गीकरण उन्हीं की विशेषताओं के आधार पर कर सकते हैं। वास्तव में सिजविक ने सिद्धान्तों का वर्गीकरण किया है।

अन्तर्गत समझा सकते हैं : दार्शनिक और वैज्ञानिक।

दार्शनिक और वैज्ञानिक विधि में भेद—वैज्ञानिक के अन्तर्गत भौतिक, जैव, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक और उत्पत्ति-विषयक विधियाँ आ जाती हैं तथा दार्शनिक के अन्तर्गत वह विधि है जो परमसत्य के आधार पर नैतिक आदर्श के स्वरूप को निर्धारित करती है। वैज्ञानिक विधि को अपनाने वालों ने अनुभव और प्रत्यक्ष के आधार पर प्रदत्तों को इकट्ठा किया और उनके अध्ययन और वर्गीकरण द्वारा सामान्य नियमों की स्थापना कर नैतिक नियमों का तथ्यात्मक वर्णन किया। दार्शनिक विधि वालों ने प्रदत्तों के अर्थ समझने की चेष्टा की। अपने ज्ञान को सांसारिक घटनाओं एवं वाह्य सत्यों और इन्द्रियजन्य ज्ञान तक सीमित न रखकर गम्भीर चिन्तन, विश्लेषण और बौद्धिक अन्तर्दृष्टि की सहायता ली। उन्होंने व्यक्तियों के सत्यस्वरूप को समझने का प्रयास किया और उस स्वरूप को नैतिक आदर्श का आधार माना। वैज्ञानिक विधि तथ्यात्मक और वर्णनात्मक है और दार्शनिक विधि आलोचनात्मक और चिन्तन-प्रधान है। वैज्ञानिक विश्लेषण की सहायता से प्रत्येक घटना को अलग-अलग समझना चाहता है तो दार्शनिक समग्रता के सम्बन्ध में समझने का प्रयास करता है।

वैज्ञानिक विधि—वैज्ञानिक विधि को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं : मनोवैज्ञानिक और अमनोवैज्ञानिक। मनोवैज्ञानिक विधिवाले विचारक वे हैं जिन्होंने नैतिक तथ्य को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की सहायता से समझाया और अमनोवैज्ञानिक विधिवाले वे हैं जिन्होंने मनोवैज्ञानिक विश्लेषणकी सहायता नहीं ली। इन्होंने भौतिक और जैव तथ्यों से नैतिक तथ्यों का निगमन किया। इस भेद को यह कहकर भी समझाया जा सकता है कि अमनोवैज्ञानिक विधिवालों ने निगमनात्मक प्रणाली को स्वीकार किया और मनोवैज्ञानिक विधिवालों ने विश्लेषणात्मक एवं आगमनात्मक प्रणाली को। वह अमनोवैज्ञानिक प्रणाली जिसका प्रयोग विशेष रूप से स्पैंसर और जड़वादियों ने किया है, प्राकृतिक या भौतिक निगमनात्मक प्रणाली कहलाती है। इसका कारण यह है कि अमनोवैज्ञानिक या निगमनात्मक प्रणाली का प्रयोग दार्शनिक विधिवालों ने भी किया है। अतः उनकी प्रणाली दार्शनिक निगमनात्मक प्रणाली है।

अमनोवैज्ञानिक विधि—विकासवादी सुखवादियों ने अपने सिद्धान्त द्वारा भौतिक और जैव प्रणाली को महत्त्व दिया। स्पेंसर का कहना है कि जैव नियमों से नैतिक नियमों का निगमन करना चाहिये। नैतिक नियमों को समझने के लिए भौतिकविज्ञान, जीवशास्त्र और समाजशास्त्र की सहायता लेनी चाहिये। विकासवादी सुखवादियों (स्पेंसर, लैज्ली स्टीफेन और एलेकजैण्डर) ने ही, वास्तव में, ऐतिहासिक और उत्पत्ति-विषयक प्रणाली को महत्त्व दिया। नैतिकता की उत्पत्ति का इतिहास बतलाता है कि निर्नैतिकतासे नैतिकता की उत्पत्ति हुई। जीवन-संघर्ष के क्रम में नैतिक नियम उत्पन्न हुए। नैतिक नियम के उद्भव को तथा विकास के क्रम को समझाना समाजशास्त्र का काम है न कि नीतिशास्त्र का। विकासवादियों ने जिस ऐतिहासिक और उत्पत्ति-विषयक एवं समाजशास्त्रीय प्रणाली को मान्यता दी वह समाजशास्त्र की है। नैतिक नियमों के उद्भव का इतिहास उनकी प्रामाणिकता को सिद्ध नहीं कर सकता। नीतिशास्त्र का काम नियमों का मूल्यांकन करना है न कि उनका ऐतिहासिक और तथ्यात्मक वर्णन करना।

कार्ल मार्क्स ने ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय प्रणाली की शरण लेकर समाज की अर्थशास्त्रीय व्याख्या की ओर इसके आधार पर समझाया कि नैतिक नियम समाज की भूतकालीन और वर्तमान आर्थिक रचना का प्रतिबिम्ब हैं। इस भाँति उसने सामाजिक मान्यताओं और नैतिक नियमों का आर्थिक स्पष्टीकरण किया।

मनोवैज्ञानिक विधि—मनोवैज्ञानिक विधिवालों ने नैतिक तथ्यों को चेतना के विश्लेषण द्वारा समझाया। नैतिक समस्या मानव-स्वभाव की समस्या है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा इसको सुलझा सकते हैं। ह्यूम, बैथम और मिल ने मनुष्य के स्वभाव, कर्म और प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके शुभ के स्वरूप को निर्धारित किया। मनुष्य स्वभाववश सुख की खोज करता है और दुःख का परित्याग करता है। सुख जीवन का ध्येय है। मिल ने मनुष्य-स्वभाव के आधार पर सुख को वांछनीय माना और उसी के द्वारा कर्म के औचित्य-अनौचित्य को निर्धारित किया।

कडवर्थ, क्लार्क, शेफ्ट्सबरी आदि सहज ज्ञानवादियों ने भी मनोवैज्ञानिक प्रणाली को अपनाया। चेतना का विश्लेषण बतलाता है कि मानस में कर्म के औचित्य-अनौचित्य को समझने के लिए एक सहजात शक्ति एवं अन्तर्बोध है। सुखवादियों की भाँति मनोवैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक प्रणाली को अपनाने पर भी सहजज्ञानवादी भिन्न निष्कर्ष[1] पर पहुँचे। कांट ने भी इसी पद्धति को अपनाकर कर्तव्य के निरपेक्ष आदेश को महत्त्व दिया। कांट और सहजज्ञानवादी मनोवैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति के साथ दार्शनिक पद्धति को अपनाते हैं। वास्तविकता से अधिक महत्त्व आदर्श को देते हैं।

दार्शनिक विधि—प्लेटो, अरस्तू, हीगल, ग्रीन तथा उसके अनुयायियों ने दार्शनिक निगमनात्मक प्रणाली को अपनाया। इन आदर्शवादी नीतिज्ञों ने नैतिक आदर्श को समझने के पूर्व परमसत्य को समझना आवश्यक समझा। सत्ता के स्वरूप से नैतिकता के अन्तर्तथ्य का निगमन किया। नीतिशास्त्र अपने आदर्श के लिए तत्त्वदर्शन पर निर्भर है। तत्त्वदर्शन ही उसे ध्येय की धारणा देता है। तत्त्वदर्शन के आधार पर प्लेटो ने समझाया कि कालजगत शाश्वत की छायामात्र है। हीगल का कहना है कि अनेकता परमसत्य की ही अभिव्यक्ति है और ग्रीन ने परमसत्य को शाश्वत चैतन्य के रूप में स्वीकार किया। मनुष्य के स्वभाव को ऐसे दर्शन पर आधारित करके इन विचारकों ने कहा कि मनुष्य को अपनी सीमाओं से ऊपर उठकर शाश्वत को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। शाश्वत ही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप एवं आन्तरिक सत्य है। शाश्वत को प्राप्त करना पूर्णता को प्राप्त करना है, यही परमध्येय है।

ऐसे सिद्धान्त को, जो कि ज्ञेय का आधार अज्ञेय को मानता है, जनसामान्य के लिए स्वीकार करना कठिन है। जनसामान्य उस सत्य को सरलता से ग्रहण कर सकता है जिसका कि वह अनुभव कर सके। वह यह जानना चाहता है कि अनुभवात्मक आत्मा का आचरण कैसा होना चाहिये। नीतिशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान है। वह वास्तविक तथ्यों से विरक्त होकर आदर्श की ओर नहीं जा सकता। प्लेटो ने तो शाश्वत और नश्वर जीवन के द्वैत को स्पष्ट रूप से स्वीकार

---

१. देखिये—भाग २।

किया है। ऐसे परमतात्त्विक दृष्टिकोण उस विज्ञान के लिए अनुचित हैं जिसका सम्बन्ध व्यावहारिक जीवन से है।

आलोचना : नैतिक विधि की ओर—भौतिक घटनाओं, जैव और सामाजिक तथ्यों, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा भूत और वर्तमान से सम्बन्ध रखने वाली विधि चाहे और कुछ भी हो, नैतिक विधि नहीं है। नैतिक विधि भविष्य से असम्बद्ध नहीं रह सकती। वह उस मानवोचित आदर्श को समझना चाहती है जो व्यक्ति को पूर्णता प्रदान करके गौरवान्वित करता है। आदर्श का जिज्ञासु व्यक्ति भूत, वर्तमान और भविष्य से अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित है। वह अपने ज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान, कार्य-कारण का नियम, अचेतन तथा चेतन तथ्य तक सीमित नहीं रख सकता। नैतिकता इस सत्य पर आधारित है कि आत्मप्रबुद्ध प्राणी केवल देह-मन की सामान्य आवश्यकताओं का प्राणी नहीं है। वह आध्यात्मिक और नैतिक है। यथार्थ से सम्बन्धित होने पर भी नीतिशास्त्र उसी में सीमित नहीं रह जाता है बल्कि उससे ऊपर उठने की चेष्टा करता है। नैतिक आदर्श वह सत्य है जो अनुभवात्मक होने पर भी अनुभवातीत है। वह 'क्या है' को स्वीकार अवश्य करता है पर वह केवल 'क्या है' नहीं है। वह उन समस्त सम्भावनाओं का सूचक है जो भविष्य में पूर्णता प्राप्त करेंगी। यही कारण है कि नीतिशास्त्र उस पूर्णता (अन्तिम स्थिति) और निश्चयात्मकता को भी प्राप्त नहीं कर सकता जो गणित और भौतिक विज्ञानों का विशेष गुण है।

नीतिशास्त्र को भूत और भविष्य तक सीमित कर देना अथवा उसे वर्णनात्मक विज्ञानों की श्रेणी में रख देना भ्रान्तिपूर्ण है। नैतिक रुचि का केन्द्र अपने-आप में ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं किन्तु उन घटनाओं का परम-स्पष्टीकरण और शाश्वत अर्थ है। नीतिशास्त्र नैतिक आदर्श एवं मानदण्ड की खोज करता है और प्रचलित या भावात्मक नैतिकता का इस आदर्श के सम्बन्ध में समर्थन अथवा असमर्थन करता है। अतः नीतिशास्त्र के लिए कर्म और घटनाओं के कारणों की खोज उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी कि स्वयं कर्म, उसका परिणाम और वह आदर्श जिसको कि वह व्यक्त करता है। नीतिशास्त्र का प्रत्यक्ष सम्बन्ध अभ्यास, रीति-रिवाज और नियमों के उद्गम के इतिहास से नहीं है वरन् उनके वर्तमान

मूल्य से। वह नियमों का मूल्य उन लोगों के सम्बन्ध में आँकता है जिनके जीवन में वे व्यवहृत होते हैं।

आदर्श से सम्बन्धित होने के कारण ही मनुष्य के स्वभाव का मनोवैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक एवं तथ्यात्मक वर्णन मात्र नैतिक समस्याओं को हल नहीं कर सकता है। अथवा नैतिक तथ्यों का मनोवैज्ञानिक वर्णन नैतिक आदर्श के स्वरूप को निर्धारित नहीं कर सकता। निःसन्देह मनोविज्ञान नैतिक चेतना के दृष्टिगत विषयों को प्रस्तुत करने में पूर्णतः समर्थ है किन्तु नीतिशास्त्र ऐसे ज्ञान से पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि उसके निर्णय मूल्यपरक होते हैं। घटनाओं के अर्थ का स्पष्टीकरण करनेवाले आदर्श-विधायक विज्ञान के लिए शुद्ध वैज्ञानिक विश्लेषण अपर्याप्त हैं। नीतिशास्त्र उचित-अनुचित के मानदण्ड को जानना चाहता है और उस मानदण्ड के आधार पर कर्म का मूल्यांकन करता है। अच्छे कर्म का शुभत्व कर्म की समग्रता पर निर्भर है किन्तु मनोवैज्ञानिक पद्धति विश्लेषणात्मक है।

वैज्ञानिक पद्धति की सीमाओं को देखते हुए क्या हम यह कह सकते हैं कि नैतिक आदर्श का क्षेत्र दर्शन का क्षेत्र है और इसलिए दार्शनिक पद्धति उचित पद्धति है? जिस आदर्श की प्राप्ति के लिए नीतिशास्त्र प्रयास करता है वह मात्र काल्पनिक और चिन्तनप्रधान नहीं है। उस आदर्श का सम्बन्ध वास्तविक अनुभवात्मक जगत से है अथवा प्रतिदिन और प्रतिक्षण के कार्य-कलापों से है। अनुभवात्मक आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाले आदर्श के लिए उसका ज्ञान अनिवार्य है एवं मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, जीवशास्त्र आदि विज्ञानों की सहायता लेना आवश्यक है। दार्शनिक प्रणाली को महत्त्व देनेवाले भूल गये कि नैतिक आचरण का एकमात्र उद्देश्य शाश्वत जीवन नहीं है। सद्गुण, कर्तव्य, त्याग, बाध्यता आदि अनुभवात्मक आत्मा के सम्बन्ध से ही अर्थगर्भित होते हैं।

नीतिशास्त्र में दोनों प्रणालियाँ परस्पर निर्भर—नीतिशास्त्र नैतिक निर्णयों को विधान की एकता में बाँधने का प्रयास करता है। वह नैतिक तथ्यों का उस नैतिक आदर्श के सम्बन्ध में व्याख्या और स्पष्टीकरण करता है जो कि सत्ता के विधान से अनन्य रूप से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से नीतिशास्त्र के क्षेत्र में वैज्ञानिक

और दार्शनिक प्रणाली परस्पर निर्भर हैं। वैज्ञानिक प्रणाली को अपनाकर नीतिशास्त्र नियम, कर्म, चरित्र, अभ्यास आदि का विज्ञान की भाँति निरीक्षण और स्पष्टीकरण करता है। सामान्यबोध के निर्णयों को, चाहे वे तथ्यात्मक हों या मूल्यपरक, विधान की एकता में बाँधकर व्यवस्थित रूप देने का प्रयास करता है। इसके आगे नीतिशास्त्र और विज्ञान में भेद है। नैतिक निर्णय मूल्यपरक और वैज्ञानिक तथ्यात्मक हैं। विज्ञान का क्षेत्र सीमित है। नीतिशास्त्र विज्ञान से युक्त होने पर भी व्यापक क्षेत्र को अपनाता है। वह तब तक पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता जब तक कि नैतिक दर्शन या तत्त्वदर्शन को नहीं अपना लेता है। उसके मूल्यपरक निर्णय चिन्तनप्रधान या दार्शनिक होते हैं। अतः नीतिशास्त्र वैज्ञानिक प्रणाली को अपनाकर दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश करता है। नैतिक निर्णय अपनी परमप्रामाणिकता के लिए एवं नैतिक विचार अपने अर्थ, मूल्य और सार्थकता के लिए तत्त्वदर्शन पर निर्भर है। नीतिशास्त्र अपने भीतर अनुभवात्मक और अनुभवातीत तथ्यों का समावेश करता है।

नैतिक प्रणाली : समन्वयात्मक—जीवन में निहित आदर्श को समझने का विज्ञान शुद्ध विज्ञान से भिन्न है। वह किसी घटना को पूर्वकालीन घटना एवं कार्य-कारण के नियम द्वारा नहीं समझाता वरन् उसे समस्त विश्व की आवयविक व्यवस्था का अभिन्न अंग मानता है। ऐसी स्थिति में विषयों का केवल बाह्य निरीक्षण पर्याप्त नहीं है। प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान या सहजज्ञान एवं समग्रता का ज्ञान भी आवश्यक है। अतः नीतिशास्त्र ने मिश्रित प्रणाली एवं समन्वयात्मक प्रणाली को स्वीकार किया। ब्रेडले ने मनुष्य के सामाजिक और बौद्धिक स्वरूप को महत्त्व देने के कारण इस प्रणाली को अपनाया है। नीतिशास्त्र अपने लक्ष्य और उद्देश्य में दार्शनिक है किन्तु अपनी प्रणाली में उन सत्यों की पुष्टि वैज्ञानिक रीति से करता है। जिस भाँति हम आदर्श-विधायक विज्ञान से दो भिन्न विषयों को नहीं समझते हैं उसी भाँति नीतिशास्त्र के क्षेत्र में वैज्ञानिक और दार्शनिक दो भिन्न प्रणालियाँ नहीं हैं। दोनों प्रणालियों को नैतिक दृष्टि से समझने पर ज्ञात होगा कि नैतिक प्रणाली समन्वयात्मक है।

वह तथ्यों के निरीक्षण और वर्गीकरण के साथ ही आलोचनात्मक, विश्लेषणात्मक, मूल्यपरक तथा चिन्तनप्रधान है। संक्षेप में नैतिक प्रणाली वैज्ञानिक और दार्शनिक, आगमनात्मक और निगमनात्मक, निरीक्षणात्मक और चिन्तन-प्रधान एवं अनुभवात्मक और अनुभवातीत है।

४

नीतिशास्त्र और अन्य विज्ञान

नीतिशास्त्र का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध—नीतिशास्त्र आदर्श-विधायक विज्ञान है। इस आदर्श की भित्ति वास्तविक व्यावहारिक जगत है। इस दृष्टि से नीतिशास्त्र के क्षेत्र में यथार्थ और आदर्श को संयुक्त मानना उचित होगा। नीतिशास्त्र का यथार्थवादी विज्ञानों से अनिवार्य सम्बन्ध है, उन सभी विज्ञानों से है जो मनुष्य के जीवन, स्वभाव और स्थिति पर प्रकाश डालते हैं एवं जो मनुष्य के सम्पूर्ण आचरण को समझाने में सहायक होते हैं। नैतिक सिद्धान्तों का अध्ययन करने पर यह और अधिक स्पष्ट हो जाएगा कि उसके सिद्धान्तों का पुष्टीकरण करने के लिए समाजशास्त्र, ईश्वरविद्या तथा तत्त्वदर्शन का ज्ञान[1] विशेष रूप से आवश्यक है। अतः इन्हीं विज्ञानों के साथ हम नीतिशास्त्र का सम्बन्ध समझने का प्रयास करेंगे।

समाजशास्त्र—समाजशास्त्र सामाजिक विकास और ह्रास की विभिन्न स्थितियों में मानव-जीवन का अध्ययन करता है। आधुनिक स्थिति तक पहुँचने के लिए आदिम बर्बर मनुष्य ने किन-किन स्थितियों का अतिक्रमण किया, आज जिस रूप में समाज को देखते हैं उसकी पूर्वकाल में क्या रूप-रेखा थी; समाज की उत्पत्ति, विकास और निर्माण किन नियमों द्वारा परिचालित होता है, समाजशास्त्र इनकी क्या व्याख्या करता है। सामाजिक संस्थाओं, नियमों, अभ्यासों, प्रचलनों, रीतियों की उत्पत्ति में कौन विशिष्ट परिस्थितियाँ कार्य कर रही

---

१. नीतिशास्त्र का मनोविज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को सभी नीतिज्ञ मानते हैं। इसके लिए देखिये अध्याय—४।

थीं, भारत में अस्पृश्यता, बालविवाह, सतीप्रथा आदि सामाजिक नियम मिलते हैं उनके मूल में कौन-सी सामाजिक प्रेरणाएँ काम कर रही थीं आदि ऐसी अनेक समस्याओं पर प्रकाश डालकर वह समाज की वस्तु-स्थिति के बारे में पूर्ण ज्ञान देता है। समाजशास्त्र यथार्थ विज्ञान है। वह वर्णनात्मक तथा इतिवृत्तात्मक है और नीतिशास्त्र मनुष्य के आचरण का विज्ञान है। आदर्श-विधायक तथा विधि-निषेधात्मक है। वह मनुष्य के कर्मों का इस आधार पर मूल्यांकन करता है कि वह एक सामाजिक प्राणी है। उसका एकाकी अस्तित्व अचिन्तनीय है। अनुभव, अध्ययन एवं मनोवैज्ञानिक चिन्तन के फलस्वरूप सभी नीतिज्ञ यह मानने लगे हैं कि मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण तथा उसके चारित्रिक गठन में सामाजिक संस्थाओं, वातावरण एवं परिवेश का विशिष्ट हाथ है। वह अपनी भाषा, संस्कृति, सभ्यता और नैतिक गुणों के लिए बहुत अंशों तक समाज पर निर्भर है। वह अपने जीवन के सुख, स्वास्थ्य और समृद्धि के लिए सामाजिक सहयोग की याचना करता है। संक्षेप में, व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। इस अनन्य सम्बन्ध को सम्मुख रखते हुए कुछ नीतिज्ञों—विकासवादी सुखवादियों—का कहना है कि नीतिशास्त्र समाजशास्त्र का अंगमात्र है। उसे अपने नियमों का प्रतिपादन करने के लिए पूर्णरूप से समाजशास्त्र पर आश्रित रहना चाहिए। क्योंकि नैतिकता की समृद्धि सामाजिक संगठन और स्वास्थ्य पर निर्भर है। विकासवाद यह बताता है कि मनुष्य ने अपने जीवन-संरक्षण के लिए बाह्य परिवेश तथा परिस्थितियों के साथ संयोजित होने का प्रयास किया है। इस प्रयास के क्रम में उसे कुछ लाभप्रद नियम मिले। और यही नियम नैतिक हैं जो सामाजिक उन्नति के लिए आवश्यक हैं। सामाजिक विकास के साथ ही इन नियमों का विकास हुआ है जिससे यह सिद्ध होता है कि समाजशास्त्र का अध्ययन ही नैतिक नियमों का स्पष्टीकरण कर सकता है। अथवा नैतिक नियमों का ज्ञान उन नियमों का ज्ञान है जिन्हें कि जाति ने अपने संरक्षण के लिए लाभप्रद पाया। अतः समाज-शास्त्रीय नीतिज्ञों का कहना है कि नीतिशास्त्र के लिए समाजशास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है।

व्यक्ति और समाज के अनन्य सम्बन्ध को आधुनिक नीतिज्ञ मानते हैं, और परिणामस्वरूप नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र के घनिष्ठ सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। नीतिशास्त्र का ज्ञान भी यह स्पष्ट करता है कि मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के कारण ही उसके आचरण पर नैतिक निर्णय दिया जाता है। व्यक्ति और समाज एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। व्यक्ति की नैतिक अन्तर्दृष्टि सामाजिक मलिन प्रवृत्तियों का परिष्कार कर उसे एक शिष्ट और संस्कृत स्तर देती है। स्वस्थ और संस्कृत सामाजिक संस्थाएँ पुष्ट परिपक्व व्यक्तित्व-का निर्माण करती हैं। अथवा व्यक्ति युगचेतना का अंश है, उसका आचरण सामाजिक पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है। उसकी प्रेरणाएँ, आन्तरिक प्रवृत्तियाँ बहुत हद तक वातावरण और परिस्थितिजन्य होती हैं। किन्तु सामाजिक महत्त्व को स्वीकार करने के अर्थ यह कदापि नहीं हैं कि नैतिकता अपने मौलिक सत्य को भूल जाय। नीतिशास्त्र आदर्श-विधायक होने के कारण समाजशास्त्रीय यथार्थ से आगे बढ़ता है। समाजशास्त्र सामाजिक विधान को समझता है; उन आचरणों, भावनाओं, निर्णयों को समझाता है जो कि सामाजिक प्राणियों या सामान्य मनुष्यों के संगठित समुदाय द्वारा व्यक्त होते हैं। नीतिशास्त्र मानव-स्वभाव के इस व्यक्त रूप को समझने के साथ ही अपना आदर्श-विधायक दृष्टिकोण भी रखता है। वह सामाजिक आदर्शों एवं प्रणालियों के औचित्य-अनौचित्य पर निर्णय देता है। समाजशास्त्र उन सामाजिक ऐक्य के नियमों का स्पष्टीकरण करता है जिसके द्वारा मानव-आचरण सम्बन्धी विभिन्नताओं, विरोधी भावनाओं और निर्णयों के अस्तित्व को समझा जा सकता है। नीतिशास्त्र इसके भी ऊपर यह बताता है कि कौन-सी आचरण की विभिन्नता उचित है और कौन-सा निर्णय प्रामाणिक है। उपर्युक्त कथन इन दोनों के सम्बन्ध और भेद को भी स्पष्ट करता है अर्थात् समाजशास्त्र केवल वर्णनात्मक विज्ञान है और नीतिशास्त्र आदर्श-विधायक विज्ञान है। आदर्श-विधायक होनेके नाते नीतिशास्त्र समाजशास्त्र की भाँति तत्त्वदर्शन के निष्कर्षों से मुक्त नहीं है। समाजशास्त्र मुख्यतः सामूहिक जीवन का अध्ययन करता है। उसके अनुसार व्यक्ति सामूहिक जीवन का ही प्रतिबिम्ब मात्र है, उसका अपना

अस्तित्व नगण्य है। नीतिशास्त्र व्यक्ति के उस स्वतन्त्र अस्तित्व का अध्ययन करता है जो समाज का अविच्छिन्न अंग होते हुए भी अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखता है। अतएव संकल्प की स्वतन्त्रता यदि नीतिशास्त्र की आवश्यक मान्यता है तो समाजशास्त्र के लिए वह केवल थोथी प्रमाणित होती है। समाजशास्त्र मानसिक क्रियाओं का वस्तुगत विश्लेषण करता है। नीतिशास्त्र मानसिक व्यापारों का आन्तरिक दृष्टिकोण से अध्ययन करता है। वह आन्तरिक प्रवृत्तियों—इच्छा, प्रेरणा, उद्देश्य, संकल्प आदि—पर प्रकाश डालता है। समाजशास्त्र केवल सैद्धान्तिक है। नीतिशास्त्र सैद्धान्तिक के साथ ही व्यावहारिक भी है। व्यावहारिक होने के कारण इसके निष्कर्षों का सार्वभौमिक और तात्कालिक महत्त्व है। समाजशास्त्र सामाजिक स्वास्थ्य की वृद्धि एवं भौतिक सुख को सम्मुख रखते हुए लाभप्रद नियमों को महत्त्व देता है। किन्तु नीतिशास्त्र भौतिक सुख के उद्देश्य से लाभप्रद नियमों को अनैतिक कहता है। वह उच्चतम नैतिक ध्येय के लिए ऐहिक सुख की उपेक्षा करता है। नीतिशास्त्र भौतिक है कल्याण से परे विश्व के नैतिक कल्याण की भी स्थापना करना चाहता है। यह कल्याण समाजशास्त्र की भाँति केवल सामाजिक ही नहीं, वैयक्तिक और सामाजिक दोनों है। समाजशास्त्र नैतिकता की विकसित स्थितियों अथवा विकासक्रम में विकसित नैतिक प्रगति के व्यक्त रूप को ही समझाता है। किन्तु नीतिशास्त्र उस परम आदर्श की खोज करता है जो कि सामाजिक संस्थाओं के औचित्य-अनौचित्य को समझा सके।

ईश्वरविद्या—ईश्वरविद्या सृष्टितत्त्व तथा सृष्टिकर्त्ता के बारेमें बताती है। सृष्टि का सम्बन्ध वास्तविक दृश्यमान जगत से है। वह जगत जिसमें हम रहते, खाते और चलते हैं। इस जगत का निर्माण करनेवाला ईश्वर है। ईश्वरविद्या ईश्वर, आत्मा और सृष्टि के सम्बन्ध में प्रकाश डालती है। ईश्वर इस विश्व का स्रष्टा है। वह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञाता, सर्वदर्शी, न्यायशील है। वह शुभ और सद्‌गुण की पूर्णता का प्रतीक है। सत्यशील एवं न्यायप्रिय होने के कारण उसने विश्व-विधान का संचालन अनिवार्य नैतिक नियमों द्वारा किया है। मनुष्य उसकी सृष्टि का उच्चतम प्राणी है। उसके पास स्वतन्त्र मनःशक्ति

है। वह आत्मचेतन है। अतः वह सृष्टिकर्त्ता के प्रति अनुगृहीत है। उसको चाहिए कि वह ईश्वरीय शाश्वत नैतिक नियमों को समझे। उसका कर्तव्य है कि वह अपनी स्वतन्त्र बुद्धि तथा मनःशक्ति का सदुपयोग करे; भगवद्-इच्छा के अनुरूप कर्म करे।

ईश्वरविद्या अथवा अध्यात्म बताता है कि जीवन का ध्येय सार्वभौम शुभ है। प्रत्येक प्राणी के सुख के लिए प्रयास करना ही मनुष्य का कर्तव्य है। सत्तात्मक रूप से सब प्राणी समान हैं और सबका जनक ईश्वर है। सब प्राणी एक ही परिवार के बालक हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में भेद के लिए, तेरे-मेरे के लिए, स्थान नहीं है। भिन्नता या विभेद माया मात्र है, अर्थ-शून्य है। ईश्वर परमसत्य है। सृष्टि उसी का रूप है। इस प्रकार ईश्वरविद्या अहिंसा एवं विश्व-प्रेम की नींव डालता है। वह जीवन के ध्येय को सार्वभौम शुभ बताकर व्यक्ति का वैयक्तिक संकीर्णता से ऊपर उठाकर विश्वात्मा के दर्शन कराता है।

कुछ विचारकों के अनुसार नीतिशास्त्र और ईश्वरविद्या में प्रमुख अन्तर यह है कि नीतिशास्त्र उस परमशुभ की खोज करता है जो व्यक्ति के लिए वांछनीय है। अर्थात् नीतिशास्त्र व्यक्ति के लिए वांछनीय शुभ एवं आत्म-कल्याण को महत्त्व देता है और ईश्वरविद्या सामूहिक सार्वभौम शुभ को; अथवा एक के सम्मुख व्यक्ति का कल्याण है और दूसरे के सम्मुख समाष्टि का। उनके अनुसार नीतिशास्त्र के लिए समाज नगण्य है और ईश्वरविद्या के लिए व्यक्ति। किन्तु व्यक्ति और समाष्टि में भेद देखना मूर्खता है। दोनों परस्पर सजीव रूप से सम्बद्ध हैं। इनका सम्बन्ध सांगोपांग है। वैयक्तिक कल्याण सार्वभौम कल्याण की अपेक्षा रखता है और सार्वभौम वैयक्तिक कल्याण की। दोनों के ही ध्येय को सर्वकल्याणकारी कह सकते हैं। नैतिकता व्यक्ति और समष्टि के द्वारा इस मार्ग को ग्रहण करती है और ईश्वरविद्या सृष्टितत्त्व और सृष्टिकर्ता के बोध द्वारा। जहाँ तक दोनों के आचार-सम्बन्धी नियमों का प्रश्न है, दोनों समान हैं। नीतिशास्त्र और ईश्वरविद्या दोनों ही मानते हैं कि मनुष्य जैव और भौतिक आवश्यकताओं के हाथ का खिलौना मात्र

नहीं है। उसके जीवन का ध्येय महान है। उसका वर्तमान जीवन वांछनीय शुभ के लिए साधन मात्र है। वह अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है। उसके कर्म स्वेच्छाकृत हैं। उसका संकल्प स्वतन्त्र है। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि दोनों ही स्वतन्त्रता का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में करते हैं।

नीतिशास्त्र के अनुसार मनुष्य को अपने कर्मों को विवेक द्वारा परिचालित करना चाहिये। उसे उन्हीं कर्मों को करना चाहिये जो उचित हों। उसे अपनी आत्मा के आदेश को मानना चाहिये। नैतिक नियम आत्म-आरोपित हैं। किन्तु ईश्वरविद्या के अनुसार मनुष्य की स्वतन्त्रता इस तथ्य पर निर्भर है कि वह भगवद्इच्छा को समझ सकता है, उसके अनुरूप कर्म कर सकता है; ईश्वरीय आदेश का पालन कर सकता है; भगवत्कृपा द्वारा परम आदेश एवं ईश्वरीय आदेश को समझ सकता है। नीतिशास्त्र के अनुसार अनैतिक कर्म करने से पश्चात्ताप होता है। व्यक्ति की सत्यात्मा उसे प्रताड़ित करती है। आत्म-सन्तोष के लिए उसे नैतिक आदेश का अनिवार्य रूप से पालन करना पड़ता है। किन्तु ईश्वरविद्या के अनुसार न्यायशील ईश्वर द्वारा दण्डित होने के भय से अथवा नरक के भय एवं स्वर्ग को लालसा से ही व्यक्ति सदाचार करता है। वह अपने कर्त्ता को प्रसन्न करने के लिए अथवा उसका साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए दैवी नियमों का पालन करता है। नैतिक आदेश आन्तरिक आदेश है। दैवी आदेश बाह्य आदेश है। फिर भी यह वास्तविक सत्य है कि जनसाधारण ईश्वरविद्या एवं धर्म से ही अधिक प्रभावित होता है। वह भयवश नियमों का पालन करता है। नीतिशास्त्र ऐसे कर्मों को अनैतिक कहता है। वैसे, दोनों ही स्वार्थ से परे परमार्थ की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं; मनुष्य को सद्गुणी बनने के लिए प्रेरित करते हैं; उसे उसके कर्तव्यों के बारे में सचेत करते हैं। यह अवश्य है कि नीतिशास्त्र में नैतिक कर्तव्यों की रूप-रेखा बुद्धि द्वारा निर्धारित की जाती है और ईश्वरविद्या में कर्तव्य का निर्णय ईश्वर की धारणा के अनुरूप किया जाता है।

ईश्वरविद्या नीतिशास्त्र को यह बताती है कि नैतिक आदर्श मानव-मन

की कल्पना मात्र नहीं है। वह मनुष्य की अन्तरात्मा या परमात्मा का व्यक्त रूप है और नीतिशास्त्र ईश्वरविद्या को विवेकसम्मत करके उसके नियमों को वस्तुगत तथा सार्वभौम स्वरूप देकर दैवी आदेश के आन्तरिक पक्ष पर प्रकाश डालता है। यह आदेश वाह्य आदेश नहीं मनुष्य की अन्तरात्मा का आदेश है। ईश्वरविद्या नीतिशास्त्र को पुष्ट आधार देती है। भगवान् मानव-पूर्णता का प्रतीक है। नैतिक आदर्श का मूर्तिमान स्वरूप ही भगवान् हैं। नैतिक आदर्श निर्जीव आदर्श या कोरा स्वप्न नहीं है। ईश्वरविद्या से संयुक्त होकर वह उस व्यक्तित्त्व को प्राप्त कर लेता है जो पूर्ण कल्याणमय, आकर्षक तथा आह्लादमय है। आत्मा के अमरत्व को स्थापित करके वह आत्म-त्याग का सन्देश देता है और स्थूल जड़वाद तथा आत्म-घातक सुखवाद से मन को मुक्त करता है। नैतिक मान्यताओं का चरम उत्कर्ष भगवान् है। वह नैतिकता का मापदण्ड है, उसका प्रेरणा-स्रोत है। किन्तु इसके अर्थ यह कदापि नहीं हैं कि नीतिशास्त्र अपने औचित्य-अनौचित्य के निर्णय के लिए जनसाधारण के धर्म अथवा विशिष्ट सम्प्रदाय के धर्म पर आश्रित है। मध्ययुगीन यूरोप की ईश्वरविद्या ने अनैतिक होने के कारण व्यक्तियों को त्रासित कर दिया। समृद्धि और स्वर्ग की महदाकांक्षा वेची जाने लगी। विवेक से शून्य ईश्वरविद्या लुटेरों का धर्म वन गयी। भारत में भी नीति-रहित ईश्वरविद्या को अपनाने के कारण पण्डों, पण्डितों और पुजारियों ने अपना स्वार्थ सिद्ध करने की लालसा से मानव-जीवन में भयंकर वैषम्य ला दिया है। नीतिशास्त्र और ईश्वरविद्या आदर्शवादी होने के कारण परस्पर अवलम्बित हैं। दोनों ही मानवीय चरमोत्कर्ष को प्राप्त करना चाहते हैं। आत्म-त्याग द्वारा अद्वितीय आनन्द का अनुभव करना चाहते हैं। नीतिशास्त्र अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए विवेक का आश्रय लेता है ओर ईश्वरविद्या श्रद्धा, भक्ति एवं विश्वास का। एक-दूसरे से संयुक्त होकर ही दोनों पूर्णता को प्राप्त करते हैं। नीतिशास्त्र ईश्वरविद्या को विवेकसम्मत बनाता है और ईश्वरविद्या नीतिशास्त्र को सरस एवं आह्लाददायक बनाता है। नैतिकता की पराकाष्ठा

ईश्वरविद्या है और ईश्वरविद्या का व्यावहारिक तथा व्यक्त रूप नैतिकता है।

तत्त्वदर्शन—नीतिशास्त्र के आदर्श-विधायक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते समय यह कहा जा चुका है कि इसका तत्त्वदर्शन से अत्यधिक सामीप्य है। तत्त्वदर्शन सत्ता के सम्यक् स्वरूप को समझाने का सुव्यवस्थित प्रयास है। वह आत्मा, ईश्वर और जड़ जगत के विधान पर प्रकाश डालता है। वह बताता है कि विश्व प्रयोजनपूर्ण है या प्रयोजनशून्य; वह नैतिक नियमों द्वारा संचालित होता है अथवा वह नैतिकता से शून्य है। तत्त्वदर्शन दृश्यमान और ज्ञेय के परे अज्ञेय जगत को समझना चाहता है; अनेकता और एकता के सिद्धान्तों का अध्ययन करना चाहता है। वह नीतिशास्त्र को बताता है कि व्यक्ति का सत्य-स्वरूप क्या है, उसकी विश्व में क्या स्थिति है, उसकी एकाकी सत्ता कहाँ तक सम्भव है। तत्त्वदर्शन उस अन्तर्जगत का पूर्ण ज्ञान देता है जो मानव-जीवन, मानव-कार्यों एवं विचारों का क्षेत्र है। मानव-जीवन के क्रियात्मक पक्ष से सम्बन्ध रखनेवाले नीतिशास्त्र के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह मनुष्य की सत्ता, उसके वास्तविक स्वरूप तथा परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर ले।

नीतिशास्त्र यह मानता है कि मनुष्य केवल निम्न प्राणियों अथवा वनस्पतियों का-सा जीवन नहीं बिताता है। वह मात्र दैहिक और भौतिक आवश्यकताओं का प्राणी नहीं है। वह नैतिक प्राणी है, वह अपनी प्रकृति का परिष्कार कर सकता है। उसका अपने सामाजिक और भौतिक वातावरण से चेतन सम्बन्ध है। उसकी आत्म-चेतना परमध्येय के अनुरूप कर्म करना चाहती है। वह जानना चाहता है कि उसका वास्तविक स्वरूप क्या है; विश्व में उसकी क्या स्थिति और स्थान है। अपने कर्मों को वांछनीय ध्येय के अनुसार निर्धारित करने के लिए वह तत्त्वदर्शन के समीप आता है। नैतिक सिद्धान्तों का अध्ययन यह बतलाता है कि व्यक्ति की नैतिक धारणाएँ उसके तात्त्विक दृष्टिकोण से सर्वाधिक प्रभावित होती हैं। नैतिक प्रश्नों का समाधान

विश्व-निर्माण सम्बन्धी दार्शनिक विचारों पर निर्भर है,[1] एक ओर स्थूल जड़वादी नीतिज्ञ हैं जो क्षणिक दैहिक-सुख में विश्वास करते हैं, दूसरी ओर वे अध्यात्मवादी नीतिज्ञ हैं जो आत्मा के शाश्वत स्वरूप को मानने के कारण क्षणिक सुख को जीवन का ध्येय नहीं मानते। यदि हम कुछ देर के लिए यह मान लें कि विचारक अपने नैतिक सिद्धान्त को तत्त्वदर्शन से सरलतापूर्वक पृथक् रख सकते हैं तो एक दूसरी कठिनाई उपस्थित होती है। इन विचारकों के नैतिक दर्शन की सत्यता तथा उनके नैतिक सत्यों के प्रमाण को समझने का प्रयास करने पर हमें घूम-फिरकर तत्त्वदर्शन के ही क्षेत्र में जाना पड़ता है।

नैतिक धारणाओं की प्रामाणिकता सत्ता के सत्यस्वरूप पर निर्भर है। नैतिक निर्णयों के विधान को स्वीकार करने के लिए तत्त्वदर्शन का आश्रय लेना ही पड़ता है। चार्वाकमत के विचारकों ने ऐन्द्रिय सुख को जीवन का ध्येय इसलिए बताया कि वे जड़वाद में विश्वास रखते थे। अपने विश्व के स्वरूप के ज्ञान के अनुसार ही नीतिज्ञों ने नैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। तत्त्वदर्शन के निष्कर्षों का नैतिक मान्यताओं पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। अन्य विज्ञानों के लिए यह कह सकते हैं कि वे अपने सीमित क्षेत्र में तत्त्वदर्शन से मुक्त हैं। पदार्थविज्ञान जड़ और शक्ति के अस्तित्व को मानकर चलता है और गणित देश के अस्तित्व को। इन विज्ञानों के लिए यह जानना अनावश्यक है कि तत्त्वदर्शन जड़ पदार्थ, शक्ति और देश की धारणा को कैसे समझाता है; उन्हें वह वस्तुमूलक मानता है या आत्ममूलक। किन्तु जहाँ तक नैतिक

---

१. नीतिशास्त्र और तत्त्वदर्शन के सम्बन्ध के बारे में वास्तव में तीन मत हैं—

(अ) तात्त्विक ज्ञान से नैतिक ज्ञान का निगमन करना चाहिये।

(ब) नैतिक ज्ञान से तात्त्विक ज्ञान का निगमन करना चाहिये।

(स) तत्त्वदर्शन और नीतिशास्त्र एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं।

इन मतों के विवादों में न जाकर हम यह मानेंगे कि नीतिशास्त्र अपने आदर्श तथा मान्यताओं के प्रमाण के लिए तत्त्वदर्शन पर आश्रित है।

मान्यताओं का प्रश्न है वे अपने व्यापक और गूढ़ ज्ञान के लिए तत्त्वदर्शन पर आधारित हैं। उनकी प्रामाणिकता और मूल्य का प्रश्न वास्तव में सत्ता के स्वरूप का प्रश्न है। जब मनुष्य यह जानना चाहता है कि मानव-जीवन-सम्बन्धी सक्रिय मूल्यों का निर्माण कैसे हुआ, मानव-व्यक्तित्व का सारतत्त्व क्या है, विश्व में उसका क्या स्थान है, तब वह तत्त्वदर्शन के क्षेत्र में प्रवेश करता है। बिना यह समझे कि 'मैं क्या हूँ' और 'मेरा सत्य रूप क्या है' यह कहना कठिन है कि मेरा क्या कर्तव्य है। मानव-चरित्र का मूल्यांकन करने के लिए उसके तात्त्विक स्वरूप को समझना अनिवार्य है। आध्यात्मिक तत्त्वदर्शन नीतिशास्त्र को बताता है कि वह केवल अपने परिवार या अपनी राजसत्ता का ही नागरिक नहीं है, वह मानव-समाज एवं वसुधैव कुटुम्बकम् का भी अविच्छिन्न सदस्य है। वह परस्पर सम्बद्ध सार्वभौम सजीव विश्व-व्यवस्था का अंश है। उसका जीवन धर्मक्षेत्र है। सामाजिक कल्याण ही उसका आत्म-कल्याण है। आध्यात्मिक दर्शन को मानने वाले नीतिज्ञ विश्व को आध्यात्मिक चेतना का व्यक्त रूप मानते हैं। उनके अनुसार विविधता के मूल में एकता है। व्यक्ति सत्तात्मक रूप से एक है। जीवन का ध्येय सर्वकल्याण है। किन्तु कुछ नीतिज्ञ अपने भौतिक तत्त्व-दर्शन की व्याख्या के अनुसार विश्व का निर्माण अणुओं के संघर्ष के कारण मानते हैं। इनका नैतिक सिद्धान्त केवल वैयक्तिक कल्याण का पोषक है। ये अध्यात्म-वादियों की तरह व्यक्ति और समाज को एक अविच्छिन्न सत्ता के रूप में नहीं देखते। इस प्रकार विश्वविधान के विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के अनुरूप आचरण के दो भिन्न मापदण्ड देखने को मिलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि नीतिशास्त्र तत्त्वदर्शन के निष्कर्षों से अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर सकता है।

नैतिक निर्णय स्वेच्छाकृत कर्म पर दिया जाता है। संकल्प की स्वतन्त्रता नीतिशास्त्र की आवश्यक मान्यता है। तत्त्वज्ञान बताता है कि संकल्प-शक्ति क्या है। उसकी स्वतन्त्रता के क्या अर्थ हैं। ईश्वर का अस्तित्व और आत्मा की अमरता भी नीतिशास्त्र की आवश्यक मान्यताएँ हैं। ईश्वर का अस्तित्व उसके सिद्धान्त को आकर्षक ही नहीं बनाता है, उसकी वास्तविकता की पुष्टि भी

करता है । ईश्वर नैतिक आदर्श का प्रतीक है । आत्मा की अमरता मनुष्य को क्षणिक सुख से ऊपर उठाती है । विश्वात्मा के साथ उसके तादात्म्य पर प्रकाश डालती है । नीतिशास्त्र अपनी तीनों आवश्यक मान्यताओं के लिए तत्त्वदर्शन पर आधारित है । नीतिशास्त्र का आचरण से सम्बन्ध है । वह आचरण पर निरपेक्ष निर्णय देता है । इसके निर्णयों का रूप सार्वभौम होता है, वैयक्तिक और सापेक्ष नहीं होता है । कर्मों के औचित्य-अनौचित्य को वैयक्तिक इच्छा या विशिष्ट परिस्थिति के आधार पर निर्धारित नहीं किया जा सकता, क्योंकि नीतिशास्त्र जीवन के निरपेक्ष मूल्य को या परमवांछनीय शुभ को समझने का प्रयास है । अत: तत्त्वज्ञान (वस्तुओं का सम्यक् ज्ञान) ही नैतिकता के पथ को प्रकाशित कर सकता है ।

कुछ नीतिज्ञों का कहना है कि नीतिशास्त्र का सम्बन्ध जीवन के क्रियात्मक वास्तविक पक्ष से है । इसलिए नीतिशास्त्र को अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन मनोविज्ञान और जीवन के वास्तविक अनुभवों के आधार पर करना चाहिये न कि अध्यात्मवाद के आधार पर । उसका क्षेत्र यथार्थवाद, अनुभववाद, वास्तविकतावाद और प्रतिभासवाद तक ही सीमित रहना चाहिये । उसका पारमार्थिक सत्य से सम्बन्ध नहीं है । अपने विषय के लिए उसे व्यक्ति और मानवता के प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन पर ही निर्भर रहना चाहिये । इसमें कोई सन्देह नहीं कि नीतिशास्त्र का क्षेत्र तत्त्वदर्शन से अधिक सीमित है । अपने आदर्श के मापदण्ड के लिए तत्त्वदर्शन पर निर्भर होने पर भी वह मूलत: व्यावहारिक विज्ञान है । किन्तु विज्ञान और दर्शन में अन्तर प्रकार का नहीं, मात्रा का है । तत्त्वदर्शन नैतिक ज्ञान की अपूर्णता की पूर्ति करता है । कोई भी नैतिक सिद्धान्त मन को तब तक सन्तोष नहीं दे सकता है जब तक कि वह विश्व और विश्व में मनुष्य के स्थान के बारे में भी तर्कसम्मत ज्ञान का प्रतिपादन न कर ले । नैतिक मान्यताओं का व्यापक, गूढ़ और निश्चयात्मक ज्ञान दृश्यमान से परे पारमार्थिक सत्य पर निर्भर है । ईश्वर, आत्मा और विश्व का पूर्ण ज्ञान ही नैतिक आदर्श को प्रेरणात्मक बना सकता है, उसमें जीवन और गति का स्फुरण भर सकता है । नैतिक आदर्श कल्पना की सृष्टि नहीं है । यह मनुष्य की अनन्त

सम्भावनाओं और पूर्णताओं तथा उसके देवत्व का सूचक है। वस्तुओं का तात्त्विक ज्ञान ही नैतिकता का सन्तोषप्रद स्पष्टीकरण कर सकता है। वह नैतिक निर्णयों की प्रामाणिकता और वस्तुपरकता को समझा सकता है। मानव-जीवन का सार-तत्त्व विश्व-सार-तत्त्व का अंग है, नैतिक व्यवस्था वैश्व व्यवस्था का अंग है, नैतिक प्रणाली वैश्व प्रणाली का अंग है।

५

नीतिशास्त्र का मनोवैज्ञानिक आधार तथा नैतिक निर्णय का विषय

मनोवैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता—मनोवैज्ञानिक मनुष्य को वास्तविक स्थिति तथा क्रियाकलाप का ज्ञान देता है। यह मानव-मन का विज्ञान है। नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान को असम्बद्ध नहीं मानना चाहिए। नैतिक सिद्धान्त की सार्थकता और पूर्णता को समझने के लिए मनुष्य के मानस का ज्ञान अनिवार्य है। आदर्शविधायक विज्ञान होने के कारण नीतिशास्त्र मनुष्य के नैतिक जीवन का तथ्यात्मक अध्ययन करता है। नीतिशास्त्र का सम्बन्ध मानव-चेतना से है। मनुष्य आत्म-प्रबुद्ध चेतन प्राणी है। उसके जीवन में कर्त्तव्य और अधिकार अपनी विशेष सार्थकता रखते हैं। उसके कर्मों के सम्मुख औचित्य और अनौचित्य का प्रश्न उठता है। किन्तु इस प्रकार के विवेचन मनुष्य के मानसिक विकास के सूचक हैं। अबोध बालक, पागल, अपसामान्य, निर्बुद्धि, मूढ़ और अल्पमति व्यक्तियों तथा जंगली मनुष्यों के आचरण पर नैतिक निर्णय अर्थशून्य है। मनुष्य के लिए वांछनीय जीवन क्या है? उसकी स्वाभाविक प्रकृतिजन्य विशिष्टता क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर देने के पूर्व यह आवश्यक है कि मनुष्य के स्वभाव और उसके निर्माणात्मक तत्त्वों को भली-भाँति समझ लें।

मनोविज्ञान से सम्बन्ध—मनोविज्ञान मनुष्य के मानस तथा उसके व्यक्तित्व का अध्ययन करता है। वह बताता है कि ज्ञान, संकल्प और भावना कैसे कार्य करती हैं। मनुष्य स्वेच्छाकृत कर्मों को कैसे निर्धारित करता है। मन के

निर्माणात्मक तत्त्व क्या हैं। कर्म की प्रेरणाशक्ति क्या है। मनुष्य अपने कर्मों में कहाँ तक सचेत है। उसे उसके कर्मों के लिए कहाँ तक उत्तरदायी ठहरा सकते हैं। उसके कर्म भावना-प्रधान हैं या बुद्धि-प्रधान। मानव-चरित्र के विकास में वंशानुगत गुणों, वातावरण, परिवेश आदि का कितना हाथ है। इस प्रकार मनोविज्ञान मानसिक घटनाओं का अध्ययन करता है। नीतिशास्त्र मनुष्य के मानसिक जीवन का अध्ययन कर नैतिक निर्णय देता है। कर्मों के बाह्य परिणामों के आधार पर निर्णय देना अनुचित है। नैतिक दृष्टि से ध्येय, प्रेरणा और मानसिक प्रवृत्तियों को समझना आवश्यक है। बाह्य परिणाम कर्त्ता के सत्य स्वभाव एवं चरित्र को पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं करते। वह यह अवश्य बताते हैं कि उसके कर्मों की दूसरों पर क्या प्रतिक्रिया हुई। अरस्तू ने कहा है कि नीतिशास्त्र उस मानवीय शुभ को निर्धारित करता है जिसका सम्बन्ध मानव-व्यक्तित्व से है। इसी तथ्य को मानते हुए आधुनिक सभी नीतिज्ञ यह कहते हैं कि उनकी खोज का मुख्य लक्ष्य मानव का मानसिक धरातल है। नैतिक जिज्ञासा मनश्चेतना के ज्ञान के पश्चात् ही अपने मार्ग में अग्रसर हो सकती है। यही कारण है कि विभिन्न नीतिज्ञों ने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि मनोविज्ञान द्वारा की है। सुखवादियों ने मनुष्य को ऐन्द्रियिक मानकर अपने सिद्धान्त को समझाया है और बुद्धिपरतावादियों ने मनुष्य को शुद्ध बुद्धिमय समझा है। तीसरे प्रकार के विचारक हैं जो मनुष्य को बुद्धि और भावना का योग मानते हैं। मनुष्य की प्रकृति के ज्ञान के अनुरूप ही इन विचारकों ने नैतिक आदर्श के स्वरूप को समझाया है। मनुष्य का परमवांछनीय शुभ उसकी स्वाभाविक प्रकृति का प्रतिबिम्ब है, यह सभी जानते हैं। किन्तु अपनी-अपनी मनोवैज्ञानिक धारणाओं के आधार पर उनमें उसके स्वरूप के बारे में मतभेद है। जैसा कि सिद्धान्तों के अध्ययन से स्पष्ट हो जायगा कि मनश्चेतना का अपूर्ण ज्ञान ही एकांगी और अपूर्ण नैतिक सिद्धान्तों का जनक है। जीवन के वांछनीय शुभ को समझने के लिए मनुष्य की मनश्चेतना तथा उसके व्यक्तित्व का उचित ज्ञान अनिवार्य है। वास्तविक तथ्यों के आधार पर ही परमसाध्य और उसको प्राप्त करने के साधनों पर

प्रकाश डाला जा सकता है। विभिन्न नैतिक विवाद— आचरण का स्वरूप, निर्णीत कर्म के निर्माणात्मक अंग, उद्देश्य, प्रेरणा, संकल्प एवं मनःशक्ति की स्वतन्त्रता आदि अपनी पुष्टि मनोविज्ञान के ही द्वारा करते हैं। नैतिक निर्णय मानव-स्वभाव के पूर्ण अध्ययन के पश्चात् ही सम्भव है। नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान के घनिष्ठ सम्बन्ध को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। महत्त्वपूर्ण नैतिक धारणाएँ मनोवैज्ञानिक धारणाएँ भी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। किन्तु यह अवश्य है कि शुभ और अशुभ, औचित्य और अनौचित्य के बारे में उनमें मौलिक मतभेद है। इसका कारण यह है कि मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष सम्बन्ध 'क्या है' से है न कि 'क्या होना चाहिये' से।

नैतिक सिद्धान्तों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नीतिज्ञों ने परमशुभ के बारे में विभिन्न मत दिये हैं। इसका क्या कारण है ? यदि परमशुभ मनुष्य के सत्यस्वरूप के अनुरूप है तो वह अनेक कैसे हो सकता है ? यदि मनुष्य का परमवांछनीय शुभ उसकी वास्तविक आत्मा का प्रतिबिम्ब है तो वांछनीय शुभ के बारे में मतभेद का क्या कारण है ? इस मतभेद के मूल में अपूर्ण मनोवैज्ञानिक ज्ञान ही है। सैद्धान्तिकों ने मनुष्य के स्वभाव को दो भागों में विभाजित कर दिया है—बौद्धिक और अबौद्धिक। वह यह भूल गये कि व्यक्ति बुद्धि और भावना की सामंजस्यपूर्ण इकाई है। बुद्धि और भावना एक-दूसरे के पूरक हैं। जीवन की उन्नति और कल्याण इन दोनों के समन्वय से सम्भव है। किन्तु इस तथ्य को भूलते हुए कुछ नीतिज्ञों ने बुद्धि को प्रधानता दी और कुछ ने भावना को; अथवा एक ओर बुद्धिपरतावाद मिलता है और दूसरी ओर इन्द्रियपरतावाद। मनुष्य न तो शुद्ध बुद्धि है और न केवल भावना है। उपर्युक्त दोनों सिद्धान्त अमनोवैज्ञानिक हो जाने के कारण अनैतिक हो गये हैं। मानव-स्वभाव की भ्रान्त धारणा इस एकांगी सिद्धान्त के लिए दोषी है। अतः मानसविज्ञान से अनभिज्ञ होना नीतिज्ञों के लिए कुछ कम खतरे की बात नहीं है। उनका व्यावहारिक दर्शन पंगु तथा अव्यावहारिक हो जाता है। मनोविज्ञान का अधूरा ज्ञान नीतिशास्त्र के उन दुर्बल और क्षीण सिद्धान्तों को जन्म देता है जिनके कि आंशिक सत्य को मानते हुए भी हम

मोडना पड़ता है। नीतिशास्त्र का सम्बन्ध सम्पूर्ण व्यक्ति से है। नैतिक प्राणी कर्त्ता है। वह अपने इस रूप में ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और रागात्मक प्रवृत्तियों का संयोजित रूप है। उसकी संकल्प-शक्ति उसके बौद्धिक, अबौद्धिक स्वभाव का व्यक्त रूप है। संकल्प शक्ति में दोनों ही निहित हैं। उसकी संकल्पशक्ति वह क्रिया हैं जिसकी बुद्धि और भावना अनिवार्य अंग है, जिसमें दोनों ही सम्मिलित हैं। नीतिशास्त्र विज्ञान होने के नाते मनोविज्ञान के क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं कर सकता है। इसीलिए सिजविक ने कहा है कि मैं नीतिशास्त्र को एक अध्ययन अथवा विज्ञान के रूप में देखना पसन्द करता हूँ जो हमें इसका ज्ञान देता है कि उचित क्या है और वास्तव में क्या होना चाहिये—जहाँ तक कि वह व्यक्तियों के स्वेच्छा-प्रेरित कर्म पर अवलम्बित है। इसी आधार पर नीतिशास्त्र को एथौलौजी (Ethology) या चरित्र अथवा चित्तवृत्तियों का विज्ञान भी कहा गया है।

नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी अन्तर है। नीतिशास्त्र का क्षेत्र अधिक व्यापक है। वह वास्तविक मानसिक घटनाओं के आगे उस भविष्य को समझना चाहता है जो कि मानवीय गौरव का प्रतीक है। वह यथार्थ घटनाओं को समझकर तत्त्वदर्शन की सहायता से आदर्श का निर्माण करता है। मनोविज्ञान इसे केवल स्वेच्छाकृत कर्मों और उनके स्रोत के बारे में बताता है; नैतिक मान्यताओं और निर्णयों का वास्तविक घटनाओं की भाँति अध्ययन करता है। नीतिशास्त्र मनुष्य के आत्मिक सत्य और उसके तात्त्विक स्वरूप को भी समझने का प्रयास करता है। वह मनश्चेतना के वास्तविक और दृष्टिगोचर रूप तक ही अपने को सीमित नहीं रखता। मानव-आत्मा के पूर्ण रूप को समझने के लिए प्रयोगशाला पर्याप्त नहीं है। नीतिशास्त्र आदर्शविधायक विज्ञान है। वह व्यावहारिक और विधि-निषेधात्मक है। मनोविज्ञान यथार्थ विज्ञान है। यह मानसिक घटनाओं का तथ्यात्मक अध्ययन तथा मानव-चरित्र का विश्लेषण करता है और इस अर्थ में यह सैद्धान्तिक है। नीतिशास्त्र आचरण के औचित्य और अनौचित्य के मापदण्ड को निर्धारित करता है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध 'क्या है' से है और

नीतिशास्त्र का सम्बन्ध 'क्या होना चाहिये' से है। क्या होना चाहिए को निर्धारित करने के लिए ही वह मनोविज्ञान के आगे दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश करता है। मानसिक तथ्यों के ज्ञान के आधार पर वह नैतिक आदर्श की प्राप्ति के लिए साधन जुटाता है। नैतिक तथ्य मानसिक अवश्य है। किन्तु इसके अर्थ यह नहीं हैं कि नीतिशास्त्र मनोविज्ञान पर आधारित है। आचरण का तथ्यात्मक ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् वह आचरण के आदर्श का प्रतिपादन करता है। नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों ही मानव-चेतना को दो भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं। मनोवैज्ञानिक वैज्ञानिक की भाँति मानव-चेतना की विभिन्न स्थितियों का विश्लेषण करता है और नीतिज्ञ कला के आलोचक की भाँति उसका मूल्यांकन करता है।

नैतिक निर्णय का विषय—आचरण—नैतिक दृष्टि वैज्ञानिक की दृष्टि से भिन्न है। यथार्थ विज्ञान की भाँति यह मानसिक घटनाओं तक ही अपने को सीमित नहीं रखती है बल्कि उनके औचित्य-अनौचित्य को निर्धारित करती है। नैतिक निर्णय का विषय मनुष्य का आचरण है। नैतिक निर्णय आत्म-चेतन प्राणी के स्वेच्छाकृत कर्मों पर ही दिया जाता है। वह प्राकृतिक घटनाओं, अप्रबुद्ध लोगों, पागलों तथा बच्चों के कर्मों पर नहीं दिया जाता है। उन्हीं कर्मों पर नैतिक निर्णय दिया जा सकता है जिनके लिए कर्त्ता उत्तरदायी है, जिन्हें कि वह समझ-बूझकर स्वेच्छा से करता है। स्वेच्छा से किये हुए कर्मों का क्या रूप है, नैतिक निर्णय वस्तुतः किस पर देते हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि नैतिक निर्णय आचरण पर देते हैं; और आचरण को ही मनोवैज्ञानिक परिभाषा में स्वेच्छाकृत एवं इच्छित कर्म (Willed-action) कहते हैं।

दो प्रकार के कर्म—इच्छित और अनिच्छित—इच्छित कर्म को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समझने के पूर्व उसकी अन्य कर्मों से तुलना कर लेना उचित होगा। मनुष्य के कर्म दो प्रकार के होते हैं; इच्छित और अनिच्छित। अनिच्छित कर्म नैतिक गुण से हीन हैं। उनके अन्तर्गत उत्क्षिप्त, सहजप्रेरित, आवेगपूर्ण, अप्रबुद्ध आदि कर्म आते हैं। ये कर्म स्वतःजात होते हैं। आकस्मिक आवेग के कारण व्यक्ति उन्हें करता है। स्वतःजात और आकस्मिक होने के कारण अनिच्छित कर्म अपने किसी भी रूप में नैतिक निर्णय का

विषय नहीं हो सकते। उनके लिए कर्त्ता को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। इच्छित कर्म वे हैं जिन्हें कि कर्त्ता स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विवेक से परिचालित करता है। उन कर्मों को आत्म-निर्णीत (Self-determined) या बौद्धिक कर्म भी कहते हैं। कर्त्ता इन कर्मों के लिए उत्तरदायी है। ये नैतिक निर्णय के क्षेत्र के अन्दर आते हैं।

अभ्यासगत कर्म भी इच्छित हैं—ध्यान देने की बात है कि अभ्यासगत कर्मों पर भी नैतिक निर्णय देते हैं। यह कहा जा सकता है कि अभ्यासगत कर्म अनिच्छाप्रेरित और दुर्निवार (Irresistible) होते हैं। किन्तु मनोविज्ञान का कहना है कि केवल स्थूल दृष्टि से ही अभ्यासगत कर्मों को अनिच्छाप्रेरित कह सकते हैं। मानसिक और शारीरिक अभ्यासों का अनुशीलन करने से प्रतीत होगा कि प्रारम्भ में वे स्वेच्छाप्रेरित कर्म होते हैं और समय के साथ दुहराये जाने से वे अभ्यास बन जाते हैं। अतः बुरे अभ्यासों वाला व्यक्ति अथवा दुःशील व्यक्ति अपने आचरण के लिए उत्तरदायी है। उसे प्रारम्भ में ही अपने अभ्यासों में सुधार अथवा परिवर्तन कर लेना चाहिये। यह सत्य है कि धीरे-धीरे अभ्यास मनुष्य के स्वभाव का अंग बन जाते हैं। किन्तु मनुष्य का कर्तव्य है कि वह दृढ़ निश्चय और मनःशक्ति द्वारा बुरे अभ्यासों को छोड़ दे या उनका उन्नयन कर ले। मनुष्य को अपने जीवन के हर क्षेत्र में, प्रत्येक कर्म में सुरुचि और सुथरेपन को अपनाना चाहिये। उसके जीवन में छोटे-से-छोटे कर्म का भी महत्त्व है, चाहे वह घास छीलना ही क्यों न हो। नैतिक ज्ञान बताता है कि निर्णीत कर्म का सम्बन्ध जीवन के किसी एक अंग से नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जीवन से है।

आचरण का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण—पशु और मनुष्य के कर्मों में भेद—यदि पशुओं के जीवन की ओर ध्यान दें तो हमें मालूम होगा कि वे अपने कर्मों में सहजप्रवृत्तियों और अन्धप्रवृत्तियों से प्रेरित हैं। उनके कर्म भावना से संचालित होते हैं, किन्तु मनुष्य के कर्म उनसे भिन्न हैं। मनुष्य में भी अनेक प्रवृत्तियाँ और आवेग होते हैं। उसके इच्छित कर्म में स्रोत के रूप में आवेग वर्तमान रहता है। किन्तु बौद्धिक होने के कारण वह 'आगे-पीछे' की बात भी सोचता है। वह अपने आवेगों और प्रवृत्तियों का स्वामी है। वह अपनी

संवेदनाओं और आवेगों के जीवन में ध्येय का निर्माण करता है। वह अपने अनुभवों और प्रवृत्तियों के अर्थ समझता है। पशु वाह्य प्रभावों से अपने को मुक्त नहीं कर सकता, किन्तु मनुष्य वाह्य प्रभावों तथा आन्तरिक आवेगों का आलोचनात्मक अध्ययन करके अपने कर्मों को वौद्धिक चेतना से निर्धारित कर सकता है। इस अर्थ में उसके कर्म आत्मनिर्णीत हैं।

निर्णीत कर्म के निर्माणात्मक अंग—निर्णीत अथवा स्वेच्छाकृत कर्म के चार निर्माणात्मक अंग हैं; भावना, इच्छा, विवेचन और निर्णय। उपर्युक्त अंगों को समझने के लिए यदि हम यह उदाहरण लें कि परीक्षा का विचार आते ही विद्यार्थी खेलना छोड़कर पढ़ने बैठ जाता है तो यह निर्णीत कर्म कहलायेगा। निर्णीत कर्म सचेत कर्म है। कर्त्ता परिस्थिति-विशेष के वारे में पूर्ण रूप से जागरूक रहता है। परीक्षा का विचार विद्यार्थी के मन में खेलने के प्रति विरक्ति उत्पन्न कर देता है। उसमें अतृप्ति की भावना उत्पन्न होती है। भावना परिस्थिति के परिणामस्वरूप सुख और दुःख की सूचक है। प्रत्येक सचेत कर्म में भावना का स्तर रहता है। विद्यार्थी को खेलते समय उदासीनता अनुभव होती है। यह आवश्यकता या अभाव की भावना उसमें इस इच्छा को उत्पन्न करती है, 'मुझे पढ़ना चाहिये'। अथवा भावना में सदैव इच्छा निहित रहती है। अभाव की भावना के साथ ही इस अभाव, अशान्ति को दूर करने की इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा भावना का ही सक्रिय रूप है। साथ ही यह भी सत्य है कि इच्छा के साथ मनुष्य की अभिरुचि का भी सम्बन्ध है। यदि विद्यार्थी की रुचि पढ़ने में नहीं है तो उसके मन में कोई अन्य इच्छा बलवती हो उठेगी।

इच्छा का महत्त्व—मनुष्य की इच्छा सदैव किसी विशिष्ट ध्येय या लक्ष्य की ओर संकेत करती है। मनुष्य इस ध्येय के वारे में सचेत होता है। व्यक्ति इच्छित ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रयास करता है। उसके मानस के सम्मुख दो परिस्थितियाँ रहती हैं, वर्तमान और वांछित परिस्थिति। इच्छा मन की वर्तमान परिस्थिति और अप्राप्त भावी परिस्थिति के बीच की खिंचाव की अवस्था है। यह दो परिस्थितियों के वीच के संघर्ष की स्थिति है। कर्त्ता यह

सोचता है कि वह अपने इच्छित ध्येय को कैसे प्राप्त करे। वह उसको प्राप्त करने वाले साधन और परिणाम के बारे में सोचता है। किन्तु कई बार ऐसा होता है कि उसमें एक से अधिक इच्छाओं का प्रादुर्भाव हो जाता है, जो उसके लिए मानसिक संघर्ष की स्थिति होती है। उसे विभिन्न इच्छाओं में से एक इच्छा को चुनना होता है। इन इच्छाओं का स्वरूप उसके चरित्र के अनुरूप होता है। उसमें उसके व्यक्तित्व के समान ही भिन्न श्रेणियों की इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। प्रत्येक इच्छा के सम्मुख भिन्न लक्ष्य रहता है, मनुष्य का चरित्र ही उन इच्छाओं का जनक है। उसी की भिन्न मानसिक अवस्थाओं की वे व्यक्त रूप हैं। एक ही चरित्र में इच्छाओं के विभिन्न स्तर मिलते हैं। एक स्तर उसे आत्म-सुख की ओर ले जाता है तो दूसरा पर-सुख की ओर और तीसरा वैराग्य की ओर। इस प्रकार के और भी अनेक स्तर हो सकते हैं। और प्रत्येक स्तर अपने पूर्ण प्रभावों के साथ उसके सम्मुख आता है। यह मानसिक अथवा आन्तरिक संघर्ष की स्थिति है। उसके विभिन्न दृष्टिकोण उसके सम्मुख अपनी-अपनी विशिष्टता रखते हैं। वह केवल योद्धा ही नहीं, योद्धा और युद्ध दोनों ही है। यह स्थिति वास्तव में विवेचन की स्थिति है। वह निष्पक्ष रूप से सोचना चाहता है कि उसे क्या करना चाहिये। वह अपनी ही आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं पर चिन्तन और मनन करता है; विकल्पों के पक्षान्तरों को समझना चाहता है और जब विवेचन के परिणामस्वरूप संकल्प-शक्ति किसी एक इच्छा को स्वीकार कर लेती है तब यह निर्णय की अवस्था कहलाती है। किन्तु केवल निर्णय पर नैतिक निर्णय नहीं देते हैं। यदि कोई विद्यार्थी केवल यह निर्णय करके सन्तोष कर ले कि शाम से मन लगाकर पढ़ूंगा और वास्तव में न पढ़े तो यह नहीं कह सकते कि वह सचमुच में ही अध्ययन-शील विद्यार्थी है। इसी प्रकार परोपकार का निर्णय कई व्यक्ति करते हैं। किन्तु जब तक वे इस निर्णय को अपने आचरण का अंग न बना लें, निर्णय को वास्तविक रूप न दे दें, उन्हें परोपकारी नहीं कह सकते। मनुष्य की संकल्प-शक्ति जब स्वीकृत इच्छा के अनुरूप कार्य करने लगती है, कर्म के रूप में परिणत हो जाती है तब वह नैतिक निर्णय का विषय हो जाती है। (यहाँ यह

समझना आवश्यक है कि संकल्प-शक्ति किसी नवीन परिस्थिति का निर्माण नहीं करती। वह इच्छाओं, आवेगों एवं प्रवृत्तियों को ही राह दिखाती है। जब संकल्प-शक्ति बाहरी स्वरूप धारण कर लेती अथवा बाहर की ओर प्रवाहित हो जाती है तब वह आचरण में परिणत हो जाती है। संकल्प-शक्ति दृढ़ निश्चय के कारण ही एक विशिष्ट रूप धारण करती है; प्रबल इच्छा को कर्म में बदल देती है। निर्णीत कर्म संकल्प-शक्ति का ही यथार्थ और वास्तविक रूप है और संकल्प-शक्ति चरित्र या आत्मा के स्वरूप को व्यक्त करती है। संकल्प-शक्ति या मनुष्य के निर्णय का मूल्य तभी आंक सकते हैं जब वह आचरण का रूप धारण कर लेता है। मनुष्य के व्यक्तित्व की महत्ता और नैतिकता तभी सिद्ध हो सकती है जब कि वह उचित रूप से व्यवहार करे।

नैतिक कर्म की समस्या—निर्णीत कर्म में जहाँ तक इच्छाओं का स्वरूप-विवेचन और निर्णय का प्रश्न है, नैतिक और अनैतिक प्राणी की विचार-प्रणाली में भेद है। जहाँ तक जंगली, अप्रबुद्ध व्यक्तियों का प्रश्न है वे अपनी प्रवृत्तियों, आवेगों और बाह्य प्रभावों के अनुरूप कर्म करते हैं। कुछ व्यक्ति तो इतनी अभ्यस्त प्रकृति के होते हैं कि वह बिना सोचे-समझे अपने जीवन-मार्ग में चलते रहते हैं। उनका विवेचन और चिन्तन एक प्रकार से यान्त्रिक-सा होता है। उनकी निर्णयात्मक शक्ति कुंठित हो जाती है। उनके जीवन में उचित मानसिक द्वन्द्व के लिए कोई स्थान नहीं है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे चरित्र भी होते हैं जो अत्यन्त स्वार्थी और लोभी प्रवृत्तियों को पालते हैं; आत्म-लाभ को सम्मुख रखकर वे मानसिक द्वन्द्व से मुक्ति पा लेते हैं। कुछ ऐसे अप-सामान्य लोग भी होते हैं जो मानसिक संघर्ष में ही पड़े रहते हैं। अपने मार्ग को निर्धारित नहीं कर पाते हैं। इसी प्रकार व्यक्तियों को विभिन्न वर्गों में बाँटा जा सकता है। किन्तु नैतिक जीवन आत्म-संचालित जीवन है जिसका क्षेत्र स्वेच्छाकृत कर्म है। नैतिक दृष्टि से स्वेच्छाकृत कर्म को केवल मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तक सीमित करना उचित नहीं होगा। नैतिक प्राणी गूढ़ विवेचन द्वारा ही अपने कर्म को निर्धारित करता है। वह उपयोगी या परिस्थिति के अनुकूल कर्मों को नहीं करता है। उसके कर्मों का उचित होना आवश्यक

है। नैतिक प्राणी के स्वेच्छाकृत कर्म को भी इच्छाएँ और आवेग जन्म देते हैं। नैतिक कर्म का मुख्य लक्षण यह है कि उसे अपनाने के पूर्व व्यक्ति का धर्म हो जाता है कि वह कर्म का व्यापक और पूर्ण मूल्यांकन करे; भिन्न पक्षान्तरों के सम्मुख होने पर इस पर विचार करे कि उसके लिए किस पक्षान्तर को अपनाना उचित होगा। कर्म के औचित्य-अनौचित्य की समस्या ही नैतिक समस्या है। इस समस्या के मूल में स्वार्थ-परमार्थ, सहजप्रवृत्ति-न्याय, भावना कर्तव्य तथा विश्वास और औचित्य का विरोध एवं असमानता है।

यदि नैतिक चेतना सम्पन्न व्यक्ति समान रूप से बलवती इच्छाओं अथवा आत्महित और परहित के द्वन्द्व में फँस जाता है तो उसे निष्पक्ष चिन्तन की आवश्यकता पड़ जाती है। वह देखता है कि एक सुजन व्यक्ति-विशेष के विरुद्ध कहने मात्र से वह अपने नंगे-भूखे बच्चों, परिवार एवं आत्मीयों को सुख-समृद्धि और उचित शिक्षा में सहायक होगा तो उसके सामने एक और अनेक तथा अपने और पराये का प्रश्न उठेगा। नैतिक आचरण औचित्य और न्याय का आचरण है, अतः भावना या दया से संचालित नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ऐसे द्वन्द्वों की विभिन्न परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। प्रश्न यह है कि सदाचार का इच्छुक व्यक्ति अपने मार्ग को कैसे निर्धारित करे। क्या प्रत्येक द्वन्द्व की स्थिति में वह नैतिक नियमों की संहिता देखे ? यदि हाँ तो क्या ऐसी संहिता सम्भव एवं उपलब्ध है ? नैतिक नियम निश्चित और अपरिवर्तनशील नहीं हैं। वे देश, काल और परिस्थिति से विमुख नहीं हो सकते। नैतिक कर्म परम ध्येय के लिए साधनमात्र हैं। अतः विवेकी व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह नियमों का अन्धानुकरण न करे बल्कि देशकाल और परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रयास करे।

कर्म के औचित्य को निर्धारित करने के लिए, मानसिक संघर्ष की स्थिति में, व्यक्ति को पक्षान्तरों एवं विकल्पों के पक्ष-विपक्ष को समझने का प्रयास करना पड़ता है। वह सब प्रकार के सम्भाव्य परिणामों को अपने सम्मुख रखता है। उनका तुलनात्मक परीक्षण और युक्तिसंगत विवेचन करता है। उन परिस्थितियों के साथ काल्पनिक तादात्म्य अनुभव करके उन्हें अपनी

नैतिक अन्तर्दृष्टि द्वारा भली-भाँति समझ लेना चाहता है। वह यह भी जानना चाहता है कि किसी विशिष्ट विकल्प को स्वीकार करके, उसके अनुरूप कर्म करने से वह दूसरों की स्थिति को कहाँ तक प्रभावित करेगा। वह अपने आचरण द्वारा दूसरों की नैतिक हानि तो नहीं करेगा। अपने सम्मुख व्यापक दृष्टिकोण रखकर वह विकल्पों में निहित मान्यताओं का मूल्यांकन करेगा। वह साध्य और साधन को समझना चाहता है। उसके लिए आवश्यक है कि उसका ध्येय और उसे प्राप्त करने के उपाय दोनों ही शुभ हों। वह यदि किसी निर्धन को धन देना चाहता है तो इस धन को वह किसी अमीर का गला काटकर नहीं लायेगा। या तो स्वतः इस धन को अर्जित करेगा या अमीर की नैतिक चेतना को जागरित करेगा। नैतिक कर्म करने के लिए सम्पूर्ण परिस्थिति को भली-भाँति समझना आवश्यक है।

आचरण के दो रूप : बाह्य और आन्तरिक—नैतिक निर्णय का विषय, जैसा कि कह चुके हैं, मनुष्य का आचरण है और मनोविज्ञान यह बताता है कि जब संकल्पशक्ति व्यक्ति के चरित्र के अनुरूप उसकी प्रबल इच्छा से समीकरण करके कार्य रूप में परिणत हो जाती है तब उसे आचरण कहते हैं। इस प्रकार आचरण के दो रूप सम्मुख आते हैं—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक रूप में यह निर्णय करने वाली संकल्पशक्ति है और बाह्य रूप में कार्यरत आत्मा या संकल्पशक्ति। एक दृष्टि से आचरण वह संकल्पशक्ति है जो चेतन कर्म द्वारा अपने को व्यक्त करती है। संकल्पशक्ति के रूप में यह भावना और इच्छा है, जिसके सम्मुख एक विशिष्ट ध्येय है और दूसरी दृष्टि से यह कर्म है। कर्म में परिणाम भी अन्तर्हित रहता है। एक ओर संकल्पशक्ति ध्येय और प्रयोजन की सूचक है और दूसरी ओर आचरण और परिणाम की। अपने क्रियात्मक रूप में यह परिणाम (कार्य) का कारण है। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि नैतिक निर्णय संकल्पशक्ति के किस रूप पर देते हैं? प्रयोजन पर या परिणाम पर? कार्य पर या कारण पर? उस प्रबल इच्छा पर देते हैं जिसके अनुसार संकल्पशक्ति कर्म करती है या उन घटनाओं पर जो कर्म करने पर उत्पन्न होती हैं? अथवा आचरण का औचित्य-अनौचित्य भावना और इच्छा

के स्वरूप पर निर्भर है या उन परिणामों पर जो संकल्पशक्ति के कार्य रूप में परिणत होने पर उत्पन्न होते हैं ? कुछ नीतिज्ञों ने आचरण के इन दो रूपों के बीच परम भेद देखा और इस भ्रान्त धारणा के आधार पर कुछ ने प्रेरणा (आन्तरिक रूप) को और कुछ ने परिणाम (बाह्य रूप) को नैतिक निर्णय का विषय कहा।

प्रेरणा—प्रेरणा (motive) और परिणाम (consequences) के बारे में नीतिज्ञों के विभिन्न मत हैं। पहले प्रेरणा को समझने का प्रयास करेंगे। प्रेरणा के स्वरूप के बारे में एक ओर कांट, बटलर और सहजज्ञानवादियों का मत मिलता है और दूसरी ओर बैंथम और मिल का। दोनों ही प्रकार के विचारकों ने प्रेरणा को भिन्न अर्थ में समझा है। प्रेरणा किसे कहते हैं ? इससे क्या अभिप्राय है ? सुखवादियों (बैंथम, मिल) के अनुसार प्रेरणा वह है जो कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। सुख-दुःख की भावना ही प्रेरणा है। प्रेरणा ही कर्म का स्रोत है। सब प्रेरणाओं का एक ही स्वरूप होता है—सुख की खोज और दुःख से दुराव। प्रेरणा गुणहीन है। यह अपने-आपमें न तो अच्छी ही है और न बुरी ही। परिणाम के सन्दर्भ में ही इसे अच्छा या बुरा कह सकते हैं। सुखवादियों के अनुसार प्रेरणा भावनामात्र है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कई बार मनुष्य भावनावश कर्म करते हैं। किन्तु नैतिक निर्णय उस आचरण पर दिया जाता है जो कि साभिप्राय कर्म है। साभिप्राय कर्म का परम-कारण भावना नहीं है। मनोविज्ञान बताता है कि भावना निर्णीत कर्म का अनिवार्य अंग है। इसे कर्म का निमित्त कारण कह सकते हैं किन्तु परम-कारण नहीं। यह निर्णीत कर्म का अंग होते हुए भी व्यक्ति को पूर्ण रूप से कर्म करने के लिए प्रेरित नहीं कर सकती। भावना और इच्छित ध्येय की धारणा मिलकर ही व्यक्ति को कर्म करने के लिए प्रेरित करती हैं। अतः भावना को कार्य का प्रेरक नहीं कह सकते। यह कर्म का स्रोत नहीं है। अथवा प्रेरणा भावनामात्र नहीं है। यह वह प्रबल इच्छा है जो कि कर्म की प्रवर्त्तक है, या जिसके लिए कर्म किया जाता है। माँ-बाप के सम्मुख उनके बच्चे का हित है। बच्चे का हित वह प्रबल इच्छा या प्रेरणा है जो कि

उन्हें प्रेरित करती है कि बच्चे की बुरी आदतों को छुड़ाने के लिए उसे दण्डित करें। यहाँ पर प्रेरणा बच्चे का हित है। प्रेरणा का सम्बन्ध प्रत्यक्ष ध्येय से है। प्रेरणा वह है जिसके लिए कि व्यक्ति कर्म करता है, जिसे वह चुनता है। प्रेरणा इस अर्थ में कर्म का परम कारण है, कर्म का आन्तरिक स्रोत है। यहाँ पर कांट और बटलर का कहना है कि कर्म का औचित्य-अनौचित्य प्रेरणा पर निर्भर है। परिणाम से नैतिकता का कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि प्रेरणा पवित्र है तो कर्म पवित्र है। संक्षेप में एक मत के अनुसार प्रेरणा द्वारा ही कर्म के औचित्य को निर्धारित कर सकते हैं और दूसरे के अनुसार परिणाम द्वारा।

उद्देश्य—परिणाम को महत्त्व देते हुए बैंथम ने कहा कि कर्म के औचित्य को समझने के लिए उद्देश्य (intention) को समझना चाहिये। उद्देश्य का क्षेत्र प्रेरणा से अधिक व्यापक है। प्रेरणा वह है जिसके लिए कर्म किया जाता है किन्तु उद्देश्य केवल वह नहीं है जिसके लिए कर्म किया जाता है। किन्तु वह भी है जिसमें परिणाम को समझ-बूझकर कर्म किया जाता है। इसमें सब प्रकार की सम्भावनाएँ सोच ली जाती हैं। यदि बच्चे और माँ-बाप वाला ही उदाहरण लें तो मालूम होगा कि माँ-बाप यह भली-भाँति जानते थे कि बच्चे को सुधारने के लिए उसे दण्डित करना पड़ेगा। उद्देश्य के अन्तर्गत प्रेरणा और परिणाम दोनों ही आते हैं। किन्तु प्रेरणा के अन्तर्गत उद्देश्य नहीं आता है। प्रेरणा के सम्मुख बच्चों की भलाई है, न कि उसे दण्डित करना। उसका सम्बन्ध साध्य से है। उद्देश्य का साध्य और साधन दोनों से है। किसी भी कर्म को सोद्देश्य कहने का अर्थ यही होता है कि उस कर्म के बारे में कर्ता को पूर्ण ज्ञान है। वह जानता है कि उसे किन साधनों को अपनाना होगा और उस कर्म के सम्भाव्य परिणाम क्या होंगे। सम्पूर्ण परिस्थिति को समझकर और स्वीकार करके ही वह कर्म करता है। परिणामों के बारे में वह उत्तरदायी है। फिर भी यह सम्भव हो सकता है कि कभी अकस्मात् ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय कि उसकी कल्पना उसने स्वप्न में भी न की हो। ऐसी परिस्थिति के लिए कर्ता को प्रत्यक्ष रूप से दोषी नहीं ठहरा सकते।

इतना अवश्य कह सकते हैं कि उसने दूरदर्शिता से काम नहीं लिया। अतः उद्देश्य के सम्मुख केवल ध्येय ही नहीं है किन्तु उस ध्येय की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधन भी है। यह प्रेरणा से इस अर्थ में व्यापक है कि इसमें प्रेरक और निवारक अथवा प्रवर्तक और निवर्तक दोनों ही सम्मिलित हैं।

प्रेरणा और परिणाम के विवाद का निष्कर्ष—सहजज्ञानवादियों का यह कहना है कि कर्म का औचित्य-अनौचित्य प्रेरणा पर निर्भर है। निर्णीत कर्म में प्रेरणा अथवा कर्म के स्रोत की पवित्रता अनिवार्य है। नैतिकता का परिणाम से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु निर्णीत कर्म में प्रेरणा और परिणाम में परम भेद नहीं कर सकते हैं। प्रेरणा वह अभीप्सित परिणाम है जिसके लिए कर्म किया जाता है। कर्ता ध्येय के साथ ही उसकी प्राप्ति के साधनों के प्रति भी जागरूक है। आत्म-प्रबुद्ध प्राणी यह भली-भाँति जानता है कि इच्छित ध्येय की प्राप्ति के लिए उसे किन उपायों को अपनाना होगा और उनका क्या परिणाम होगा। उस तथ्य को सम्मुख रखते हुए गांधीजी ने अहिंसा को साध्य और साधन दोनों माना है। साध्य की पवित्रता के साथ ही साधन की पवित्रता को भी आवश्यक बताया है। प्रेरणा में परिणाम पूर्वकल्पित होता है। निर्णीत कर्म में नैतिक निर्णय देते समय परिणाम की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। बुरे साधनों का उपयोग करने के लिए और पूर्वज्ञात बुरे परिणामों के लिए कर्ता दोषी है। आत्म-प्रबुद्ध प्राणी अपनी प्रेरणा को वास्तविक रूप देते समय इनके बारे में सचेत है। जब कोई व्यक्ति गरीबों की भलाई की प्रेरणा से अमीरों के घर में डाका डालता है तो वह यह भली-भाँति जानता है कि अपनी प्रेरणा को वह मूर्त रूप अमीरों के रक्त द्वारा दे रहा है। नैतिक दृष्टि से केवल प्रेरणा की पवित्रता सम्मुख रखकर कर्म की पवित्रता सिद्ध नहीं की जा सकती। नैतिक कर्म वह कर्म है जिसके साध्य और साधन दोनों पवित्र हैं। शुभ साध्य की दुहाई देकर अशुभ साधन को न्यायोचित नहीं कह सकते। अशुभ शाधन का प्रयोग करने वाला निर्दोष नहीं है। अतः नैतिक निर्णय का विषय वह प्रेरणा है जो परिणाम और साधन से सर्वथा मुक्त नहीं है।

इसी प्रकार सुखवादियों का यह कहना भ्रान्तिपूर्ण है कि नैतिकता का

प्रेरणा से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे इस तथ्य को तो स्वीकार करते हैं कि उद्देश्य के अन्तर्गत प्रेरणा और परिणाम दोनों आते हैं; किन्तु जहाँ तक प्रेरणा के स्वरूप का प्रश्न है वे उसे भावनामात्र मानते हैं और इसी अर्थ में इसे नैतिक गुणहीन कहते हैं। उनके अनुसार परिणाम अथवा अधिक परिमाणवाला परिणाम ही कर्म के औचित्य को निर्धारित करता है। निर्णीत कर्म का विश्लेषण यह सिद्ध करता है कि निर्णीत कर्म की प्रेरक भावना नहीं हो सकती। इसका स्रोत वह प्रेरणा है जिसकी प्राप्ति के लिए आत्मा प्रयास करती है अथवा संकल्प-शक्ति वाह्य रूप धारण करती है। नैतिक निर्णय कर्म पर नहीं दिया जाता, कर्ता पर दिया जाता है। कर्म का औचित्य-अनौचित्य कर्ता के चरित्र को प्रतिबिम्बित करता है। विना कर्ता के कर्म पर नैतिक निर्णय देना उतना ही अर्थशून्य है जितना कि प्राकृतिक घटना पर। कर्ता के चरित्र की सूचक प्रेरणा है। प्रेरणा के द्वारा ही व्यक्ति के चरित्र को समझ सकते है। इस अर्थ में प्रेरणा भावनामात्र नहीं है। वह आत्म-चेतन-व्यक्ति को कर्म करने के लिए बाधित करने वाली शक्ति है। कर्ता के चरित्र के अनुरूप प्रेरणा उसे किसी विशिष्ट परिस्थिति, समय और काल में एक विशिष्ट रूप से प्रेरित करती है। अतः प्रेरणा कर्ता के कर्म करते समय उसके मानसिक स्तर एवं चरित्र की सूचक है। यह आन्तरिक है। वाह्य परिस्थितियाँ व्यक्ति को प्रेरित नहीं करतीं। वे उद्दीपकमात्र होती हैं। यही कारण है कि दो भिन्न लोगों को एक विशिष्ट परिस्थिति दो भिन्न प्रकार से प्रभावित करती है। अपने आन्तरिक चरित्र के अनुरूप ही समान परिस्थिति में रहते हुए भी एक साधु हो जाता है और दूसरा चोर। अतः नैतिक निर्णय देते समय प्रेरणा को समझना अनिवार्य है, क्योंकि यह व्यक्ति के चरित्र को व्यक्त करती है। यह भी सत्य है कि जब व्यक्ति प्रेरणा के अनुसार कर्म करता है तो उसे परिणाम का पूर्वबोध होता है। प्रेरणा अपने व्यापक अर्थ में अनुमानित और इच्छित परम-परिणाम है। कर्म के उचित मूल्य को आँकने के लिए परम-परिणाम या प्रेरणा को समझना अनिवार्य है। कोई कृपण, भिखारी के बार-बार माँगने से, झुँझलाकर उसकी ओर एक पैसा इस अभिप्राय से फेंकता है कि भिखारी की

आँख फूट जाए और वह भविष्य में आकर उसे दिक न करे। किन्तु दुर्भाग्यवश कृपण का निशाना चूक जाता है और भिखारी बिना कष्ट के पैसा प्राप्त कर लेता है। यदि कृपण के कर्म के परिणाम को ही केवल देखें तो नैतिक दृष्टि से यह उचित नहीं होगा। कर्म का नीतिसम्मत मूल्यांकन करने के लिए उस प्रेरणा को भी समझना आवश्यक है जिसके लिए कर्म किया जाता है। इस तथ्य को सम्मुख रखते हुए ग्रीन का कहना है कि प्रेरणा ध्येय के बारे में वह विचार है जिसे आत्म-चेतन व्यक्ति अपने सम्मुख रखकर उसे प्राप्त करने का प्रयास करता है। प्रेरणा वह पर्याय है जो परिणाम अथवा उद्देश्य के लिए प्रयोग में लाया जाता है। इस अर्थ में प्रेरणा नैतिक निर्णय का विषय है।

प्रेरणा और परिणाम में परम भिन्नता देखना भूल है। उद्देश्य अपने सीमित अर्थ में प्रेरणा है और प्रेरणा अपने व्यापक अर्थ में उद्देश्य है। प्रेरणा और उद्देश्य अपृथक् हैं, किन्तु साथ ही अपनी विशिष्टता रखते हैं। प्रेरणा और परिणाम एवं कर्म एक ही क्रिया के आंतरिक और बाह्य पक्ष हैं, क्योंकि किसी विचार का मानस में प्रकट होना, उसका संकल्प करना और उसे निर्धारित करना एक ही क्रिया का आदि और अन्त है। यदि पुनः यह प्रश्न किया जाय कि नैतिक निर्णय का विषय क्या है तो कहा जा सकता है कि वह आचरण है और आचरण से अभिप्राय उसके दोनों पक्षों से—आंतरिक और बाह्य पक्षों से है। नैतिक निर्णय विवेकसम्मत है। यह सम्पूर्ण परिस्थिति के अध्ययन के पश्चात् ही कर्मों के औचित्य-अनौचित्य को निर्धारित करता है। जहाँ तक व्यक्ति के आचरण का प्रश्न है यह उसके चरित्र का ही व्यक्त रूप है। अथवा आचरण पर निर्णय देना या चरित्र पर निर्णय देना एक ही बात है। व्यक्ति की संकल्प-शक्ति, आत्मा और प्रेरणा भी उसके चरित्र के ही सूचक हैं। अतः नैतिक निर्णय का विषय व्यक्ति का आचरण, चरित्र, संकल्प-शक्ति, आत्मा और प्रेरणा—सभी समान रूप से हो सकते हैं, क्योंकि ये सब एक ही सत्य के रूप हैं। इनको विवादग्रस्त परिभाषाओं से मुक्त करके नैतिक निर्णय का विषय बनाया जा सकता है।

६
नैतिक प्रत्यय

कर्ता, कर्म और ध्येय के नैतिक स्वरूप को समझने के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग करते हैं अर्थात् उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ, कर्तव्य-अधिकार, सद्‌गुण-दुर्गुण, पाप-पुण्य, स्वतन्त्रता-उत्तरदायित्व[1] आदि, जिन्हें नैतिक प्रत्यय कहते हैं; नीतिशास्त्र में वे विशिष्ट अर्थों से युक्त हैं, और नैतिक निर्णय में सहायक होते हैं। नैतिक निर्णय वे हैं जो कि स्वेच्छित कर्मों तथा उन कर्मों को करने वाले व्यक्तियों तथा उन ध्येयों पर, जिनकी प्राप्ति के लिए व्यक्ति प्रयास करते हैं, उनके स्वरूप का मूल्यांकन करने के लिए, दिये जाते हैं।

शुभ और उचित के प्रत्यय नैतिकता के मूलगत प्रत्यय[2] हैं और अन्य प्रत्यय इन्हीं के समानार्थी हैं। फिर भी यह उचित है कि हम प्रत्येक प्रत्यय के विशिष्ट अर्थ का ज्ञान प्राप्त कर लें। दैनन्दिन जीवन में इन प्रत्ययों का प्रयोग सामान्य रूप में किया जाता है क्योंकि सामान्यबोध इनमें कोई स्पष्ट भेद नहीं करता है। नीतिशास्त्र के अनुसार ध्येय के स्वरूप को समझाने के लिए शुभ और अशुभ का, व्यक्ति या वैयक्तिक चरित्रों के लिए सद्‌गुण और दुर्गुण का और स्वेच्छाकृत कर्म के रूप को समझाने के लिए उचित और अनुचित का प्रयोग करना अधिक मान्य है। इन भिन्न विशेषणों के यह अर्थ कदापि नहीं हैं कि कर्ता, कर्म और ध्येय का मूल्यांकन करने के लिए

---

१. Duty—Obligation, Virtue-Vice, Merit-Demerit, Freedom-Responsibility.

२. देखिये—भाग १, अध्याय १।

हम भिन्न मान-दण्डों का प्रयोग करते हैं। जिस मान-दण्ड से हम ध्येय को शुभ कहते हैं उसी मान-दण्ड से हम कर्ता को सद्‌गुणी और कर्म को उचित कहते हैं। उदाहरणार्थ, उपयोगितावाद के अनुसार अधिकतम संख्या के लिए अधिकतम सुख ही परम-ध्येय है। यही नैतिक निर्णय का मानदण्ड है। इसके अनुरूप कर्म, चरित्र और ध्येय को ही नैतिक अनुमोदन के योग्य मानना चाहिए।

कर्तव्य, अधिकार : सामान्य अर्थ—मनुष्य का सामान्य जीवन कर्तव्य और अधिकार[1] के बीच व्यतीत होता है। वह समाज का अनिवार्य अंग और देश का नागरिक है। समाज अपने सदस्य को मौलिक अधिकार प्रदान करता है ताकि वह भली-भाँति अपने जीवन की विविधांगी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। किन्तु अधिकार बिना कर्तव्य के अधूरा और अर्थशून्य है। यदि किसी व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति रखने का अधिकार है तो उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण न करे। प्रत्येक नागरिक के सुव्यवस्थित जीवन की रक्षा करने के लिए ही समाज और राजसत्ता कर्तव्य और अधिकार की रूपरेखा बनाती है और उसे लोगों पर आरोपित करती है।

नैतिक अर्थ—नैतिकता, कर्तव्य और अधिकार को मानते हुए, उन्हें एक उच्च मान्यता प्रदान करती है। वह कर्तव्य को महत्त्व देते हुए कहती है कि बौद्धिक प्राणी का यह जन्म-जात अधिकार है कि वह अपने नैतिक और आध्यात्मिक अधिकारों की माँग कर सकता है। वह अधिकार शक्ति-प्रदर्शन, भोग-विलास, यश-लालसा तथा धन की तृष्णा का नहीं है अपितु आत्मिक उन्नति का है। आत्मिक उन्नति मानव-जाति की उन्नति की अपेक्षा रखती है। अतः व्यक्ति को अपने अधिकार के साथ ही दूसरों के प्रति जागरूक रहना चाहिए।

अंग्रेज़ी का 'राइट' शब्द द्वयर्थक है। वह भिन्न सन्दर्भों के अनुरूप औचित्य और अधिकार का सूचक है। समाज में संस्कृत और सभ्य कहलाने के लिए

---

१. Right.

शिष्टाचार के नियमों का पालन करना नैतिकता नहीं है और न दण्ड से बचने के लिए राज्य के नियमों के अनुरूप कर्म करना नैतिक कर्म करना है। मनुष्य नैतिक प्राणी है और नैतिक नियम आन्तरिक नियम है। जब किसी कर्म को लोक-व्यवहार के कारण नहीं बल्कि उसकी आन्तरिक श्रेष्ठता के कारण अपनाते हैं तो वह उचित कर्म कहलाता है। समझ-बूझकर सदाचार को अपनाना ही उचित (राइट) है। वही कर्म नैतिक है जो उचित के बोध से किया गया हो अथवा नैतिक बाध्यतावश या कर्तव्य की चेतना से प्रेरित होकर किया गया हो। कर्तव्य और औचित्य समानार्थी हैं। कर्तव्य करना ही उचित है और उचित करना ही कर्तव्य है।

कर्तव्य और उचित को महत्त्व देकर नीतिशास्त्र यह संकेत करता है कि मानवीय दुर्बलताएँ मनुष्य को अनैतिक मार्ग की ओर खींचती हैं। किन्तु उसे नैतिक ज्ञान और दृढ़ संकल्प की सहायता से उस मार्ग को अपना लेना चाहिए जो नैतिक और शुभ है। स्वेच्छित कर्म करने वाले बौद्धिक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह सर्वत्र उचित को अपनाये।

कर्तव्य और नैतिक बाध्यता—कुछ लोग कर्तव्य और बाध्यता में भेद देखते हैं और कहते हैं कि बाध्यता कानून अथवा समझौते की उपज है। वे बाध्यता और कर्तव्य में भेद देखते हैं। बाध्यता वह है जिससे कि व्यक्ति निश्चित बोध और समझौते द्वारा कर्म करने के लिए बद्ध हो जाता है। कर्तव्य वह है जो कि एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के प्रति देय है, क्योंकि मनुष्य मूलतः एक नैतिक और सामाजिक प्राणी है। कर्तव्य और बाध्यता का वर्णित भेद नैतिक दृष्टि से व्यर्थ है। नीतिशास्त्र में कर्तव्य और बाध्यता पर्यायवाची हैं। दोनों से ही अभिप्राय उससे है जिसे मनुष्य की बुद्धि उसके लिए अनिवार्य मानती है। उसकी वास्तविक आत्मा उसे विशिष्ट प्रकार से कर्म करने के लिए बाध्य करती है। सब कर्तव्य अनिवार्य हैं एवं नैतिक मनुष्य उन्हें करने के लिए बाध्य हैं। नैतिक जीवन में कर्तव्य के बोध एव नैतिक बाध्यता के बोध का प्रमुख स्थान है। नैतिक बाध्यता मनुष्य के उस नियम के प्रति सचेत सम्बन्ध को प्रकट करती है जिसे कि वह विशिष्ट परिस्थितियों में पालन करने

के लिए सर्वश्रेष्ठ समझता है और जिसका पालन करना उसके लिए सम्भव है। ऐसे नियम का पालन करना व्यक्ति का कर्तव्य है।

कर्तव्य और नैतिक बाध्यता व्यक्ति के चंचल और दोलायमान तथा आवेग-पूर्ण स्वभाव के सूचक हैं। मनुष्य सहज ही निम्न प्रवृत्तियों के प्रवाह में बह जाता है। उनसे ऊपर उठना एवं शुभ के मार्ग को ग्रहण करना उसका कर्तव्य है। यही नैतिक बाध्यता है। नीतिशास्त्र वह विज्ञान है जो कि नैतिक ध्येय के प्रति व्यक्ति को सचेत और जागरूक रखता है ताकि वह समझ-बूझकर ध्येय के मार्ग पर चल सके। इस अर्थ में कर्तव्य के नियम बाह्य सत्ता द्वारा निर्धारित किए हुए नहीं हैं। वे आत्म-आरोपित हैं। कर्तव्य के निरपेक्ष आदेश एवं आत्म-आरोपित नियम की श्रेष्ठता को कांट ने भली-भाँति समझाया है।

कर्तव्य की पूर्ण और अपूर्ण बाध्यता—कुछ विचारकों ने कर्तव्यों को दो वर्गों में विभाजित किया है। वे यह मानते हैं कि आचरण के नियमों अथवा सब कर्तव्यों को पूर्ण रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। कर्तव्य की निश्चित संहिता बनाना सम्भव नहीं है, फिर भी वे यह मानते हैं कि सहायता के इच्छुक जनसामान्य का नीतिशास्त्र कुछ हद तक पथ-निर्देशन कर सकता है। इस अभिप्राय से नीतिज्ञों ने कहा कि दो प्रकार की बाध्यताएँ हैं : (१) जिनको निर्धारित किया जा सकता है और (२) जिनको निर्धारित नहीं किया जा सकता है। इसी आधार पर कुछ विचारकों ने निश्चित बाध्यताओं को कर्तव्य और अनिश्चित को सद्गुण कहा है। कुछ निश्चित कर्तव्यों को न्याय के अन्तर्गत समझाते हैं और उनका पालन करना नैतिक बाध्यता मानते हैं।

कांट ने उपर्युक्त भेद को महत्त्व देकर पूर्ण बाध्यता के कर्तव्य और अपूर्ण बाध्यता के कर्तव्य की भिन्नता को समझाया। पूर्ण बाध्यता के कर्तव्य बतलाते हैं कि कुछ आचरण अनुचित हैं, और ऐसे अनुचित आचरण को न करने का आदेश हमें मिलता है। अतः पूर्ण बाध्यता के कर्तव्य निषेधात्मक हैं। बिना किसी शर्त के एक निश्चित प्रकार के आचरण की आशा की जाती है—'चोरी नहीं करोगे', 'झूठ नहीं बोलोगे' आदि। ये नीति-वाक्य सर्वदेशीय और सर्व-कालीन हैं; अनिवार्य आदेश के रूप में ये हमें मिलते हैं। ये निश्चित कर्तव्य

हैं। अपूर्ण बाध्यता के कर्तव्य विधेयात्मक हैं। इन्हें निषेधात्मक आदेशों की भाँति परमरूप से व्यक्त नहीं कर सकते। ये सर्वदेशीय और सर्वकालीन नहीं हैं। देश, काल और परिस्थिति के वृत्त में ही इन्हें समझ सकते हैं। परोपकार, दान, दया आदि के कर्तव्य विशिष्ट अवसर एवं देश, काल और परिस्थिति से सम्बन्धित हैं। निश्चित कर्तव्यों का वाह्य आदेश प्राप्त होता है। उनका उल्लंघन दण्ड से युक्त है। किन्तु अनिश्चित एवं अपूर्ण बाध्यता के कर्तव्य आत्म-आरोपित हैं। कर्ता स्वयं ही सत् आचरण को अपनाता है। जब देश की भलाई के लिए स्वेच्छा से प्रसन्नवदन होकर व्यक्ति जीवनोत्सर्ग कर देता है तो वह अपूर्ण बाध्यता के कर्तव्य को अपनाता है। ऐसे कर्तव्य उन्नत चरित्र एवं नैतिक श्रेष्ठता के सूचक हैं। श्रेष्ठ चरित्र किसी भी विशिष्ट परिस्थिति में शुभ के अनुरूप कर्म को अपनाएगा। उसका आचरण सदैव ही शुभ की प्राप्ति के लिए साधनमात्र रहेगा।

मेकैंजी[1] ने मनुष्य के कर्तव्यों को तीन वर्गों में बाँटा है: (१) वे निश्चित कर्तव्य जिन्हें कि राज्यसत्ता निर्धारित करती है और जिनका उल्लंघन दण्ड से युक्त है। (२) वे कर्तव्य जिन्हें कि राजकीय या राष्ट्रीय नियम का रूप नहीं दे सकते हैं किन्तु फिर भी प्रत्येक सम्माननीय नागरिक के लिए वे आवश्यक हैं। (३) वे कर्तव्य जो कि प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करते हैं। प्रत्येक से भिन्न प्रकार के नैतिक आचरण की आशा करते हैं।

कर्तव्यों में निश्चित भेद देखना, जैसा कि स्वयं मेकैंजी ने स्वीकार किया है, अनुचित है। इस भाँति का भेद विवेकसम्मत नहीं है। यह भेद कानूनी है, न कि नैतिक। नैतिक क्षेत्र में सद्‌गुण, नैतिक बाध्यता, कर्तव्य आदि समानार्थी हैं और इन सबका सम्बन्ध ध्येय से है। शुभ एवं ध्येय के अनुरूप कर्म करना सद्‌गुण, नैतिक बाध्यता एवं कर्तव्य है। कर्तव्य सदैव विशिष्ट परि-स्थितियों में निश्चित तथा निर्धारित होता है। नीतिज्ञों ने कर्तव्यों के बीच जो भेद माना है वह सामयिक है, परम और स्थायी नहीं है। तीनों प्रकार के नियमों में जो भेद दीखता है वह परम नहीं है बल्कि देश, काल और परिस्थिति

१. Mackenzie.

पर निर्भर है। नियमों का ऐतिहासिक अध्ययन बतलाता है कि आवश्यकताएँ, विकास और परिवर्तन किसी वर्ग के नियम को स्थायी नहीं रहने देता; कर्तव्यों के वर्गों को बदलता जाता है। प्रथम वर्ग का कोई कर्तव्य द्वितीय में आ सकता है और द्वितीय का तृतीय में। राज्य-विधान तथा नागरिकों के शिष्टाचार के नियम कठोर और अपरिवर्तनशील नहीं रह सकते। आवश्यकता और समयानुसार कुछ कर्तव्य अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं और कुछ कम। अतः कर्तव्यों की सामयिक संहिता बनायी जा सकती है, स्थायी नहीं। तो क्या हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निश्चित कर्तव्यों की रूपरेखा बनाना भूल है? क्या मनु ने अपनी मनुस्मृति तथा बाइबिल ने अपने दस आदेश देकर अव्यावहारिक काम किया? समय और काल की सीमाओं के अन्दर सापेक्ष कर्तव्यों को निर्धारित करके जनसामान्य के मार्ग को निर्देशित करना उचित और आवश्यक है, किन्तु इसके अर्थ यह कदापि नहीं हैं कि हम विकास, परिवर्तन और नवीन आवश्यकताओं को भूल जायँ।

नीतिशास्त्र ध्येय की चेतना को जाग्रत करके आचरण के नियमों का आभासमात्र देता है। वह कर्म करने के लिए विस्तृत उपदेश नहीं देता। नैतिक अन्तर्ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति अपने कर्तव्य को स्वयं निर्धारित कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति विशिष्ट परिवार, समाज, देश, जाति और राष्ट्र का अंग है। उसके स्वरूप की अपनी विशेषताएँ हैं। अपने परिवार और परिवेश को, प्रवृत्तियों को वह दायरूप में प्राप्त किये रहता है। वह एक विशिष्ट परिस्थिति में अपने को निर्धारित पाता है और उसी स्थिति के जीवन के सामान्य विधान में वह सहयोग देता है। इस विधान के लिए सक्रिय कर्म करना ही उसका प्रमुख कर्तव्य हो जाता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने स्वधर्म को समझकर कर्म करे। जो व्यक्ति जिस कर्म के योग्य हो उसे ही श्रेष्ठ समझकर भली-भाँति करे। अपने क्षेत्र के अन्दर आचरण के नियमों का पालन करना प्रत्येक का धर्म है।

वास्तव में कर्तव्य की समस्या चरित्र और ध्येय की समस्या है। बौद्धिक प्राणी के लिए यह जानना अनिवार्य नहीं है कि नियम क्या हैं क्योंकि नियम

का अनुवर्तन-मात्र करना यन्त्रवत् रहना है। मनुष्य के लिए चरित्र के उस आदर्श को समझना आवश्यक है जिसका कि वह अपने अन्दर विकास करना चाहता है। एक सुविकसित चरित्र को चाहे किसी भी विशिष्ट परिस्थिति में रख दें उसे अपने आचरण के मार्ग को खोजने में देर नहीं लगेगी। ऐसे व्यक्ति को नियमों के अध्ययन की आवश्यकता नहीं। उसका ध्येय निर्दिष्ट है। वह स्वयं मार्ग खोज सकता है। यदि व्यक्ति में शुभ की प्राप्ति के लिए आन्तरिक प्रेरणा और तीव्र जिज्ञासा हो तो उसका कर्म अपने-आप ही सुनिर्देशित हो जाता है, किन्तु यदि वह ध्येय के प्रति उदासीन हो अथवा उसका नैतिक ज्ञान कुण्ठित हो तो प्राथमिक स्थिति में नियम सहायक सिद्ध होंगे। यहाँ पर नीतिज्ञ का कर्तव्य हो जाता है कि मानव-जीवन के सामान्य स्वभाव के आधार पर आचरण के कुछ नियमों का प्रतिपादन करे और उन स्थितियों को समझाये जिनके लिए वे उपयोगी सिद्ध होंगे। यहाँ पर यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि नियम को पूर्ण महत्त्व देने वाले लोग भूल करते हैं। पहले तो जीवन की अनन्त आवश्यकताओं को लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता और दूसरा जीवन नियममात्र नहीं है। अतः नीतिज्ञ केवल ध्येय के स्वरूप को हमारे सम्मुख रख सकता है। प्रत्येक व्यक्ति का काम है कि मूर्त स्थिति को समझ कर अपना मार्ग निर्धारित करे। यही कर्तव्य का मार्ग है।

कर्तव्य और सद्गुण-दुर्गुण—स्वतन्त्र संकल्प वाले आत्म-प्रबुद्ध प्राणी का कर्तव्य है कि वह उस कर्म को करे जो शुभ है, अर्थात् शुभ-कर्म करना कर्तव्य है और अशुभ कर्म करना अकर्तव्य है। जब व्यक्ति को कर्तव्य करने का अभ्यास हो जाता है और कर्तव्य उसका अभ्यास बन जाता है तब वह श्रेष्ठ चरित्र (सदाचार या सद्गुण) को प्राप्त कर लेता है। सद्गुण चरित्र की श्रेष्ठता एवं उत्कृष्टता का सूचक है और दुर्गुण दुर्बलता तथा दोष का। सद्गुण चरित्र के आन्तरिक से आन्तरिक स्वरूप को अभिव्यक्ति देता है। अनेक शुभ कर्मों की पुनरावृत्ति से व्यक्ति इसे अर्जित कर लेता है। यह चरित्र का वह स्वभाव, गुण या अर्जित प्रवृत्ति है जो स्थायी है। चरित्र का गुण होने पर भी कर्मों और प्रेरणाओं के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। यह शुभ कर्म का सूचक है।

श्रेष्ठ चरित्र कर्म द्वारा अपने को व्यक्त करता है। कर्तव्य का सम्बन्ध भी कर्म-विशेष से है। कर्तव्य-बोध की चेतना से युक्त व्यक्ति सच्चरित्र होते हैं। कर्तव्य का अभ्यास शुभ चरित्र का निर्माण करता है और शुभ चरित्र ही कर्त्तव्य है। यदि व्यक्ति अपने चरित्र का उत्थान चाहता है तो उसे चाहिए कि वह वारम्बार कर्तव्य के मार्ग को पकड़े क्योंकि कर्तव्य करने की अनवरत चेष्टा एवं अभ्यास सच्चरित्र का जनक है। कर्तव्य को अपनाने के लिए आलस्य और असावधानी का त्याग आवश्यक है अन्यथा अनायास ही व्यक्ति दुर्गुण को अपना लेगा। सच्चरित्र की स्थापना के लिए कर्म से युक्त होना पड़ता है। दृढ़ संकल्प, सतर्क चिन्तन, शुभ मार्ग को अपनाने की उत्कट प्रेरणा, कठिनाइयों से न डरना आदि सच्चरित्र की ओर ले जाते हैं। जब धीरे-धीरे कर्तव्य करना मनुष्य का स्वभाव हो जाता है तो कर्तव्य सहज और आनन्दप्रद हो जाते हैं। अतः कर्तव्य ज्ञान और संकल्प-स्वातन्त्र्य की अपेक्षा रखता है। कर्तव्य न करने वाला व्यक्ति दोषी है। नैतिक दुर्गुण मानवीय संकल्प पर निर्भर है। व्यक्ति अकर्तव्य के लिए उत्तरदायी है। पापी एवं दुर्गुणी जान-बूझकर कर्तव्य नहीं करता है। किन्तु कई बार ऐसा भी हो जाता है कि कर्तव्य का इच्छुक व्यक्ति अनुचित मार्ग को अपने भ्रमपूर्ण चिन्तन के कारण अपना लेता है। ऐसी स्थिति में चिन्तन को भ्रान्तिपूर्ण कहने पर भी व्यक्ति को दोष नहीं देते। व्यक्ति हृदय से सद्गुणेच्छु है। उसके स्वभाव और संकल्प का झुकाव सद्गुण की ओर है यद्यपि चिन्तन भ्रमपूर्ण है।

नैतिक दृष्टि से सद्गुण को विशिष्ट गुण के रूप में नहीं समझ सकते क्योंकि वह चरित्र का स्वभाव या गुण है। ऐसा कथन बतलाता है कि सद्गुण का प्रयोग दो अर्थों में होता है—नैतिक सद्गुण और विशिष्ट सद्गुण। विशिष्ट सद्गुण को हम उस अभिरुचि के रूप में समझ सकते हैं जो स्वेच्छित कर्म द्वारा किसी विशेष शुभ ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रयास करती है। इसे हम अच्छे विद्वानों और कलाकारों में देखते हैं। वह व्यक्ति, जो अपने क्षेत्र में योग्यता प्राप्त कर लेता है अथवा वह व्यक्ति जो किसी अच्छे काम को अच्छी तरह कर लेता है, विशिष्ट गुणसम्पन्न व्यक्ति है। विशिष्ट गुण अपने-आपमें अच्छे

हैं। वे समृद्ध समाज के लिए आवश्यक हैं। विशिष्ट गुणों में पारस्परिक भेद सम्भव हो सकता है। यह आवश्यक नहीं की एक अच्छा गायक एक अच्छा चित्रकार अथवा एक अच्छा चित्रकार एक अच्छा लेखक भी हो। विशिष्ट गुण प्रतिभा का परिणाम है और सामान्य बोध यह मानता है कि वह भगवान्-प्रदत्त है। यह अवश्य है कि प्रयास द्वारा इस प्रतिभा को अधिक विकसित कर सकते हैं। यही नहीं, यदि विशिष्ट गुण-सम्पन्न व्यक्ति अथवा लेखक कुछ काल के लिए अनिवार्य कारणोंवश (शारीरिक रोग, मानसिक आघात, प्रेरणा प्राप्त न कर सकने के कारण, आदि) अपना काम न करे तो वह क्षम्य है। नैतिक गुण का होना प्रत्येक सम्माननीय नागरिक के लिए आवश्यक है। संयम, न्याय, दया आदि सद्‌गुण नाममात्र से भिन्न हैं। वास्तव में वे एक ही सद्‌गुण की अभिव्यक्ति हैं क्योंकि सद्‌गुण एक है। नैतिक सद्‌गुण सम्पूर्ण चरित्र की वह अभिरुचि है जो कि निरन्तर कार्यान्वित रहना चाहती है। प्रत्येक परिस्थिति में जो सबसे अधिक उत्तम है उसे शुभ चरित्र खोजता है। उसके लिए सब कर्म अपने-आपमें साध्य हैं एवं परम शुभ के लिए साधन हैं। जिस भाँति भूखा व्यक्ति एकमात्र भोजन चाहता है उसी भाँति सद्‌गुणी एकमात्र नैतिक आदर्श का भूखा है। चाहे पत्थर बरसे या बिजली गिरे उसे अपने कर्म से छुट्टी नहीं मिल सकती।

सदगुण—परम्परागत और विवेकसम्मत—नैतिक सद्‌गुण दो रूपों में दीखता है—परम्परागत और विवेकसम्मत। जनसामान्य उस व्यक्ति को सद्‌गुणी मानता है जो प्रचलित नैतिक नियमों और परम्पराओं का सदैव पालन करता है; जो दयालु, संयमी, सम्माननीय, न्यायशील और उद्योगी है। किन्तु नैतिक दृष्टि से स्वीकृत नियमों का पालन-मात्र करना अपने को यंत्र बना लेना है। नैतिकता उचित नियमों के अन्ध-पालन की अपेक्षा नहीं रखती। वह उचित नियम द्वारा उस ध्येय को पालन करने की आशा रखती है जो कि विवेकशील व्यक्ति के लिए वांछनीय है। अतः नैतिक सद्‌गुण वह अभ्यासगत प्रवृत्ति है जो सदैव चेतन रूप से उन ध्येयों की प्राप्ति के लिए प्रयास करती है जो श्रेष्ठ और वांछनीय हैं। यह अवश्य व्यक्ति की योग्यता, प्रतिभा, लगन और

व्यक्तित्व पर निर्भर है कि वह कहाँ तक ध्येय को समझ सका है। ध्येय के स्वरूप का जिज्ञासु सदैव वस्तुगत नैतिक मानदण्ड की सहायता से अपने मानदण्ड को सुधार सकता है। सम्यक् मानदण्ड को समझने के लिए आत्मगत और वस्तुगत एवं वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोणों का उचित सन्तुलन अनिवार्य है। व्यक्ति और समाज दोनों के हित की समान रूप से वृद्धि करने की प्रवृत्ति का सामान्य रूप ही नैतिक सद्गुण है। इसका रूप समय और काल के अनुसार परिवर्तित होता है।

नैतिक सद्गुण और विशिष्ट सद्गुण में परम भेद देखना व्यर्थ है। नैतिक सद्गुण विशिष्ट सद्गुणों द्वारा अभिव्यक्ति पाते हैं और विशिष्ट सद्गुण नैतिक सद्गुण द्वारा ही स्थायी मूल्य पाते हैं। यदि उन व्यक्तियों और संस्थाओं के लिए नैतिक सद्गुण—दया, दान, न्याय आदि—सहायक नहीं हैं जो वास्तव में योग्य पात्र हैं और जो उचित सहायता पाकर अपनी प्रतिभा और विशिष्टता को प्रस्फुटित कर सकते हैं तथा समाज के जीवन को संस्कृत, सभ्य और कलात्मक बनाने में सक्रिय योग दे सकते हैं तो नैतिक सद्गुण व्यर्थ और अमूर्त हो जाएंगे। कला और साहित्य का स्थायी मूल्य इस पर निर्भर है कि वे अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को कहाँ तक निभा सके हैं। यदि चित्रकार की तूलिका और लेखक की लेखनी सामाजिक जीवन को सुन्दर और मंगलमय बनाने में असमर्थ है तो वह श्रेष्ठ नहीं है।

पाप और पुण्य—गुण एक व्यापक प्रत्यय है जिसके अन्दर पाप और पुण्य हैं। अपने स्वरूप के अनुरूप वह पाप और पुण्य का सूचक है। चरित्र की भावात्मक नैतिक श्रेष्ठता पुण्य है और अभावात्मक नैतिक योग्यता पाप है। यदि पहला यह बतलाता है कि चरित्र नैतिक दृष्टि से कितना मूल्यवान् है तो दूसरा उसके नैतिक ह्रास का ज्ञान देता है। वास्तव में पाप और पुण्य चरित्र के गुण हैं। चरित्र के नैतिक स्वरूप को व्यक्त करने के लिए ही इनका प्रयोग करते हैं। ये दोनों कर्म द्वारा चरित्र को अभिव्यक्ति देते हैं। उचित कर्म एवं पुण्य, चरित्र की श्रेष्ठता का सूचक है और अनुचित कर्म एवं पाप, चरित्र के दोष का। उचित और अनुचित के आधार पर भी पाप और पुण्य को समझा जा सकता है। जब कर्म उचित एवं नैतिक मानदण्ड के अनुरूप है तो वह पुण्य है

और अनुचित पाप है।

दोनों प्रत्ययों का ऐसा भेद बतलाता है कि चरित्र के नैतिक विकास के बिना पुण्य सम्भव नहीं है। ऐसे कर्म स्वतन्त्र संकल्प पर निर्भर हैं। जब विवेकी व्यक्ति स्वेच्छा से कर्तव्य के मार्ग को अपनाता है, तब वह अपने कर्म द्वारा अपने उन्नत चरित्र को अभिव्यक्ति देता है। जब व्यक्ति नैतिक ध्येय को समझ कर भी उसके विपरीत कर्म करता है तो वह पाप करता है। ऐसा कर्म उसके चरित्र के पतन का सूचक है। पाप और पुण्य का सम्बन्ध व्यक्ति से है अत: इनमें गुणात्मक भेद दीखता है। चरित्र की नैतिक पूर्णता गुणात्मक अन्तर की अपेक्षा रखती है। व्यक्ति के चरित्र का उत्थान और पतन समझाने के लिए कम पतन, अधिक पतन, अधिक श्रेष्ठ आदि वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। चरित्र की अपूर्णता से पूर्णता तक में एक क्रमिक शृंखला मिलती है।

पाप और पुण्य चरित्र के सूचक हैं। इस कारण कुछ नीतिज्ञ संकल्प द्वारा इनके स्वरूप को समझाते हैं। यदि उचित मार्ग को पकड़ने के लिए आवेगों और प्रवृत्तियों पर अत्यधिक नियन्त्रण रखना पड़े अथवा त्याग के लिए दृढ़ संकल्प की आवश्यकता हो तो चरित्र अत्यधिक श्रेष्ठ है। इन्द्रियों का दमन करने के लिए और इच्छाओं को सन्मार्ग दिखाने के लिए जितना अधिक प्रयास करना पड़े उतना ही अधिक पुण्य-चरित्र होने का सूचक है। किन्तु ऐसा भेद एकांगी है। इसे सर्वसामान्य मानदण्ड नहीं मान सकते। वास्तव में उन्नत चरित्र में संकल्प और इच्छा के बीच द्वन्द्व या तो कम दीखेगा या दीखेगा ही नहीं। नैतिक दृष्टि से जो व्यक्ति जितना ही कम विकसित होगा उसे उतना ही अधिक त्याग और प्रयास करना पड़ेगा। दो समान चरित्र के व्यक्तियों की श्रेष्ठता को इस आधार पर अवश्य आँका जा सकता है। पर सम्पूर्ण परिस्थिति का व्यापक और सूक्ष्म ज्ञान ही पाप-पुण्य के रूप को निर्धारित कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति मूर्खतावश ऐसी स्थिति में त्याग करता है जहाँ कि त्याग की आवश्यकता नहीं है तो उसका आचरण चरित्र की श्रेष्ठता का सूचक नहीं है। नैतिक दृष्टि से हम उसे मूर्ख और अविवेकी कहेंगे। वही चरित्र श्रेष्ठ है जो समझ बूझकर आवश्यकतानुसार सहर्ष पूर्ण त्याग करता है।

संकल्प-स्वातन्त्र्य और उत्तरदायित्व—अभी तक जितने भी नैतिक प्रत्ययों का प्रयोग किया है उनके मूल में यह अनिवार्य मान्यता है कि संकल्प-शक्ति स्वतन्त्र है। बिना संकल्प-स्वातन्त्र्य को माने नैतिकता एवं नैतिक प्रत्यय अस्तित्व-शून्य हैं। संकल्प-स्वातन्त्र्य और उत्तरदायित्व सापेक्ष हैं। दोनों का सह-अस्तित्व है।

नीतिशास्त्र संकल्प को स्वतन्त्र मानकर कर्मों को आत्म-निर्णीत तथा नियतिवाद और अनियतिवाद को एकांगी सिद्धान्त मानता है। नियति-वाद अथवा अनियतिवाद को स्वीकार कर लेने पर नैतिक उत्तरदायित्व पर घोर आघात पहुँचता है। मनुष्य अपने कर्मों के लिए दोषी नहीं रह जाता है। उसके कर्मों पर नैतिक निर्णय देना व्यर्थ हो जाता है। नीतिशास्त्र यह मानता है कि व्यक्ति अपने आत्म-निर्णीत कर्मों के लिए उत्तरदायी है। यदि वह ऐसे कर्म करता है जो अशुभ हैं अथवा जिनका परिणाम बुरा है तो नैतिकता उससे प्रश्न कर सकती है कि तुमने ऐसा क्यों किया? विवेकशील और स्वतन्त्र प्राणी होने पर भी शुभ ध्येय के अनुरूप कर्म क्यों नहीं किया? अपने को पूर्वग्रहों से मुक्त करके तथा क्षणिक आवेगों पर नियन्त्रण रखकर तुमने न्याय के मार्ग को क्यों नहीं अपनाया? उस ध्येय को क्यों नहीं अपनाया जो वास्तव में शुभ है? नैतिक दृष्टि से ऐसा प्राणी अपने ही सम्मुख दोषी है, उसे अपनी ही आत्मा को उत्तर देना पड़ेगा और यदि वह अपने दायित्व का निर्वाह नहीं कर सकता है तो उसका कर्म निन्दनीय और दण्डनीय है।

---

१. नैतिक जीवन में संकल्प-स्वातन्त्र्य का महत्त्वपूर्ण स्थानहोने पर भी नीतिज्ञों में मतभेद है। अतः इसका विस्तार से वर्णन करना आवश्यक है जिसकी पूर्ति अगले अध्याय में की गई है। संकल्प का स्वरूप उत्तरदायित्व के स्वरूप पर भी अधिक प्रकाश डालेगा।

७

संकल्प-शक्ति की स्वतन्त्रता

स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति—आवश्यक नैतिक मान्यता—अभी तक यह मानते आये हैं कि मनुष्य के कर्म आत्म-निर्धारित हैं। उसकी संकल्प-शक्ति स्वतन्त्र है। वह अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है। उसके कर्म नैतिक निर्णय का विषय हैं। इस अर्थ में संकल्प-शक्ति की स्वतन्त्रता आवश्यक नैतिक मान्यता है। ऐतिहासिक दृष्टि से संकल्प अथवा संकल्पशक्ति के बारे में दो परम विरोधी सिद्धान्त मिलते हैं; नियतिवाद (Determinism) या अस्वच्छन्दतावाद (Anti-Libertarianism) और अनियतिवाद (Indeterminism) या स्वच्छन्दतावाद (Libertarianism)। इन दोनों मतों का आलोचनात्मक अध्ययन यह बतायेगा कि इन मतावलम्बियों ने एकांगी दृष्टिकोण को सम्मुख रखा। नियतिवाद और अनियतिवाद दोनों को ही समान रूप से अनिवार्य मानते हुए तीसरे प्रकार के विचारक नैतिक कर्मों को आत्म-निर्णीत मानते हैं। इन्हीं का नैतिक दृष्टि से मूल्यांकन कर सकते हैं। यदि इसके विपरीत यह मान लें कि मनुष्य के कर्म आत्म-निर्णीत नहीं हैं, संकल्प-शक्ति स्वतन्त्र नहीं है, तो नैतिक आदेश और नैतिक मान्यताएँ अर्थशून्य हो जायेंगी। नैतिक दृष्टि से जब यह कहते हैं कि 'तुम्हें यह करना चाहिए', 'यह कर्म उचित है', 'यह पाप है', आदि, तो इसके अर्थ यही होते हैं कि तुम इस कर्म को करने के लिए स्वतन्त्र हो, यदि तुम चाहो तो तुम्हारी कर्म-शक्ति उचित मार्ग को ग्रहण कर सकती है। संकल्प-शक्ति की स्वतन्त्रता को बिना माने 'नैतिक चाहिए' पागल का प्रलाप है। नैतिक आदर्श की प्राप्ति व्यक्ति के लिए उतनी ही असम्भव हो जाएगी जितना कि किसी अन्धे के लिए सुन्दर दृश्य देखना। अथवा नैतिक

आदर्श उस सुन्दर कल्पना की भाँति हमारे सम्मुख आयेगा जो कि मूर्त और व्यावहारिक रूप प्राप्त नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में नीतिशास्त्र को अस्तित्वहीन मान लेना अनुचित न होगा। इस सत्य को सम्मुख रखते हुए ही कांट ने कहा कि संकल्प-शक्ति की स्वतन्त्रता नैतिकता की आवश्यक मान्यता है। स्वतन्त्र प्राणी अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण करने के लिए आवश्यक है कि पहले दोनों सिद्धान्तों—नियतिवाद और अनियतिवाद—को समझ लें।

नियतिवाद—नियतिवादियों के अनुसार मनुष्य की संकल्प-शक्ति स्वतन्त्र नहीं है, पूर्व-निर्धारित है। उनका कहना है कि निर्णीत कर्म में संकल्प-शक्ति प्रेरणा के साथ समीकरण करती है और प्रेरणा का स्वरूप व्यक्ति के चरित्र पर निर्भर है। अतः यदि व्यक्ति के चरित्र का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लें तो उसके भविष्य के आचरण के बारे में भविष्यवाणी की जा सकती है। यह पहले से ही बताया जा सकता है कि उसके कर्मों की रूप-रेखा कैसी होगी। उसकी संकल्प-शक्ति का वाह्य रूप क्या होगा। जन्म के समय से ही मनुष्य का अन्तःसंस्कार सामाजिक और भौतिक परिस्थितियों से प्रभावित होता रहता है। चरित्र का उत्थान और पतन उन परिस्थितियों के आधार पर ही होता है। उन परिस्थितियों के ज्ञान के द्वारा उसके चरित्र का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। चरित्र का ज्ञान प्राप्त करना ही उसके वर्तमान और भविष्य के कर्मों को समझना है। व्यक्ति के कर्म सदैव उसके कर्म करते समय तक के निर्धारित चरित्र के अनुरूप होते हैं। उसका चरित्र वाह्य परिस्थितियों, वंशानुगत गुणों, मौलिक स्वभाव तथा परिवेश का योग है। उन्हीं के द्वारा उसका चरित्र निश्चित स्वरूप ग्रहण करता है। मनुष्य के कर्म उसके मौलिक स्वभाव, वंशपरम्परा और परिस्थिति का अनिवार्य परिणाम होते हैं। इस प्रकार उसके कर्म पूर्व निश्चित होते हैं। इस आधार पर नियतिवादी कहते हैं कि यदि किसी व्यक्ति के विगत जीवन को भली-भाँति समझ लिया जाए तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसके कर्म कैसे होंगे। किसी भी व्यक्ति के मौलिक स्वभाव, परिवार, परिस्थिति, शिक्षा और वातावरण आदि का पर्याप्त ज्ञान उसके भावी आचरण को स्पष्ट रूप से

प्रतिविम्बित कर सकता है। वह यहाँ तक कहते हैं कि यदि दो व्यक्तियों का मौलिक स्वभाव और वातावरण विलकुल एक-सा हो तो उनके कर्म निश्चित रूप से समान होंगे, भिन्न नहीं हो सकते। इस तथ्य को समझाने के लिए वे उदाहरण देते हैं कि यदि ऐसे दो जुड़वाँ भाइयों को लें जिनके अन्त:संस्कारों या मूलगत प्रवृत्तियों में पूर्ण रूप से समानता हो और जन्म से ही उनका लालन-पालन समान रूप से एक जैसी सामाजिक परिस्थितियों में हुआ हो तो वे सदैव एक ही रूप से व्यवहार करेंगे। नियतिवादियों के अनुसार उन भाइयों का व्यवहार किसी भी विशिष्ट आयु में भिन्न अथवा पृथक् नहीं हो सकता। वे संकल्प-शक्ति को पूर्वनिश्चित मानते हैं। व्यक्तियों के आचरण को उनके मूलगत स्वभाव और भूतकालीन परिस्थितियों से संचालित मानते हैं। संकल्प-शक्ति की स्वतन्त्रता का निराकरण करते हुए वह मनुष्य के कर्मों को प्राकृतिक घटनाओं की भाँति समझाने का प्रयास करते हैं। उसके कर्मों में कार्य-कारण के नियम को घटित होते हुए देखते हैं। उनके अनुसार मनुष्य के विगत जीवन का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर (कारण को समझ) लेने से उसके कर्म (कार्य) के वारे में निश्चित रूप से भविष्यवाणी की जा सकती है। नियतिवादी मनुष्य को प्रकृति का ही अंग मानते हैं। वे व्यक्ति (आत्म-चेतन प्राणी) के आचरण और प्राकृतिक घटनाओं को एक ही नियम से संचालित होते देखते हैं। वे अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए अनेक तर्क भी देते हैं। मनोविज्ञान (विशेष रूप से आचरणवाद), जीवशास्त्र, नृतत्वशास्त्र (Anthropology), शरीरशास्त्र (Physiology), जननशास्त्र (Genetics), सर्वेश्वरवाद (Pantheism), ईश्वरज्ञान आदि के ज्ञान के आधार पर वे संकल्प-शक्ति की नियतिवादिता को समझाते हैं। अधिकतर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए उन्होंने इन्द्रिय संवेदनवादी (sensationalistic) और जड़वादी दृष्टिकोण को ही अपनाया है। नियतिवादी अपने सिद्धान्त की धुन में यह भूल जाते हैं कि व्यक्ति आत्म-प्रबुद्ध प्राणी है। उसकी अनेक सम्भावनाएँ हैं और वह इन सम्भावनाओं को प्राप्त करने के लिए स्वतन्त्र है। वे व्यक्ति के आचरण को भौतिक घटना की भाँति देखते हैं। जिस प्रकार गणित ज्योतिष द्वारा यह बतला सकते हैं कि

सूर्य और चन्द्रग्रहण कब घटित होंगे, उसी प्रकार मनुष्य के स्वभाव, वातावरण, वहिर्गत परिस्थितियों के पूर्ण ज्ञान द्वारा वे मनुष्य के भावी कर्मों के बारे में भविष्यवाणी कर सकते हैं। अतीत के जीवन, अभ्यासों और अनुभवों का व्यक्ति की वर्तमान मानसिक स्थिति के बनाने में वैसा ही सहयोग रहता है जैसा कि उनके अनुसार किसी तरकारी के बनाने में मसालों और उसके बनाने की विधि का।

अनियतिवाद—अनियतिवादियों के अनुसार संकल्प-शक्ति स्वतन्त्र है। मनुष्य के कर्म पूर्वनिर्धारित नहीं हैं। उसके कर्मों के बारे में पहले से कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। मनुष्य का आचरण अनिश्चित होता है। उसमें अनेक प्रकार की सम्भावनाएँ हैं। उसके कर्म प्रेरणाहीन होते हैं। नियतिवादियों के विरुद्ध अनियतिवादियों का कहना है कि संकल्प-शक्ति प्रवल इच्छा के अनुरूप कर्म नहीं करती है। जब इच्छाओं में द्वन्द्व होता है तो संकल्प-शक्ति बिना प्रेरणा के ही आकस्मिक चुनाव करती है। संकल्प-शक्ति की स्वतन्त्रता इस पर निर्भर है कि वह प्रबल इच्छा या प्रेरणा से समीकरण न कर क्षणिक आवेग में कर्म कर लेती है। वह किसी भी इच्छा को चुन लेती है। संकल्प-शक्ति एक अज्ञात शक्ति की भाँति है। उसके कर्म तात्कालिक आवेग या क्षणिक प्रवृत्तियों से संचालित होते हैं। कर्म करने के पूर्व व्यक्ति के सम्मुख अनेक इच्छाएँ और प्रेरणाएँ होती हैं। किन्तु संकल्प-शक्ति उनमें से किसी के अनुरूप कर्म करने के लिए बाध्य नहीं है। वह उनसे प्रभावित नहीं होती, उसका निर्णय आकस्मिक होता है। अतः नियतिवादियों का यह कहना कि भूत और वर्तमान के ज्ञान के आधार पर भविष्य के कर्मों के बारे में निर्णय दिया जा सकता है, सर्वथा दुस्साध्य है। स्वेच्छित कर्म किसी ऐसी वस्तु अथवा चरित्र का अनिवार्य परिणाम नहीं हैं जो कि पहले से ही वर्तमान हो। संकल्प-शक्ति जिस क्षणिक आवेग से कर्म करती है उसकी पूर्व सम्भावना मनुष्य के भीतर नहीं होती। कर्म करने के क्षण तक कोई भी ऐसी सम्भावना ज्ञात नहीं है जिससे कि व्यक्ति की इच्छा का पता चल सके। संकल्प-शक्ति का कर्म पूर्णतः एक नयी सृष्टि है। उसका कर्म स्वतन्त्र है। यहाँ

पर अनियतिवादी यह स्वीकार करते हैं कि कर्म का कर्त्ता व्यक्ति है, किन्तु यह निर्धारित चरित्र या प्रेरणा पर निर्भर नहीं है। संकल्प-शक्ति का स्वरूप व्यक्ति के उसी क्षण के व्यक्तित्व पर निर्भर है। यह उस चरित्र पर निर्भर है जिसके स्वरूप का अभी तक निर्माण हुआ है अथवा जिसको लेकर वह उत्पन्न हुआ। संकल्प-शक्ति प्रत्येक कर्म के लिए स्वतन्त्र है। कर्मरत संकल्प-शक्ति प्रेरणा और पूर्वनिश्चित चरित्र से मुक्त है। उसका अपना एक अज्ञेय अस्तित्व है। व्यक्ति की आत्मा सृजन-शील है, वह प्रत्येक कर्म में संकल्प-शक्ति द्वारा नवीन रूप में प्रकट होती है। मनुष्य के कर्म पूर्ण रूप से अनिश्चित हैं। यहाँ तक कि उसके नैतिक और विचारयुक्त कर्मों के बारे में भी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, भले ही उसके विगत जीवन का इतिहास ज्ञात हो। यदि जुड़वाँ भाइयों का उदाहरण लें तो अनियतिवादियों के अनुसार उनका व्यवहार किसी भी परिस्थिति में समान नहीं होगा। दोनों का व्यवहार सदैव भिन्न रहेगा। यह सम्भव हो सकता है कि जुड़वाँ भाइयों में से एक साधु निकल जाए और दूसरा चोर। अतः मानव-स्वभाव के बारे में निश्चित रूप से किसी सिद्धान्त या नियम को घटित नहीं कर सकते, जिसके आधार पर उसके भविष्य के आचरण के बारे में निश्चित रूप से निर्णय दिया जा सके।

विवाद का मूल : प्रेरणा—दोनों ही सिद्धान्तों के मुख्य विवाद का प्रश्न यह है कि क्या दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि मनुष्य का भावी आचरण कैसा होगा? क्या उसके कर्म का स्वरूप पूर्वनिर्धारित है? नियतिवादियों का उत्तर स्वीकारात्मक है और अनियतिवादियों का उत्तर नकारात्मक। नियतिवादियों के अनुसार मनुष्य का आचरण उसी प्रकार पूर्व-निर्धारित है जिस प्रकार की भौतिक घटनाएँ—वे आचरणवादियों की भाँति मनुष्य को प्रयोगशाला की वस्तु समझते हैं। विश्लेषण द्वारा उसके सम्यक् व्यक्तित्व को मानसिक और भौतिक प्रकृति के अंशों में बाँटकर उसके आचरण के बारे में प्रामाणिक भविष्य-वाणी करने का दावा करते हैं। अनियतिवादियों को इसके विपरीत मनुष्य के सम्यक् व्यक्तित्व में ज्वार-भाटे उठते दिखाई देते हैं, वे उसके कर्मों को आवेग-पूर्ण और प्रेरणाहीन कहते हैं; उसकी संकल्प-शक्ति को उस रहस्यमयी शक्ति

की भाँति देखते हैं जिसका स्वरुप कर्म करने के पूर्व तक विलकुल अनिश्चित और अज्ञेय रहता है। इस अर्थ में मनुष्य का भावी आचरण पूर्वनिश्चित नहीं है। इन दोनों सिद्धान्तों के अतिवादों के मूल में 'प्रेरणा' है। इन दोनों ने ही प्रेरणा को विभिन्न अर्थों में समझा है। इच्छा, प्रेरणा, संकल्प-शक्ति तथा आत्मा के सम्बन्ध को बाह्य लिया है अथवा निर्णीत कर्म के निर्माणात्मक अंगों को असम्वद्ध माना है। वे भूल गये कि वे एक ही इकाई के अभिन्न अंग तथा एक ही सत्य के विभिन्न रूप हैं। निर्णीत कर्म का विश्लेषण वताता है कि प्रवल इच्छा या प्रेरणा वह इच्छित ध्येय है जिसकी प्राप्ति के लिए आत्मा प्रयास करती है। संकल्प-शक्ति अपने आन्तरिक रूप में आत्मा अथवा भावना और इच्छा है तथा बाह्य रूप में आचरण है। नियतिवादी इस तथ्य को भूलते हुए-से प्रेरणा और संकल्प-शक्ति के सम्वन्ध को बाह्य लेते हैं। वे कहते हैं कि संकल्प-शक्ति स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि वह प्रेरणा के अनुरूप कर्म करती है और प्रेरणा आत्मा के स्वरूप को व्यक्त करती है। इसी प्रकार अनियतिवादी कहते हैं कि संकल्प-शक्ति स्वतन्त्र है क्योंकि यह इच्छा, आत्मा और चरित्र से प्रभावित नहीं होती है।

इच्छा और संकल्प-शक्ति को भिन्न मानना भ्रमपूर्ण है। संकल्प-शक्ति इच्छा पर निर्भर है और इच्छा का सम्बन्ध चरित्र और आत्मा से है। इस अर्थ में संकल्प-शक्ति कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे आत्मा अधिकृत किये हो और न यह वह अज्ञात शक्ति है जिसका आत्मा से भिन्न अस्तित्व हो। संकल्प-शक्ति वह आत्मा है जो ज्ञात रूप से इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयास करती है। जब इच्छाओं में द्वन्द्व होता है तो द्वन्द्वों द्वारा आत्मा अपने ही विभिन्न स्तर को अभिव्यक्ति देती है। इच्छाएँ सदैव विषयमूलक होती हैं और इन विषयों का उस आत्मा से सम्बन्ध होता है जिसके लिए कि ये उपयोगी होती हैं। अतः इच्छाएँ सदैव आत्मा के चरित्र को प्रतिविम्बित करती हैं। इच्छाएँ केवल उन विवेकहीन शक्तियों या प्रवृत्तियों की भाँति नहीं हैं जो व्यक्ति को इधर-उधर नचाती रहें। इच्छाओं का सम्वन्ध किसी ज्ञात विषय से है और इसी विषय की प्राप्ति के लिए आत्मा संकल्प-शक्ति के रूप में ज्ञात रूप से बाहर की

ओर प्रवाहित होती है। निर्णीत कर्म में इच्छाओं की सन्तुष्टि द्वारा आत्मा स्वयं को सन्तुष्ट करती है।

एकांगी दृष्टिकोणों का परिणाम : नैतिकता अर्थशून्य—नियतिवादी एक वैज्ञानिक की भाँति मनुष्य के सम्यक् व्यक्तित्व को छिन्न-भिन्न करने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति अपने समय और परिस्थिति का शिशु है। यह उनके सम्मुख अशक्त है। उसका जीवन निम्न प्राणियों की भाँति क्रिया-प्रतिक्रिया का जीवन है। उसका चरित्र भौतिक और मानसिक शक्तियों का योग है। उसके कर्म उसके चरित्र के अनिवार्य परिणाम हैं। उसकी सकल्प-शक्ति पूर्वनिर्धारित है। यदि व्यक्ति के कर्म पूर्वशक्तियों के अनिवार्य परिणाम हैं तो व्यक्ति को उसके कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते; क्योंकि उसके कर्मों की गति यान्त्रिक है। उसके आचरण पर निर्णय देना उतना ही अर्थशून्य है जितना कि हवा से उड़ते हुए पत्ते पर देना है। जिस प्रकार विजली के वटन को दवाने से विजली की वत्ती जल जाती है, उसी प्रकार एक विशिष्ट परिस्थिति में व्यक्ति विशिष्ट रूप से कर्म करता है। व्यक्ति के पूर्वनिर्धारित स्वरूप अथवा कारण के अनुरूप कर्म करने वाली कार्यरत संकल्प-शक्ति नैतिक निर्णय का विषय नहीं हो सकती और न ऐसे कर्त्ता के सम्मुख कर्तव्य, पश्चात्ताप आदि नैतिक मान्यताओं का ही कुछ मूल्य है। नियतिवादियों की प्रमुख भूल यह है कि उन्होंने व्यक्ति के चरित्र को वैज्ञानिक परिभाषा में बाँधना चाहा। उसके आचरण का कार्य-कारण के नियम के द्वारा स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया। सभी प्रवुद्ध विचारक यह मानते हैं कि मनुष्य की कर्म शक्ति का क्षेत्र अन्य घटनाओं की भाँति पूर्व घटनाओं पर आधारित नहीं है। व्यक्ति के कर्म आत्म-निर्णीत हैं। वह अपने कर्मों को अपना कहता है। शुभ-कर्म करने पर उसे आत्मसन्तोष होता है एवं अशुभ-कर्म करने पर ग्लानि और पश्चात्ताप। वह कहता है, 'मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए' और भविष्य के लिए दृढ़ संकल्प करता है। उस संकल्प का उसके जीवन में मूल्य है। किन्तु नियतिवादियों के अनुसार पश्चात्ताप तथा दृढ़ संकल्प के लिए मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है। आत्मोन्नति, चरित्र का उत्थान, पतन और धार्मिक परिवर्तन आदि सब

खोखली बातें हैं।

किसी भी व्यक्ति का चरित्र उसके भूत और वर्तमान आचरण द्वारा पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं होता है। उसमें अनेक अविकसित सम्भावनाएँ हैं, अघटित घटनाएँ हैं। ज्ञान की वृद्धि और अनुभव की व्यापकता तथा तीव्रता उसका पूर्ण रूप से रूपान्तर कर देती हैं। एक मनुष्य का स्वभाव ऐसा भी हो सकता है कि वह निन्यानवे वार तक विशेष उत्तेजना पाकर एक ही तरह का आचरण करेगा और सौवीं वार दूसरी तरह का। मनुष्य-स्वभाव का अध्ययन यह भली-भाँति वता देता है कि किसी दृढ व्यवितत्व के मनुष्य के बारे में भी विश्वासपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि किसी विशेष परिस्थिति में उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी। नियतिवादियों ने यह कहकर वड़ी भूल की कि मनुष्य के कर्म पूर्वपरिस्थितियों से उसी प्रकार प्रभावित होते हैं जिस प्रकार भौतिक जगत की घटनाएँ। उन्होंने नैतिक उत्तरदायित्व, नैतिक आदेश का ही नहीं, नैतिकता का भी निराकरण कर दिया। नैतिक मनुष्य मात्र इच्छाओं तथा परिस्थितियों का प्राणी नहीं है। वह अपने विश्व का निर्माता भी है। उसके नैतिक, वौद्धिक विकास के साथ उसकी इच्छाओं और इच्छित वस्तुओं का स्वरूप वदल जाता है। वह अपने इच्छित कर्मों के लिए उत्तरदायी है।

अनियतिवादियों के अनुसार मनुष्य की संकल्प-शक्ति उस शैतान की भाँति है जो मनुष्य के संघटित व्यवितत्व तथा चरित्र की स्थिरता की उपेक्षा करता है और अचानक किसी अनजाने पथ से आकर अपना काम पूरा कर जाता है। ऐसी संकल्प-शक्ति की सृष्टि प्रत्येक क्षण में नवीन है। ऐसे अनजाने कर्म का कर्त्ता होते हुए भी व्यक्ति उस कर्म को अपनाने में कठिनाई प्रतीत करता है। उसमें उसे अपने अविच्छिन्न व्यवितत्व का प्रतिविम्व नहीं मिलता। वह कह सकता है कि यह कर्म उसके कर्म करने के पूर्व तक के चरित्र का सूचक, उसके चिन्तन-मनन का परिणाम नहीं है। उसका कर्म उस संकल्प-शक्ति द्वारा किया गया है जिस पर उसके चरित्र और इच्छाओं का अधिकार नहीं है। ऐसे आचरण को नैतिक दृष्टि से अशुभ नहीं कह सकते हैं। इस प्रकार संकल्प-शक्ति को इस अर्थ में स्वतन्त्र मानने वाले सैद्धान्तिकों के लिए

दृढ़-संकल्प का कोई मूल्य नहीं है। इस दृष्टि से मानव-स्वभाव में संगति और एकता देखना व्यर्थ है और ऐसी स्थिति में नैतिकता का लोप तो हो ही जाएगा, साथ ही मनुष्य का सामाजिक जीवन भी असम्भव हो जाएगा। सामाजिक जीवन की पूर्णता व्यक्तियों के सम्यक् चरित्र पर निर्भर है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ सीमा तक अपने तथा अन्य लोगों के चरित्र को समझता है, उनके आचरण के बारे में अपनी सम्मति दे सकता है। वह अपने तथा दूसरों के कर्मों का स्पष्टीकरण चरित्र तथा परिस्थिति-विशेष के नाम पर करता है और उस परिस्थिति से सम्बद्ध कर्तव्य के बारे में भी सचेत है। किन्तु संकल्प-शक्ति की स्वतन्त्रता के पोषक प्रेरणाहीन कर्मों को ही स्वतन्त्र कर्म कहते हैं। नैतिक मनुष्य के लिए बिना उस प्रेरणा के कर्म करना, जो कि कर्ता को बौद्धिक रूप से कर्म करने के लिए प्रेरित करती है, पशु-जीवन को स्वीकार करना है। वह अन्ध-प्रवृत्तियों तथा आवेगों का दास नहीं है, अपने चरित्र का निर्माता तथा अपने आचरण के लिए उत्तरदायी भी है। उसकी संकल्प-शक्ति उसकी आत्मा है। संकल्प-शक्ति के बाह्य रूप द्वारा उसकी आत्मा सन्तोष प्राप्त करती है। यदि हम इस अर्थ में संकल्प-शक्ति की स्वतन्त्रता को न मानें तो पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित, आदि नैतिक प्रत्यय अस्तित्वहीन हो जाते हैं। यदि मनुष्य की संकल्प-शक्ति उसे समझ-बूझकर कर्म नहीं करने देती और अन्धड़ की तरह आवेश में आकर उसे ऊपर-नीचे गिराती है तो निश्चय ही नैतिक आदेश काल्पनिक हैं। संकल्प-शक्ति का मुक्त शासक की भाँति प्रत्येक क्षण ऐसा नवीन सृजन करना कि वह भूत और वर्तमान से असम्बद्ध हो—मानव-चरित्र की स्थिरता और अविच्छिन्नता को धूल में मिलाना है। नैतिकता दृढ़-चरित्र से ही उद्भूत होती है। आवेगपूर्ण प्रेरणाहीन कर्म और नैतिकता आपस में विरोधी हैं तथा एक-दूसरे के विनाशक हैं।

आत्म-निर्णीत कर्म : नियतिवाद और अनियतिवाद—निर्णीत कर्म के विश्लेषण ने यह बतलाया कि आत्मा और संकल्प-शक्ति एक हैं। आत्मा ही ज्ञात रूप से इच्छित ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रयास करती है। संकल्प-शक्ति का स्वरूप आत्मा के स्वरूप पर निर्भर है। उस आत्मा का क्या स्वरूप है

जिसके द्वारा कर्म किए जाते हैं ? क्या इसका स्वरूप निर्धारित नैतिक गुणों, वंशानुगत विशेषताओं, भूतकालीन कर्मों और भावनाओं का परिणाम है ? अथवा क्या कोई ऐसी सम्भावना सदैव रहती है जिसके आधार पर व्यक्ति अपने अभी के उचित-अनुचित के निर्णय के अनुसार कर्म कर सकता है, चाहे उसके पूर्व के कर्म और अनुभव कुछ भी क्यों न हों ?

व्यक्ति के आचरण का अध्ययन यह बतलाता है कि व्यक्ति सदैव जिस प्रकार कर्म करता है वह एक विशिष्ट नियम के अनुरूप होता है । यह नियम उसके चरित्र का नियम है और चरित्र उसके जन्मजात मानसिक संस्कारों, वंशानुगत-गुणों तथा परिस्थिति का परिणाम है । साथ ही यह भी सच है कि उसके चरित्र को पूर्ण रूप से समझना असम्भव है । चरित्र का निर्माण करने वाले तत्त्व अत्यन्त जटिल होते हैं । उनकी सफलतापूर्वक गणना करना सैद्धान्तिक रूप से सम्भव होने पर भी वास्तव में असम्भव है । अत: प्रेरणा द्वारा निर्धारित कर्मों को प्राकृतिक घटना की भाँति समझने का प्रयास करना मूर्खता है । नैतिक कर्म यह भी बताता है कि संकल्प-शक्ति की स्वतन्त्रता इस पर निर्भर नहीं है कि कर्म प्रेरणाहीन हैं, किन्तु इस पर है कि वे प्रेरणा द्वारा निर्धारित हैं । प्रेरणा नैतिक प्राणी के स्वरूप को अभिव्यक्ति देती है । मनुष्य का चरित्र सहज प्रवृत्तियों और आवेगों का अस्थिर समुद्र नहीं है । उसके कर्म स्वयं उसे तथा उसके सम्पर्क में आने वालों को चमत्कृत नहीं करते हैं । वे आत्म-निर्णीत होते हैं; उसके चरित्र के अनुरूप होते हैं । नैतिक जीवन के लिए दृढ़-चरित्र का निर्माण आवश्यक है और चरित्र विशेष अभ्यासों से निर्मित जगत् की अपेक्षा रखता है । शुभ-चरित्र शुभ-अभ्यासों का संगतिपूर्ण विधान है । मनुष्य की संकल्प-शक्ति में एकरूपता मिलती है । उसके निश्चय उसके चरित्र से समानता रखते हैं । उसके कर्मों के बारे में कुछ सीमा तक निश्चित रूप से कहा जा सकता है । इस अर्थ में नीतिशास्त्र नियतिवाद को मानता है । यदि नियतिवाद अभ्यासों की समानता का सूचक है तो वह आवश्यक है । यह समानता नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है । नैतिक प्राणी हर क्षण गिरगिट की भाँति रूप नहीं बदलता है । उसका व्यक्तित्व आत्म-निर्धारित है । उसका जीवन नियम-

वद्ध है। उसकी संकल्प-शक्ति नियम के अनुरूप कर्म करती है। उसके आचरण में एकरूपता और व्यवस्था मिलती है। उसके आचरण का नैतिक रूप से समान होना अनिवार्य है। वह विवेक और बुद्धि द्वारा परिचालित है, न कि क्षणिक आवेग द्वारा।

नैतिक प्राणी आध्यात्मिक प्राणी है। वह आत्मोन्नति के लिए प्रयास करता है। संस्कृति और सभ्यता का उपासक है। उसका नैतिक ज्ञान उसे बताता है कि वह 'नैतिक चाहिये' के अनुसार कार्य कर सकता है। वह स्वतन्त्र है, अपने चरित्र को विकसित कर सकता है, नये अभ्यासों की नींव डाल सकता है; पर यह भी सच है कि प्रत्येक व्यक्ति की सम्भावनाएँ सीमित हैं। वह अपनी मानसिक, शारीरिक और भौतिक प्रकृति पर निर्भर है। इस निर्भरता के साथ ही वह आत्म-चेतन प्राणी भी है। वह अपने ध्येय को समझता है। अपने को वाह्य-वन्धनों से मुक्त कर सकता है। उनके प्रतिकूल कर्म कर सकता है। अपने कर्मों के स्वरूप को स्वयं निर्धारित कर सकता है और अपना उन्नयन कर सकता है। यह सभी मानेंगे कि व्यक्ति का वर्तमान चरित्र विभिन्न शक्तियों का परिणाम है। किन्तु व्यक्ति की आकांक्षाएँ और सम्भावनाएं भविष्य की ओर इंगित कर उसे वताती हैं कि इस 'परिणाम' से ऊपर उठने की उसमें शक्ति और सामर्थ्य है। इस अर्थ में उसके कर्म आत्म-निर्णीत हैं। वह समझ-बूझकर कर्म कर सकता है। अपनी वास्तविक आत्मा के आदेश एवं आन्तरिक आदेश को मान सकता है। यही संकल्प-शक्ति की स्वतन्त्रता है। कर्तव्य तथा नैतिक मान्यताएँ आदि की धारणाएँ इसी स्वतन्त्रता की सूचक हैं। इन धारणाओं का उसके जीवन से चेतन-सम्बन्ध है। वह परिस्थिति-विशेष में अपनी सामर्थ्य के अनुकूल जिस नियम को सर्वश्रेष्ठ समझता है, उसे कर सकता है। यही उसका नैतिक कर्तव्य है। कर्तव्य का आदेश उसे अनुचित मार्ग की ओर झुकने से बचाता है। उसे वताता है कि उसे अपनी स्वतन्त्र संकल्प-शक्तियों के द्वारा निम्न-प्रवृत्तियों, कुण्ठित-भावनाओं का उच्चतम ध्येय के लिए उन्नयन करना चाहिए। उसकी संकल्प-शक्ति उसकी वौद्धिक और भावुक प्रकृति को संगति-पूर्ण एकत्व में बाँध सकती है। उसे संस्कृति के उच्चतम शिखर की ओर ले जा

सकती है। मनुष्य दृढ़-सकल्प द्वारा भविष्य के आचरण को सुधारने का प्रयास कर सकता है। संकल्प-शक्ति की स्वतन्त्रता के कारण ही वह दुर्निवार बुरे अभ्यासों को त्यागने में सफल होता है। प्रारम्भ में उसे बुरे अभ्यासों को छोड़ने में कठिनाई होती है, किन्तु धीरे-धीरे वह उन पर विजयी हो जाता है। आत्मोन्नति के लिए संकल्प-शक्ति की स्वतन्त्रता आवश्यक मान्यता है। जहाँ तक व्यक्ति के शुभ-अभ्यासों का प्रश्न है, उसकी संकल्प-शक्ति नियतिवाद, स्थिरता, दृढ़ता, संकल्प और संस्कृति की द्योतक है। यहाँ पर यह न भूलना चाहिए कि यह नियतिवाद प्राकृतिक नियतिवाद से भिन्न है। इसमें आत्मोन्नति के लिए विस्तृत क्षेत्र है। नैतिक नियतिवाद में संकल्प-शक्ति स्वतन्त्र है। उसकी पूर्ण स्वतन्त्रता इस पर निर्भर है कि वह अपने कर्तव्यों के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक है। इस प्रकार मनुष्य परिस्थिति, परिवेश और स्वभाव की सीमाओं से बद्ध होने पर भी अपनी आत्मोन्नति के लिए प्रयास कर सकता है क्योंकि उसके कर्म आत्म-निर्णीत हैं।

८

नैतिक निर्णय का मानदण्ड

विषय-प्रवेश—नैतिक निर्णय के मानदण्ड का प्रश्न वास्तव में नैतिक चेतना के विकास का प्रश्न है। नैतिक चेतना के विकास के ऐतिहासिक अध्ययन से प्रकट होता है कि किस प्रकार नैतिक निर्णय अनेक बर्बर स्थितियों को अतिक्रम कर आज की विकसित अवस्था में पहुँचा है। उसका मापदण्ड अब वैयक्तिक अथवा एकदेशीय नहीं रह गया है। वह सार्वभौम प्रामाणिकता प्राप्त कर चुका है। उसका ध्येय सार्वभौमिक कल्याण और उसका निर्णय मानवता का निर्णय है।

नियम और ध्येय की समस्या—यह कहा जा चुका है कि नैतिक निर्णय स्वेच्छाकृत कर्मों पर दिया जाता है अथवा उन कर्मों पर, जिन्हें बुद्धिजीवी स्वतन्त्रतापूर्वक करता है। किन्तु प्रश्न यह है कि वह कौन-सा मापदण्ड है जिसके आधार पर कर्मों को नैतिक अथवा अनैतिक कहते हैं, उनके औचित्य-अनौचित्य पर निर्णय देते हैं। कर्मों के स्वरूप को समझने के लिए मुख्यतः शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित का प्रयोग किया जाता है। कर्मों के विशेषणों के रूप में अन्य जितने भी शब्द मिलते हैं वे किसी-न-किसी रूप में इन्हीं के पर्यायवाची हैं। वह कर्म शुभ है जो ध्येय की प्राप्ति के लिए उपयोगी है और वह कर्म उचित है जो नियम के अनुरूप है। इन अर्थों पर ध्यान देने से यह प्रतीत होता है कि कर्मों का मूल्यांकन करने के लिए दो भिन्न मापदण्ड हैं: एक ध्येय सम्बन्धी और दूसरा नियम सम्बन्धी।

यह समस्या मिथ्या है—किन्तु विभिन्न मापदण्डों की धारणा, वास्तव में, मिथ्या है। नियमों के उद्गम के इतिहास से ज्ञात होता है कि निर्णय का माप-

दण्ड एक ही है। यदि पूछा जाय कि मानव-विकास में ध्येय और नियम में कौन-सा मापदण्ड पूर्वनिर्धारित हुआ तो प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत होता है कि नियम का मापदण्ड ही पहला मापदण्ड है। नियम के स्रोत पर ध्यान देने पर यह भ्रान्ति दूर हो जाती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में नियम से पहले ध्येय का अस्तित्व अनिवार्य है। विना ध्येय के नियम का निर्माण सम्भव नहीं है। नियम ध्येय का अनुगामी है, पूर्वगामी नहीं हो सकता। आदि काल में लोगों ने व्यक्ति, समाज एवं समुदाय की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही नियमों का निर्माण किया। उनकी चेतना ने जिन नियमों को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उपयोगी माना, आज की नैतिक चेतना उन नियमों को अनुपयोगी, अहितकर तथा हानिप्रद कह सकती है; किन्तु, आदिम चेतना का मानव जिन भौतिक परिस्थितियों, जिस वातावरण तथा जीवन-यापन के जिन साधनों के बीच रहता था एवं उस समय उसका जो मानसिक-कायिक अस्तित्व था, वह तब उनसे अधिक स्वस्थ नियम नहीं वना सकता था। उस समय की अविकसित चेतना ध्येय के स्वरूप को अधिक निश्चित एवं स्पष्ट कर सकने में असमर्थ थी। ध्येय, नियमों की प्रामाणिकता, कर्तव्य, अधिकार, उत्तर-दायित्व आदि के बारे में न तो वह सचेत थी और न उसे इनके बारे में कोई जिज्ञासा ही थी। उसने झुण्ड, जाति एवं समुदाय के लिए हितकर नियमों को स्वभावतः ही अनायास रूप से अपनाया। वह उसकी नैतिक चेतना की सम्भावित स्थिति थी। आज की विकसित चेतना की तुलना में वह अविकसित, अर्धव्यक्त तथा सुप्त थी।

नैतिक आदेश बाह्य आदेश एवं नियम के रूप में प्रकट हुआ—प्राकृतिक और दैवी शक्ति—ध्येय की पूर्ति के लिए ही नियम बनाये गये जो निर्माणात्मक दृष्टि से ध्येय के लिए साधनमात्र थे। किन्तु व्यावहारिक जीवन में उन्हें ही प्रधानता मिली; अपने आचरण में व्यक्ति ने उन्हीं को प्रमुख माना। यही कारण है कि सर्वप्रथम नैतिक आदेश बाह्य आदेश के रूप में प्रकट हुआ। नैतिकता की अभिव्यक्ति सर्वत्र विभिन्न देश-कालों में इसी रूप में हुई। व्यक्तियों एवं जातियों की सहज-प्रेरणाओं, आवेगों और इच्छाओं पर उसकी नैतिक-

आत्मा ने नियन्त्रण नहीं रखा, किन्तु वाह्य शक्तियों ने अर्थात् प्राकृतिक, सामाजिक, दैवी आदि शक्तियों ने उसे नियन्त्रित रखा। इन शक्तियों ने वाह्य आदेशों के रूप में स्वाभाविक प्रवृत्तियों का दमन किया। इस स्थिति में कर्म और परिणाम को महत्त्व दिया गया, न कि प्रेरणा की पवित्रता और चरित्र को। अतः नैतिक नियम अपने अभ्युदय काल में वाह्य आरोपित नियम थे, न कि आत्म-आरोपित। उन्होंने आचरण के वाह्य पक्ष पर निर्णय दिया, न कि आन्तरिक पक्ष पर।

ऐतिहासिक स्पष्टीकरण : अस्थिर जीवन—नैतिक नियम की सर्वप्रथम वह स्थिति मिलती है जबकि व्यक्ति अहेरियों का जीवन बिताता था। प्राकृतिक आवश्यकताएँ उसके जीवन को संचालित करती थीं, उसके कर्म अधिकतर आवेग-जन्य होते थे। वे दूरदर्शिता से रहित, चिन्तनहीन, परिणाम के विचार से मुक्त थे। ऐसे कर्मों को केवल वैयक्तिक आवेगों से प्रेरित कहना भी उचित नहीं है। उस युग का व्यक्ति अपनी जाति, समुदाय अथवा झुण्ड का सदस्य था। 'अनुकरण और संकेत' का उसके जीवन में स्थान था। जो कुछ भी उसने देखा उसे उसी रूप में सहज भाव से स्वीकार कर लिया। वह जाति के प्रचलनों, रीति-रिवाजों से बद्ध था और प्राकृतिक शक्तियों के उत्पातों से भयभीत था। वह अपने दल के मुखिया के आदेश को परम आदेश मानता था।

स्थिर जीवन; नियमों का जन्मदाता : प्रचलित नैतिकता—धीरे-धीरे वह इस अस्थिर अवस्था से ऊपर उठा। उसने व्यवस्थित जीवन से आचरण के विशिष्ट नियमों को जन्म दिया। किन्तु नियमों का निर्माण करने पर भी वह प्रचलनों से ऊपर नहीं उठ सका। वास्तव में नियम द्वारा उसने प्रचलनों को ही स्पष्ट रूप दिया। अतः नियम अपने मूल रूप में प्रचलन ही हैं। जैसा कि प्रथम अध्याय में कह चुके हैं एथॉस एवं मौरेस शब्द प्रचलन के सूचक हैं। समुदायों, जातियों और राष्ट्रों की नैतिकता के निर्माण में इन प्रचलनों का अत्यधिक योग रहा है। इतना अवश्य है कि जब प्रचलन नियम बने तो उनमें अनायास ही कुछ परिवर्तन आ गये। उदाहरणार्थ, जब हत्या आदि दुष्कर्मों के

लिए दण्ड-विधान बना तो प्रतिशोध, द्वेष आदि की धारणाओं को न्याय की अस्पष्ट धारणा ने आवृत कर दिया। नियमों का यह युग प्रचलित नैतिकता (Customary morality) का युग था। नियम और प्रचलन से निर्देशित आचरण नैतिक आचरण है।

उसके विभिन्न रूप—प्रचलित नैतिकता ही धनात्मक नैतिकता (positive morality) के रूप में प्रकट होती है। यह धनात्मक नियमों को जन्म देती है। धनात्मक नियम वह नियम हैं जिन्हे समाज के कल्याण के लिए जन-समुदाय स्वीकार करता है अथवा वे नियम जिन्हें कोई समाज, जाति या देश अपने समय के कर्मों के सदसत् को निर्धारित करने के लिए स्वीकार करता है। इन नियमों का सम्बन्ध आचरण के बाह्य पक्ष से है। कर्म और परिणाम ही निर्णय का लक्ष्य है। वास्तव में धनात्मक नियम या धनात्मक नैतिकता प्रचलनों, रीति-रिवाजों, विचारशून्य परम्पराओं पर आधारित होती है। मानव-जीवन की विभिन्न स्थितियों ने ही जाने-अनजाने में उसे जन्म दिया है। उसकी कम विकसित बुद्धि ने अपनी शक्ति, ज्ञान और आत्मचेतना के अनुरूप भौतिक, दैहिक, सामाजिक, भौगोलिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के निमित्त नियम बनाये। तत्पश्चात् भय, विश्वास तथा अभ्यासवश वह उन्हीं का यन्त्रवत् पालन करने लगा। ऐसे अनेक नियम अथवा बाह्य आदेश हैं जिनका वह पालन करता है और साथ ही जिन्हें अनिवार्य मानता है। वे प्राकृतिक नियम, जाति के नियम, सामाजिक नियम, राजसत्ता के नियम, अधिकारी एवं शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा बनाये गए नियम इत्यादि हैं। उनके अतिरिक्त उसने शास्त्र, श्रुति, पण्डित, साधु-सन्तों के आदेशों को भी अनिवार्य माना। इन अनेक आदेशों का पालन उसने हर्ष और उत्साह के साथ किया और अब भी कर रहा है।

प्रचलित नैतिकता का मानव—जाति चेतना—सभ्यता का प्रथम चरण बाह्य-नियमों अथवा प्रचलित नैतिकता का चरण था। उस समय का व्यक्ति झुण्ड का सदस्य था। उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था। वह प्रचलनों, रूढ़ि-रीतियों और नियमों के जगत् में रहता था। उसका विश्व जाति का विश्व

था। उसके नैतिक निर्णय झुण्ड, जाति एवं समाज के प्रचलनों को अभिव्यक्ति देते थे। जाति के आचरण का अनुकरण करना उसका कर्त्तव्य था। सामाजिक व्यवस्था के नियमों का पालन करना उसका एकमात्र ध्येय था। जाति-चेतना उसे शासित करती थी। उसकी विवेकशक्ति एवं विधि-निषेधात्मक बुद्धि ने अपना व्यक्तित्व तथा अपनी स्वतन्त्रता जाति-चेतना में खो दी थी। जाति-चेतना ही उसके कर्मों तथा अन्य व्यक्तियों के कर्मों पर निर्णय देती थी। जाति की भलाई तथा उसके सम्मान की रक्षा ही उसके जीवन का ध्येय था। उसके नियमों का अन्धानुकरण ही नैतिकता थी। वह यह मानता था कि प्रचलित रीति के अनुरूप कर्म ही उचित और शुभ कर्म है। औचित्य-अनौचित्य का परममापदण्ड जाति ही है। जाति के नियमों में अनन्य श्रद्धा और विश्वास रखना अनिवार्य है। अतः उन नियमों के विरुद्ध कुछ करना तो दूर रहा, वह उनके विरुद्ध सोचने तक की कल्पना नहीं कर सकता था। वास्तव में व्यक्ति के लिए प्रचलित नैतिकता का राज्य तानाशाही राज्य था। वह उसकी स्वतन्त्र तर्क-बुद्धि को विकसित करने के बदले उसे कुण्ठित कर देती है। प्रचलित नैतिकता के अनुसार नियमों की प्रामाणिकता पर सन्देह करना भयंकर पाप है, उनके औचित्य को समझने का प्रयास करना नरक का मार्ग खोजना है और निर्धारित कर्त्तव्यों की संहिता को ज्यों का-त्यों स्वीकार कर लेना ही नैतिकता है। ऐसे स्थिर नियमों को पूजने वाला व्यक्ति सामाजिक हित को अपना लक्ष्य नहीं बना सकता था। विकास के साथ प्रगति करने के बदले वह कट्टरपन्थी हो गया। नियमों का अन्धानुकरण करने के कारण उसने दुष्कर्मों और अनैतिक आचरण को अपना लिया। नियमों के स्रोत की ओर से विमुख हो जाने के कारण वह उनका पालन केवल अभ्यास और भयवश करने लगा। उसने उन नियमों के मूलतत्त्व को और उनकी उपयोगिता को समझने का प्रयास नहीं किया। वह धीरे-धीरे नैतिक ज्ञान-शून्य हो गया। वह रीति-रिवाजों को ही सब-कुछ मानने लगा। नैतिक संहिताओं, प्रचलित धारणाओं, विश्वास तथा धार्मिक आस्थाओं के अनुरूप आचरण को ही वह शुभ समझने लगा। उसकी दृष्टि में वही व्यक्ति नैतिक गुणसम्पन्न रहा जो प्रचलित मान्यताओं का मूक

भाव से पशुवत् पालन करता हो ; जिससे प्रचलन-रूपी तलवार की धार का भय अमानुषीय, असामाजिक और अनैतिक कर्म करवा देता हो।

राजसत्ता तथा ईश्वरीय नियम—ऐसे व्यक्ति के आचरण को नैतिक आत्मा संचालित नहीं करती; बल्कि पुरस्कार और दण्ड की भावना, पड़ोसी का भय, परिवेश, राजसत्ता और परिवार का मोह आदि बाह्य प्रतिबन्ध परि-चालित करते हैं। उनसे भयभीत होकर वह एक विशिष्ट प्रकार से कर्म करता है। ये उसे आदेश देते हैं—'ऐसा करो' और वह बलि-पशु की भाँति उसे हरी घास समझकर सहर्ष स्वीकार करता है। बिना समझे-बूझे नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति 'यह करना चाहिये' अथवा 'यह करना उचित है' आदि तथ्यों की ओर से तथा आचरण के आन्तरिक पक्ष की ओर से अचेत है। उसके आचरण की बागडोर प्रचलनों के हाथ में है। वह उनकी सत्ता को बिना आपत्ति और विरोध के चुपचाप स्वीकार कर लेता है। उनके विरुद्ध उसके मानस में किसी प्रकार का संकल्प-विकल्प नहीं उठता। जिस वातावरण में वह पलता और रहता है उसके नियमों का पालन करना ही उसके लिए स्वर्ग है और उसका उल्लंघन करना ही नरक है।

ऐसे व्यक्ति का आचरण नैतिकता की कसौटी में खरा नहीं उतर सकता। भगवान्, नरक, राजसत्ता, शक्तिशाली व्यक्ति, पड़ोसी, अदृश्य शक्तियों—आदि से भयभीत होकर कर्म करना अनैतिक है। प्रचलित नैतिकता का अन्धा-नुकरण करने वाला, अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को भूलने वाला, बुद्धि को कुण्ठित करने वाला, नैतिक ज्ञान पर रीति का पर्दा डालने वाला व्यक्ति सब-कुछ होते हुए भी नैतिक मानव नहीं है। प्रलापी तथा धर्मोन्मादी लोगों के पशु-सदृश व्यवहार करने का यही कारण है कि उन्होंने अपने को बाह्य नियमों तथा आडम्बरों में सीमित कर दिया है। उन नियमों का पालन करके हम कहाँ पहुँचेंगे, इसे समझने का प्रयास नहीं किया है। जीवन का क्या ध्येय है ? सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? कल्याण के क्या अर्थ हैं ? आदि समस्याएँ उनके जीवन में नहीं उठतीं। यही कारण है कि वे नियमों की कमियों और बुराइयों की ओर से उदासीन हैं। यह विरक्ति ही उनसे जड़-नियमों का पालन तथा

अनैतिक कर्म करवाती है। स्थिर नियमों का पालन करना नैतिकता नहीं है। वही नियम नैतिक हैं जो मानवता के विकास और कल्याण के लिए शुभ हैं। विज्ञान और कला की उन्नति, सभ्यता और संस्कृति का विकास, ज्ञान और अनुभव की वृद्धि एवं जीवन का सांगोपांग अभ्युदय नियमों में भी परिवर्तन की अपेक्षा रखता है। एक ही नियम सब कालों और परिस्थितियों में मान्य नहीं हो सकता। व्यक्ति की मानसिक-कायिक स्थिति, उसकी आवश्यकता और परिवेश, समाज की आर्थिक स्थिति, सांस्कृतिक चेतना, औद्योगिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ नियमों के सापेक्ष महत्त्व को समझाती हैं। परिस्थिति और समय के अनुसार कर्तव्य का रूप बदल जाता है। किन्तु विवेकहीन प्रचलनों का दास मानव इस सत्य को नहीं समझ पाता।

प्रचलित नैतिकता की दुर्बलताएँ—अबौद्धिक और विवेकशून्य आचरण— इसमें सन्देह नहीं कि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में नैतिक नियम प्रचलित लौकिक नीतियों और अनीतियों के सूचक रहे। किन्तु कालक्रम में उनमें अनेक त्रुटियाँ आ गयीं, वे व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सके। वास्तव में प्रचलित नैतिकता का राज्य अविवेक का राज्य है। यह अपनी प्रजा की स्वतन्त्र बुद्धि और विवेक को निष्क्रिय कर देता है। परिणामस्वरूप प्रजा नियमों को परम मान लेती है। वह अबौद्धिक आचरण को अपना लेती है और समझ-बूझकर कार्य नहीं करती। ध्येय को समझने का प्रयास किये बिना ही स्थिर नियमों को अपना लेती है। अपरिवर्तनशील नियम नैतिक विकास में बाधा डालते हैं। वे जीवन की प्रगति के लिए अनुपयोगी हो जाते हैं और व्यावहारिक कठिनाइयों को नहीं सुलझा पाते। वे जनसाधारण को अन्धविश्वास, रूढ़िप्रियता, चमत्कारवाद एवं थोथी आस्थाओं-विश्वासों से जकड़ देते हैं और इस बात पर ज़ोर देते हैं कि रूढ़ि-रीतियों, ईश्वरीय नियमों, आप्त वाक्यों, श्रुतिसम्मत मतों, आगम-निगमों के रहस्यों, धार्मिक आस्थाओं और कथनों को बुद्धि से ग्रहण करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। क्योंकि केवल वही लोग (पादरी, मसीहा, पण्डित आदि) इन्हें समझ सकते हैं जिन्हें भगवद् अनुकम्पा प्राप्त है। जनसाधारण यदि इनके उपदेशों और आदेशों को नतमस्तक होकर

स्वीकार नहीं करेगा तो उसे भयंकर यातनाएँ सहनी पड़ेंगी।

अनैतिक नियम—यातनाओं से त्रस्त और भयभीत व्यक्तियों ने प्रचलित नैतिकता के अनुरूप कर्म को शुभ और उचित कहा। नैतिक दृष्टि से जिन्हें विवेकसम्मत कर्म कहते हैं वे प्रचलित नैतिकता के उपासकों के पलड़े में अनैतिक उतरे। नरक, भगवान् और शक्तिशाली व्यक्तियों से घबड़ाकर जनसाधारण ने अन्धविश्वासों और प्रचलनों को अपना संबल बनाया। वह आस्थाओं, विश्वासों, रूढ़ि-रीतियों एवं बाह्य आदेशों का जीवन बिताने लगा। एक ओर तो जनसाधारण बाह्याडम्बर, शारीरिक कष्ट, सामाजिक नियम, धार्मिक विधि पर आधारित अबौद्धिक जीवन बिताने लगा, दूसरी ओर समाज के लालची पण्डितों, शक्तिशाली व्यक्तियों, कूटनीतिज्ञों ने धर्म के नाम पर अत्याचार करने प्रारम्भ किये। नैतिकता की आड़ में अमानुषीय कर्म होने लगे एवं अत्यन्त क्रूर तथा रोमहर्षक नियम बनने लगे। फलस्वरूप सती-प्रथा, दास-प्रथा, बाल-विवाह, बहुपत्नी-प्रथा, देवदासी-प्रथा आदि असभ्य रीतियाँ फैलने लगीं। इस रूप में प्रचलित नैतिकता ने मानव-कल्याण के बदले रक्तपात करवाया। समाज में एकता, स्नेह, प्रेम, सहृदयता, आत्म-त्याग आदि के बदले स्वार्थ, लोभ, द्वेष, क्रोध, भेदभाव, मनोमालिन्य आदि दुष्प्रवृत्तियों का राज्य स्थापित हुआ।

कमियों को दूर करने का प्रयास—विवेकशून्य होकर नियमों का पालन करने वालों को पग-पग पर अधिक नियमों की आवश्यकता हुई और प्रचलित नैतिकता का विधान व्यापक और विशाल होता गया। किन्तु लोगों को वह फिर भी व्यावहारिक सहायता नहीं पहुँचा सका। उनका पथ-प्रदर्शन करना तो दूर रहा, विधान की व्यापकता अपने-आपको ही नहीं सँभाल सकी। उसमें आन्तरिक विरोध पैदा होने लगे। साधारण मनुष्य के लिए अपना कर्तव्य निर्धारित करना कठिन हो गया। यदि वह एक नियम को मानता है तो दूसरे का उल्लंघन करता है। पिता का कर्तव्य है कि वह अपने बच्चों का पालन-पोषण करे, नागरिक होने के नाते उसका यह भी कर्तव्य है कि वह देश की रक्षा के लिए युद्ध करे। धर्म-ग्रन्थों के अनुसार 'झूठ नहीं बोलना चाहिए' एवं 'आर्त की रक्षा करनी चाहिए' किन्तु जब तक कर्ता को विषम स्थितियों का

सामना नहीं करना पड़ा तब-तक तो ऐसे आदेश ग्राह्य हो सके पर यदि कभी ऐसी स्थिति आ गयी कि आर्त की रक्षा के लिए झूठ बोलना आवश्यक हो गया अथवा सच बोलकर आर्त की रक्षा करना सम्भव नहीं हो सका तो मनुष्य अपने को असहाय स्थिति में पाता है। उसकी समझ में नहीं आता है कि वह क्या करे। नैतिक नियमों का जब सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि नियमों से विरोध होता है तब भी कर्ता असमंजस में पड़ जाता है। इस कारण कुछ लोगों ने इन नियमों को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति में कर्तव्य की व्यापक व्याख्या मिलती है। यह सच है कि कुछ हद तक व्यवस्थित नैतिक विधान बनाने में सफलता भी प्राप्त हुई है। समाज में अथवा व्यक्तियों के समुदाय में एक मत मिल सकता है। जन-साधारण के विचारों में वंशपरम्परा, वातावरण, शिक्षा आदि के कारण समानता मिलना दुर्लभ नहीं है। विचारों की समानता के आधार पर नैतिक कर्तव्यों की रूपरेखा बनाई जा सकती है। किन्तु ऐसे नियम सदैव प्रचलित नैतिकता के अंग रहेंगे। नैतिकता जनसाधारण के विचारों की समानता की सूचक नहीं है, वह ध्येय की प्राप्ति के लिए शुभ नियमों का निर्देशन करती है। कर्तव्यों का विधान बनाने वालों ने चरम ध्येय अथवा उद्देश्य को समझने का प्रयास नहीं किया। उनका नैतिक विधान ध्येय की संगति को प्राप्त नहीं कर सका। वह आन्तरिक विरोध से नियमों को मुक्त न कर सका। अतः ऐसे विधानों को सन्तोषप्रद मान लेने पर भी सार्वभौम मूल्य की दृष्टि से सफल नहीं कह सकते। पहले तो जीवन की प्रत्येक भिन्न परिस्थिति के लिए आचरण का नियम बनाना अपनी अतिव्यापकता के कारण एक असम्भव प्रयास है। परिस्थितियों की विभिन्नता और विषमता अनन्त कर्तव्यों की अपेक्षा रखती है। परिस्थिति, देश और काल के अनुसार कर्तव्य का रूप बदल जाता है, अनन्त कर्तव्यों को समझना, उनकी गणना करना, उन्हें लिपिबद्ध करना, मानव शक्ति के परे है और यदि थोड़ी देर को यह मान भी लें, तो क्या मनुष्य की स्मरण-शक्ति अनन्त नियमों को याद रख सकती है ? क्या सदैव नियमों को याद रखकर उनके अनुरूप बिना सोचे-समझे ही कर्म करने वाला

व्यक्ति नैतिक है ? क्या ऐसे समस्त नियमों एवं आदेशों का पालन करना बौद्धिक और विवेकसम्मत है ?

वास्तव में बिना ध्येय को समझे न तो आचरण का मार्ग निर्धारित किया जा सकता है और न नियमों के विरोध को दूर ही किया जा सकता है। नैतिकता का काम विशिष्ट नियमों को देना नहीं है और न वह मनुष्य पर नियमों को आरोपित ही करती है। वह केवल मार्ग-निर्देशित करती है और बुद्धिजीवी स्वेच्छा से उस मार्ग को स्वीकार करता है। विशिष्ट कर्तव्यों की रूपरेखा बनाना, जैसा कि अभी कहा जा चुका है, असम्भव तो है ही, अनैतिक भी है। फिर ऐसा व्यापक विधान नियमों के विरोध को बढ़ाता है, घटाता नहीं। धर्म ने इस विरोध को दूर करने का एक भिन्न उपाय निकाला। धर्मनिष्ठ का कर्तव्य है कि वह दैवी आदेशों का चुपचाप, बिना आपत्ति किए, सविनय पालन करे। मनुष्य को चाहिए कि वह राजा, धर्माध्यक्ष या प्रधान पुरोहित के निर्णयों को दैवी उपदेश समझकर स्वीकार करे। प्राचीन काल में भारत में राजा को धर्म की धुरी धारण करने वाला माना जाता था। राजा ही प्रजा का पति तथा ईश्वर समझा जाता था। मध्ययुगीन यूरोप में भी राजा के दैवी अधिकारों तथा प्रधान पादरी के आदेशों का बोल-बाला था। किन्तु इस 'सविनय आज्ञा पालन' करने की आवाज़ को उठाकर भी धर्म व्यावहारिक कठिनाइयों और नियमों के विरोध को सुलझा नहीं पाया। दैवी आदेश को परम कहकर उसने नियमों के विधान में जिस संगति और सामंजस्य को स्थापित करना चाहा वह सम्भव न हो सका।

बौद्धिक जागरण—यह काल वास्तव में परिवर्तन का काल था। लोगों के अनुभव और ज्ञान की वृद्धि ने, संस्कृतियों के संघर्ष और कर्तव्यों की मुठभेड़ ने नैतिक बुद्धि को जागृत कर दिया। विकास की सर्वांगीण उन्नति ने मनुष्य का ध्यान गूढ़ चिन्तन की ओर आकर्षित किया। मनुष्य की बुद्धि ने अपने को सुप्तावस्था से मुक्त करके एकता की माँग सम्मुख रखी और उसका समाधान करने के लिए कर्तव्यों का संगतिपूर्ण विधान बनाने का प्रयास किया तथा 'सविनय आज्ञा पालन' करने की सलाह दी। लोगों के सन्देह और संशय को,

उनकी आपत्तियों और विरोधों को 'दैवी इच्छा' के नाम पर दूर करना चाहा। आत्मा, सत्य और न्याय की पुकार को 'स्वर्ग की आकांक्षा', 'नरक का भय' अथवा पुरस्कार एवं दण्ड के भय से दबाना चाहा और इस प्रकार दैवी आदेश के नाम पर नैतिकता का विनाश करना चाहा। यह सभी मानेंगे कि नैतिकता शक्तिशाली बाह्य आदेशों की अनुवर्तिनी दासी नहीं है। इसमें भी सन्देह नहीं है कि आचरण के नियम असंस्कृत और अनैतिक व्यक्ति के लिए अनिवार्य हैं। वे उसको शिक्षित बनाने के लिए परम उपयोगी हैं। किन्तु नैतिक व्यक्ति जब प्रचलनों के अन्तःसत्य को समझने का प्रयास करता है और उसे उनमें अन्तर्विरोध मिलता है तो उसकी आत्मा नियमों की विरोधी हो जाती है। वह उनके बन्धनों से अपने को मुक्त कर यह जानने का प्रयास करता है कि उसका ध्येय क्या है। जब धर्म या नीति उससे कहती है कि अपने पड़ोसी को अपने समान प्यार करो तो वह जानना चाहता है कि उसका अपने प्रति क्या कर्तव्य है। क्या पड़ोसी और उसके अधिकार समान हैं? यदि समान हैं तो वह परस्पर के स्वार्थों के संघर्ष के कारण विरोधी परिस्थिति उत्पन्न होने पर क्या करे? यह एक नैतिक चिन्तन की स्थिति है। बाह्य नियम के बन्धन और चेतना की आन्तरिक स्वतन्त्रता के विरोध का प्रश्न है। उसकी नैतिक चेतना बाह्य आरोपित नियमों के विपरीत आत्म-आरोपित नियम के स्वायत्व को स्थापित करती है। वह विवेकसम्मत और उचित नियमों को चाहती है। दण्ड का भय और पुरस्कार का लालच उसे अपने मार्ग से विचलित नहीं करता है। इस प्रकार व्यक्ति ज्यों-ज्यों नैतिक प्रौढ़ता की ओर बढ़ता गया त्यों-त्यों वह अपने को बाह्य नियमों से मुक्त करता गया।

आन्तरिक नियम का बोध—प्रचलित नैतिकता ने अपनी दुर्बलताओं के कारण अपने विरोधी बीज बोये। रीति-रिवाजों के संकुचित दायरे में नैतिकता पनप नहीं सकी। उसकी घुटन एवं धनात्मक नियमों की कट्टरता ने लोगों की आलोचनात्मक बुद्धि को जाग्रत कर दिया। जीवन की विषम परिस्थितियों ने विवेक को सक्रिय बनाया। व्यावहारिक कठिनाइयों ने प्रचलित मान्यताओं

के प्रति सन्देह और अविश्वास को जन्म दिया। लोकमत और शास्त्रमत के प्रति मनुष्य ने विद्रोह किया। उसने यह आवश्यक समझा कि वह इनको स्वीकार करने के पहले उनके सत्य को समझे और जब उसने उन्हें आलोचनात्मक कसौटी पर कसकर तर्क-बुद्धि से ग्रहण करना चाहा तो उसे रूढ़ियों और पूर्व-ग्रहों के खोखलेपन का तथा धर्म के बाह्याडम्बर और प्रचलित आदेशों की व्यर्थता का बोध हुआ। उसने उन सबसे अपने को मुक्त करने का प्रयास किया और उसका ध्यान आन्तरिक नियमों की ओर खिचा। इस प्रकार सर्वत्र ही नैतिकता का विकास बाह्य नियमों से आन्तरिक नियमों की ओर होने लगा।

नियमों की सत्यता को समझने के प्रयास में मनुष्य को यह ज्ञात हुआ कि प्रचलित नैतिकता विवेकसम्मत नहीं है। वह सच्चरित्रता को महत्त्व नहीं देती है, उद्देश्य, प्रेरणा एवं चरित्र का उचित मूल्यांकन नहीं करती है; वह जीवन के बाह्य पक्ष को ही सब-कुछ मानती है, आन्तरिक पक्ष की ओर से विमुख है। अपने मूल में शुभ होते हुए भी वह आभ्यन्तरिक रूप से अशुभ है, बौद्धिक दृष्टि से खोखली और व्यावहारिक दृष्टि से भ्रमपूर्ण है। उसके नियमों में देश-काल की विभिन्नता एवं विचित्रता नहीं मिलती, अत्यन्त कट्टर हो जाने के कारण वह स्थिर नियमों का समर्थन करती है, जिनका पालन करने से आत्म-प्रबुद्ध व्यक्ति को सन्तोष नहीं मिल सकता क्योंकि वह अविवेकी एवं नैतिक ज्ञान-शून्य व्यक्ति की भाँति नियमानुवर्तिता को ही सब-कुछ नहीं समझ सकता। वह आन्तरिक नियम को भी जानना चाहता है। वह उस नियम को समझना चाहता है जिसके अनुरूप कर्म करने के लिए वह बाध्य है।

नैतिक माप-दण्ड क्या है? नैतिक निर्णय का मूल आधार क्या है? किस माप-दण्ड के आधार पर कर्म को उचित और अनुचित कहा जा सकता है? क्या नैतिकता उस माप दण्ड को दे सकती है जो नियम, रीति-रिवाज एवं अभ्यास का स्थान ले सके या जो समाज, जाति देश के ऊपर एक सार्वभौम वस्तुगत सत्य की पूर्ति कर सके? वह कौन-सा अनुभव है जिसे हम अपने नैतिक आचरण द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं? मनुष्य के विवेक ने जानना चाहा कि कौन-सा आदेश सर्वोच्च आदेश है। जीवन में जो अनन्त आदेश दीखते हैं

उनमें कौन-सा आदेश वरेण्य है ? आचरण में किस माप-दण्ड की शरण ली जाए कि आदेशों और नियमों के जगत् में जो विरोध मिलता है वह दूर हो जाए ? क्या प्रचलित नैतिकता को सही अर्थ में नैतिक कह सकते हैं ? क्या उसके नियमों का पालन करना शुभ है ? क्या वे ध्येय के लिए उपयोगी हैं ? क्या उनमें आत्म-संगति मिलती है ? और यदि नहीं मिलती तो इसका क्या कारण है ? संक्षेप में, अनेक प्रकार के प्रश्नों को उठाकर मनुष्य ने नैतिक मान्यताओं की प्रामाणिकता को जानना चाहा। व्यावहारिक कठिनाइयों ने उसे विवश किया कि वह नैतिकता के परम-स्वरूप को समझे। उसने तर्क बुद्धि से काम लिया और व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया। मनन और चिन्तन उसे नैतिक प्रगति की ओर ले गये। दण्ड और पुरस्कार का युग अनायास ही पीछे छूट गया। बाह्य नियमों का भय जाता रहा। मनुष्य सदाचार की ओर झुक गया। प्रचलित नैतिकता का अनैतिक व्यक्तियों के लिए जो कुछ भी महत्त्व रहा हो, नैतिक दृष्टि से वह केवल ऐतिहासिक जिज्ञासा का समाधान करती है। उनके अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार दण्ड-पुरस्कार के सामाजिक नियम से व्यक्ति आत्मोन्मुखी हुआ और किस प्रकार नैतिकता के विकास के द्वितीय चरण ने विचार प्रधान प्रणालियों (reflective systems) को जन्म दिया।

अन्तर्बोध की स्थिति— विचारकों ने नियमों को समझने का प्रयास किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बाह्य शक्ति द्वारा आरोपित नियमों का भय, विनय या दासता के भाव से पालन करना नैतिकता नहीं है। रीति-रिवाज, प्रचलनों और बाह्य नियमों से नैतिक व्यक्ति मुक्त है। वह उन्हीं नियमों को अपने आचरण में स्वीकार करता है जिनका कि उसका अन्तर्बोध (conscience)[1] अनुमोदन करता है। उसका जीवन अपने-आपमें अपना

---

१. नैतिक नियम के आन्तरिक स्वरूप को सहज ज्ञानवादियों (Intuitionists) ने समझाने का प्रयास किया है। उन्होंने अन्तर्बोध के विभिन्न अर्थ किये हैं। वे अपने इस प्रयास में कहाँ तक सफल अथवा असफल रहे उसके लिए देखिए, भाग २, अध्याय १०।

नियम बना लेता है। नैतिक प्रौढ़ता को प्राप्त व्यक्ति बाह्य नियम का आज्ञाकारी नहीं है, वह अपने आन्तरिक नियम या अन्तर्बोध से शासित है। नैतिक नियम वास्तव में अन्तर्बोध की देन है और नैतिक निर्णय अन्तर्बोध का निर्णय है। यह मनुष्य का अपना वैयक्तिक अधिकार है कि वह नैतिक क्षेत्र में स्वतन्त्र निर्णय दे सकता है, अन्तर्बोध की ध्वनि को सुन सकता है और उसके आदेश का पालन कर सकता है। अन्तर्बोध बताता है कि उसे क्या करना चाहिए और आचरण का कौन-सा नियम उसके लिए उचित है। अन्तर्बोध नैतिकता का माप-दण्ड है, वह व्यावहारिक मार्ग को निर्धारित करने वाला है।

आन्तरिक नियम की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ— अन्तर्बोध के शासन का काल नैतिक-जीवन का वह काल है जब कि मनुष्य प्रचलनों की नैतिकता तथा लौकिक आचारविधियों से विद्रोह करके अन्तर्दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने लगा और अपने अन्तःकरण की शुद्धता पर मनन-चिन्तन करने लगा। वह बाह्य नियमों से विमुख होकर आत्मिक सत्य को खोजने लगा, किन्तु अपरिपक्व मानसिक स्थिति के कारण वह अपने ही साम्प्रदायिक आवेश और कट्टरपंथी का शिकार हो गया। उसकी आस्थाओं, पूर्वग्रह, रूढ़िप्रियता और प्रचलनों का भय ही उसके अन्तर्बोध द्वारा अपने को व्यक्त करने लगे। इन दुर्बलताओं के होने पर भी आन्तरिक नियम की अपनी विशेषता रही। उनके प्रभाव से व्यक्ति नैतिकरूप से अधिक जागरूक हो गया। प्रचलित नैतिकता ने आचार के बाह्य पक्ष को—कर्मों और उनके परिणामों को महत्त्व दिया था। किन्तु विवेकसम्मत नैतिकता (Rationalistic Ethics) ने, अथवा विचार-प्रधान प्रणालियों ने बाह्य के अतिरिक्त आन्तरिक पक्ष को भी महत्त्व दिया। उसने इस बात की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया कि प्रेरणा, उद्देश्य एवं चरित्र को समझना आवश्यक है और बाह्य नियमों के सविनय पालन को अनैतिक माना। उसके अनुसार नैतिक नियम आत्म-आरोपित हैं। प्रेरणा की पवित्रता नैतिकता का चिह्न है। नैतिक कर्म 'हृदय की पवित्रता' की अभिव्यक्ति हैं। मन, वचन और कर्म से नैतिक होना अनिवार्य है।

नैतिक नियम का स्वरूप : आन्तरिक होते हुए भी वस्तुगत और सार्वभौम—बाह्याचार से मुक्त होने के पश्चात् वह स्थिति आई जबकि व्यक्ति ने अपनी आत्मगत कठिनाइयों और सीमाओं से अपने नैतिक ज्ञान को संकुचित कर दिया। किन्तु पूर्ण रूप से नैतिक होने के लिए यह आवश्यक है कि वह आत्मगत सीमाओं से ऊपर उठे; आत्मगत से वस्तुगत, वैयक्तिक से वैश्विक एवं अपूर्ण से पूर्ण की ओर जाए। अथवा उसके लिए आन्तरिक और बाह्य नियम की एकता समझना अनिवार्य है। इस सन्दर्भ में नैतिक नियम आत्मगत होते हुए भी वस्तुगत हैं, सार्वभौम हैं। नैतिकता का मूल्य सार्वभौम है। विना इसके सार्वभौम मूल्य को समझे व्यक्ति एवं राष्ट्र नैतिक प्रगति की ओर नहीं बढ़ सकते। उन्हें उनके स्वभाव, वातावरण और परिवेश की सीमाएँ बाँध देती हैं।

नैतिक नियम विशिष्ट व्यक्तियों, जातियों और राष्ट्रों तक सीमित नहीं हैं। नैतिक विचार और मान्यताएँ व्यक्ति एवं जाति-विशेष की थाती नहीं हैं, उनका मूल्य सार्वभौमिक है। सब प्राणियों के लिए वे समान रूप से अनिवार्य हैं और देश और काल की परिधि से मुक्त हैं। वे सब देश और काल में समान रूप से लागू हैं। उनका सार्वभौमिक मूल्य यह बताता है कि वे स्वत: वांछनीय हैं। उनका आदेश आत्मा के सत्य का आदेश है, अत: निरपेक्ष है। ज्ञानी (नैतिक ज्ञानी) व्यक्ति ही इस निरपेक्ष तथा आन्तरिक आदेश को समझ सकते हैं। ज्ञान सद्गुण है, इसलिए सत्य का ज्ञान ज्ञानियों को सत्य की ओर खींचता है, सदाचारी बनाता है। सदाचार के नियमों को मनुष्य स्वयं अपने ऊपर आरोपित करता है। पण्डितों, शास्त्रों और श्रुतियों की दुहाई देकर नैतिक नियम दूसरों पर आरोपित नहीं किए जा सकते। स्वेच्छापूर्वक तथा समझ-बूझकर सदाचार के मार्ग को ग्रहण करना ही नैतिकता है।

सदाचार का यह मार्ग आनन्द का मार्ग है। यह सदाचारियों को आकर्षित करता है। उनके जीवन को आह्लादमय बनाता है। किन्तु जो व्यक्ति अपने नैतिक ज्ञान पर अविवेक का पर्दा डाल देते हैं और भयवश नियमों का पालन करते हैं उनके लिए यह अत्यन्त कठिन और नीरस मार्ग है। नैतिक

मार्ग को अधिकांश व्यक्ति भयवश ही अपनाते हैं और फिर वे उलाहना करते हैं कि यह अव्यावहारिक और अतिमानवीय है। वे यह भूल जाते हैं कि नीति के अनुसार व्यक्तियों का आचरण उनके सामान्य और स्वतन्त्र जीवन का प्रतिरूप है। नैतिक व्यक्तियों के कर्म उनके चरित्र एवं जीवन-सिद्धान्त के सूचक होते हैं। वे उन्हीं कर्मों को करते हैं जिन्हें वे योग्य और मूल्यवान समझते हैं, जिन पर कि उनके जीवन की सार्थकता निर्भर है।

नैतिक विचार, मान्यताएँ और निर्णय प्रारम्भ में विशिष्ट जाति, राष्ट्र, समुदाय तथा परिस्थिति-विशेष तक सीमित थे। देश और काल अथवा भौगोलिक, आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति के अनुरूप नैतिक नियमों में भिन्नता थी। वे अपने ही उत्पत्ति-स्थल और निवास-स्थान के संकुचित घेरे की चेतना को व्यक्त करते थे। वहीं के लिए उनकी प्रामाणिकता थी। धीरे-धीरे वे व्यापक और सार्वभौमिक होने लगे। उनकी सार्वभौमिकता के साथ उनका आन्तरिक रूप भी स्पष्ट हो गया। नैतिक निर्णय के रूप का रूपान्तर हो गया। इस प्रकार नैतिक नियम मूल्यपरक हो गये। वे इस पर प्रकाश डालने लगे कि कौन-से कर्म अथवा नियम ध्येय की प्राप्ति में सहायक हैं और कौन-से नहीं हैं।

ध्येय की धारणा उन्हें सार्वभौमिक प्रामाणिकता देती है—विकास विकसित चेतना के व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र के लिए यह जानना आवश्यक है कि उनके जीवन का गूढ़ आन्तरिक सत्य एवं ध्येय क्या है। प्रचलनों और नियमों के जगत् से उन्हें उन्हीं नियमों को स्वीकार करना चाहिए जो कि ध्येय के लिए सहायक हैं। नियमों का अपना मूल्य अवश्य है। वे नैतिक बुद्धि के विकास में सहायक होते हैं। नैतिक जीवन का आन्तरिक तथा बाह्य-पक्ष अथवा बुद्धि तथा नियमों का द्वन्द्व तथा उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना एक-दूसरे के विकास में सहायक होते हैं। अन्तर्बोध का आन्तरिक नियम अपने-आपमें संकुचित होता है और प्रचलनों का बाह्य नियम जर्जर तथा रूढ़िप्रिय होता है। नियमों को स्वीकार करने के पहले उनका मूल्यांकन करना अनिवार्य है। जब व्यक्ति विरोधी नीतिवाक्यों और विरोधी परिस्थितियों में पड़ जाता है एवं

जब आचरण के औचित्य-अनौचित्य का प्रश्न उठता है तो उसे अपने ध्येय को सामने रखकर उसका निराकरण करना चाहिए। नियमों के विरोधों को ध्येय की धारणा ही एकता के सूत्र में बाँध सकता है। आर्त्त की रक्षा करना और सत्य बोलने में विरोध नहीं है। आर्त्त की रक्षा करने के लिए सत्य न बोलने में पाप नहीं है। जीवन का ध्येय मानव-कल्याण है, उसे ही सम्मुख रखकर कर्म करने चाहिए।

वस्तुत: अपनी प्रारम्भिक अविकसित मन:स्थिति में मनुष्य को अनिवार्यत: बाह्य नैतिक नियमों की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु जब उसके भीतर सदसत् का बोध उदय हो जाता है तब वह उन प्रचलित बाह्य नियमों की परीक्षा कर तथा उन्हें अपने अन्तर्सत्य की कसौटी पर कसकर उनका वास्तविक मूल्य निर्धारित करता है और अपने लिए एक आन्तरिक नैतिक नियम को खोजने का प्रयत्न करता है जिसे प्राप्त कर लेने पर वह बाह्य नियमों को रूढ़ि तथा संस्था सम्बन्धी सीमाओं तथा जड़ताओं से मुक्त होकर उस सार्वजनिक अन्तर्सत्य के नियम से परिचालित होना पसन्द करता है जो मनुष्यत्व के उपादानों से पूर्ण होने के कारण सर्वकल्याणकर होता है।

ध्येय के स्वरूप को समझने के क्रम में मनुष्य व्यक्ति-विशेष के कल्याण से विश्व के कल्याण की ओर उन्मुख हुआ। प्रेम का आन्तरिक सिद्धान्त, सार्वभौम विवेक, कर्त्तव्य कर्म, निष्काम कर्म, अहिंसा, वसुधैव कुटुम्बकम् की धारणाएँ विश्व-कल्याण की धारणाएँ हैं। व्यक्ति नैतिक विश्व का सदस्य है। उसे उस नियम को अपनाना चाहिये जो मुख्यत: मानवीय है, मनुष्यत्व के बोध से प्लावित है। नैतिक नियम जीवन का वह सिद्धान्त है जो कि एक ही विश्व के सदस्य होने के कारण सब मनुष्यों की धरोहर सम्पत्ति है। वह एक सार्वभौम धर्म तथा विश्वव्यापी सिद्धान्त है। आचरण का नियम सार्वजनीन है। उसकी सार्वभौमिकता उसके वस्तुगत स्वरूप पर प्रकाश डालती है और उसका मानवीय पक्ष या गुण उसके आन्तरिक स्वरूप पर। वास्तव में, नैतिक जगत् में बाह्य और आन्तरिक का भेद नहीं होता। जैसा कि कहा जा चुका है केवल बाह्य नियम अनैतिक और मानव-गौरव-विहीन हैं तथा केवल आन्तरिक

संकुचित या सीमित एवं वैयक्तिक हैं। नैतिक जगत् में यह एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं प्रत्युत् एक-दूसरे को पूर्ण और स्वस्थ बनाते हैं। नैतिक दृष्टि से बाह्य नियम और कुछ नहीं हैं बल्कि आन्तरिक नियमों के ही प्रतिविम्ब हैं। आन्तरिक सत्य ही बहिर्मुखी होकर प्रवाहित होता है। नैतिक नियम सम्पूर्ण जीवन के सिद्धान्त हैं। नैतिक निर्णय द्वारा मानवता का सत्य विकास की ओर अग्रसर होता है और वह व्यक्तियों द्वारा अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है।

द्वितीय भाग

नैतिक सिद्धान्त

९

सामान्य निरीक्षण

(क) विभिन्न नैतिक सिद्धान्त

नैतिक आदर्श—नीतिशास्त्र इस तथ्य पर आधारित है कि मनुष्य के कर्म आत्म-निर्णीत होते हैं। उसका आचरण साभिप्राय होता है। बौद्धिक होने के नाते वह जानना चाहता है कि किस परम ध्येय के लिए अपने जीवन को संचालित करे। अथवा नैतिक आदर्श क्या है ? जीवन की पूर्णता किस पर निर्भर है ? आत्म-सन्तोष कैसे प्राप्त हो सकता है ? उस सर्वश्रेष्ठ शुभ का क्या स्वरूप है जो कि मानवीय गौरव का प्रतीक है ? मनुष्य किसी भी नियम या आदेश का—चाहे वह आत्म-आरोपित हो या बाह्य-आरोपित—यान्त्रिक रूप से पालन नहीं कर सकता। वह उसका अर्थ समझना चाहता है। नियमों और आदेशों को व्यावहारिक रूप देने में उसे कई प्रकार की कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। विरोधों का सामना करना पड़ता है। नियमों में भी आत्म-विरोध मिलता है। ऐसी असहाय अवस्था में वह एक परम मापदण्ड की खोज करता है। उस आदर्श को जानना चाहता है जिसके लिए नियम साधनमात्र हैं, जिसके द्वारा परस्पर-विरोधी नियमों की आत्मा तक पहुँचा जा सके।

विवाद का केन्द्र : व्यक्ति का स्वभाव—यदि नैतिकता के इतिहास का अध्ययन करें तो मालूम होगा कि नैतिक चिन्तन के शैशवकाल से ही परम आदर्श के स्वरूप के बारे में दो विरोधी धारणाएँ चली आ रही हैं। नीतिज्ञों ने मनुष्य-स्वभाव को बुद्धि और भावना की सामंजस्यपूर्ण इकाई न लेकर दो योद्धाओं का युद्ध क्षेत्र मान लिया है। एक मत के अनुसार मनुष्य का मूल रूप

भावनात्मक है और दूसरे के अनुसार उसका मूल रूप बौद्धिक है। दोनों प्रकार के मत के प्रतिपादकों ने अपनी मनुष्य-स्वभाव की धारणा के अनुरूप अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

भावना : सुखवाद—मनुष्य को भावनात्मक प्राणी मानने वालों ने कहा कि जीवन का चरम ध्येय अथवा नैतिक आदर्श सुख है। उसका कल्याण इन्द्रिय-सुख में निहित है। इस इन्द्रियपरक नीतिशास्त्र (Ethics of Sensibility) के सिद्धान्त के अनुसार जीवन का ध्येय सुख (Hedone) है। यह सिद्धान्त सुखवाद (Hedonism) के नाम से प्रसिद्ध है। सुखवाद का प्रतिपादन प्राचीन काल में यूनान में सिरेनैक्स (Cyrenaics) और ऍपिक्यूरियन्स (Epicureans) ने किया और आधुनिक काल में उपयोगितावादियों (Utilitarians) ने। इसके तीन रूप मिलते हैं : अनुभवात्मक, बौद्धिक और विकासात्मक।

बुद्धि : बुद्धिपरतावाद—दूसरी ओर बुद्धिपरतावाद (Rationalism) मिलता है जिसके अनुसार मनुष्य पूर्ण रूप से बौद्धिक है। उसका शुभ इन्द्रिय-सुख में नहीं, बौद्धिकता में है। बुद्धिपरतावाद को बुद्धिपरक नीतिशास्त्र (Ethics of Reason) भी कहते हैं। इसका प्रतिपादन प्राचीन काल में सिनिक्स (Cynics) और स्टोइक्स (Stoics) ने किया तथा आधुनिक काल में कांट तथा सहजज्ञानवादियों (Intuitionists) ने।

विरोध की प्रगति : समन्वय की ओर—नैतिक इतिहास के क्रम में सुखवाद और बुद्धिपरतावाद, दोनों ही, समय-समय पर भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होते गये। दोनों सिद्धान्तों का अध्ययन यह बताता है कि नैतिक विचारकों ने शुभ (परमध्येय) को समझने का प्रयास किया है। इन सिद्धान्तों के प्राचीन यूनानी प्रवर्तक यह भली-भाँति जानते थे कि शुभ का सम्बन्ध वास्तविक जीवन से है। शुभ वह है जिसे कि प्रयास द्वारा व्यक्ति प्राप्त कर सकता है और जिसका वह आत्म-साक्षात्कार कर सकता है। उसका प्रत्यक्षीकरण करके वह आत्म-सन्तोष प्राप्त कर सकता है। यूनानी दर्शन आत्म-बोध (Self-realisation) को शुभ कहता है। आत्म-बोध का क्या रूप है? उससे अभिप्राय इन्द्रिय-तृप्ति से है या बौद्धिक सन्तोष से?—यह प्रश्न अपने उत्तर के लिए

स्वयं इस प्रश्न पर निर्भर है कि मनुष्य क्या है ? उसका क्या स्वरूप है और उसके सत्यरूप को भावना अभिव्यक्त करती है या बुद्धि ? 'आत्म-बोध' के स्वरूप को समझने में सुखवाद और बुद्धिपरतावाद दोनों ही दो रूप में सम्मुख आते हैं, उग्र रूप में और नम्र रूप में। अपने उग्र रूप में बुद्धिपरतावाद ने भावनाओं का उन्मूलन करना चाहा और सुखवादियों ने भोग-विलासपूर्ण मानव-जीवन में बुद्धि को कंटक समझा। किन्तु जैसा कि उन सिद्धान्तों के अध्ययन से ज्ञात है दोनों ने ही अपने-अपने सिद्धान्तों की परम सत्यता को सिद्ध करने के आवेग में अपनी नींव खोद डाली। मनुष्य न तो भावना-शून्य ही है और न बुद्धिरहित ही। उसका नैतिक जीवन बुद्धि और भावना के समन्वय की अपेक्षा रखता है। सुख-वाद बिना बुद्धि को स्वीकार किये नहीं टिक सकता है और बुद्धिवाद बिना भावना को स्वीकार किये वास्तविक नहीं हो सकता। बुद्धि और भावना मानव-स्वभाव के दो अविच्छिन्न अंग हैं। इनका सन्तुलन बिगड़ने से मनुष्य जीवन में आगे नहीं बढ़ सकता।

पूर्णतावाद—बुद्धिपरतावाद और सुखवाद ने अपने-अपने सिद्धान्तों को सिद्ध करने के आवेश में न तो तर्क का आधार लिया और न मनुष्य के स्वभाव को ही समझने का प्रयास किया। उन्होंने स्थूल बुद्धि से काम लिया। एक ही व्यक्तित्व में दो विरोधी प्रवृत्तियों को देखा। सच तो यह है कि मनुष्य के पूर्ण संगठित व्यक्ति में बिना इच्छाओं के बुद्धि निष्क्रिय है और बिना बुद्धि के इच्छाएँ अन्धी हैं। अतः स्थूल दृष्टि से विरोधी होते हुए भी वे एक-दूसरे की पूरक हैं। उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों की मुख्य त्रुटि यही है कि उन्होंने मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व को एवं बुद्धि और भावना के एकत्व को नहीं समझा और उनके विरोध को अत्यधिक महत्व दे दिया। जनसाधारण में जो जीवनयापन के दो मत मिलते हैं उनके मूल में भी मानव-व्यक्तित्व की यही भ्रान्तिपूर्ण धारणा है। सुखवादी और बुद्धिपरतावादी मनुष्य के व्यक्तित्व को बुद्धि और भावना की संगतिपूर्ण इकाई न मानते हुए जनसाधारण की भाँति पूछते हैं कि उसके सत्य स्वरूप को इच्छाएँ अभिव्यक्त करती हैं या बुद्धि ? नीतिशास्त्र के इतिहास में यह विरोध हिरेक्लिटस-डिमोक्रिटस, एण्टिस्थीनीज़-एरिस्टिपस,

जीनो-एपिक्यूरस, कडवर्थ-हौब्स और कांट-बैंथम आदि के बीच प्रकट हुआ। उसके साथ ही वह मत भी मिलता है, जिसने मनुष्य के मूर्त व्यक्तित्व को समझने का प्रयास किया। मनुष्य भावनामात्र या बुद्धिमात्र नहीं है। उसका मूर्त व्यक्तित्व उन दोनों का समन्वय है। दोनों की तुष्टि अथवा आत्म-तुष्टि उसके जीवन का ध्येय है। यह मत व्यक्तित्व का नीतिशास्त्र (Ethics of personality) या पूर्णतावाद (Perfectionism) के नाम से प्रसिद्ध है। इसने दोनों सिद्धान्तों की सीमाओं और विरोधों का अतिक्रमण करके उनमें सामंजस्य स्थापित किया। इस मत की ओर प्लेटो, अरस्तू और हीगल ने ध्यान आकृष्ट किया।

उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों के अतिरिक्त अन्य मत भी मिलते हैं। उन मतों को मिश्रित सिद्धान्तों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है और उनको उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर समझाया जा सकता है। प्रमुख सिद्धान्त तीन ही हैं।

(ख) सुकरात

सोफिस्ट्स की आलोचना : शुभ वस्तुगत है—सुकरात (Socrates)[1] ने सोफिस्ट्स[2] की चुनौती का उत्तर देने का प्रयास किया। सोफिस्ट्स ने शुभ के वैयक्तिक पक्ष को महत्व दिया था। वैयक्तिक शुभ को सामाजिक शुभ से वियुक्त एक स्वतन्त्र अस्तित्व दे डाला था। इससे उनके सिद्धान्त का विकास परमस्वार्थवाद की ओर हुआ। सोफिस्ट्स का व्यक्तिवाद इस तथ्य को प्रकाश में लाता है कि उन व्यक्तियों के अतिरिक्त, जो कि समाज का अनिवार्य निर्माणात्मक अंग हैं, सामाजिक शुभ का कोई अर्थ नहीं है। सोफिस्ट्स के इस कथन को स्वीकार करते हुए भी ध्वनि निकलती है कि वैयक्तिक शुभ और सामाजिक शुभ एक ही हैं। किन्तु सोफिस्ट्स अपने परमस्वार्थवाद की धुन में

१. जन्म ४६९ ई० पू०—मृत्यु ३९९ ई० पू०।

२. शिक्षकों का समुदाय जिसने एथिन्स के नागरिकों को योग्य नागरिक बनाने के लिए शिक्षित करने का बीड़ा उठाया।

यह भूल जाते हैं कि व्यक्तिगत शुभ सामाजिक भी है। वे शुभ के केवल व्यक्तिगत पक्ष को ही महत्त्व देते हैं। प्रत्येक का सम्बन्ध उसी तक सीमित रखते हैं। उनके इस सिद्धान्त में वैयक्तिक शुभ की सामाजिक शुभ से संगति नहीं मिलती है। सुकरात ने सोफिस्ट्स समुदाय के विश्वविख्यात उपदेशक प्रोटेगोरस की उक्ति—मनुष्य ही सब वस्तुओं का मापदण्ड है—में जो सत्य है उसे स्वीकार किया और इस बात का समर्थन किया कि जिस शुभ की खोज हम करते हैं उसका सम्बन्ध मानव-कल्याण (Human well-being) से है और वह व्यक्तियों के ही द्वारा प्राप्त हो सकता है। अथवा शुभ का सम्बन्ध व्यक्तियों से है। किन्तु इस कारण हम इसे आत्मगत नहीं कह सकते हैं। जब सोफिस्ट्स कहते हैं कि शुभ का सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है तब सुकरात उनके विरुद्ध यह घोषित करता है कि शुभ वस्तुगत है, वह वैयक्तिक और सापेक्ष नहीं है। सुकरात के अनुसार यह भ्रान्तिपूर्ण है कि व्यक्तियों द्वारा प्राप्त हो सकने के कारण ही शुभ आत्मगत है। सोफिस्ट्स के विरुद्ध वह यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि शुभ व्यक्तिगत या आत्मगत नहीं है, उसका स्वरूप सार्वभौम और वस्तुगत है। वह सामान्य प्रत्ययों द्वारा समझा जा सकता है। नैतिक प्रत्ययों की परिभाषा या नैतिक धारणाओं की व्याख्या की जा सकती है। सुकरात ने यह बताया कि नैतिक गुणों की अपनी स्वतन्त्र वस्तुगत सत्ता है। वह व्यक्तियों के अनुभवों और भावनाओं पर निर्भर नहीं है। उन्हें बिना अपवाद के प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करता है। देश, काल का भेद मिथ्या है। उदाहरणार्थ, संयम, न्याय आदि को सभी लोग सब समयों में शुभ कहेंगे। वे सार्वभौम हैं।

सद्गुण, ज्ञान, आनन्द एक ही हैं—सोफिस्ट्स ने नैतिक मान्यताओं का जिस भाँति स्पष्टीकरण किया उससे सुकरात असन्तुष्ट था। सोफिस्ट्स के सम्मुख उनका वैयक्तिक, व्यावसायिक तथा उपयोग-प्रधान दृष्टिकोण था। सुकरात नैतिक-जिज्ञासु था। उसके जीवन का ध्येय आचरण की पूर्णता को प्राप्त करना था। उसने सदैव अपने को नीतिशास्त्र का विद्यार्थी माना। वह नैतिक विज्ञान का संस्थापक था। उसने सामान्य नैतिक धारणाओं की उचित

वैज्ञानिक परिभाषा देना आवश्यक समझा। विशिष्ट नियमों को समझाना चाहा। विभिन्न नियमों को एक व्यवस्थित विधान के अन्तर्गत रखने का प्रयास किया। सोफिस्ट्स ने प्राकृतिक नियमों और यथार्थ नियमों एवं रीति-रिवाजों के बीच एक अनमेल खाई खोदी। सुकरात ने प्राकृतिक नियमों को यथार्थ नियमों का आधार बताते हुए सामान्य विश्वासों को समझाया। जनसामान्य द्वारा स्वीकृत शुभ-अशुभ के नियमों को उनकी असंगत जटिलताओं के साथ स्वीकार किया। उनके विरोधों में साम्य स्थापित किया। उसके अनुसार सद्गुणों के जगत में अव्यवस्था नहीं है, व्यवस्था है, जिसे समझा और समझाया जा सकता है। उसके अनुसार सद्गुण ही ज्ञान है,[1] प्रज्ञा ही शील है। पूर्णज्ञान और पूर्णशील एक ही है। शुभ के ज्ञान को व्यवहार से पृथक् नहीं कर सकते। मूर्ख अथवा अज्ञानी ही अशुभ आचरण करता है। शुभ का ज्ञाता सदैव शुभ कर्म करता है, उसे ज्ञात रहता है कि शुभाचरण में उसका स्वार्थ[2] निहित है। अतः वह उसके विपरीत आचरण नहीं कर सकता। व्यक्तियों का स्वार्थ सदैव सामान्य शुभ के अनुरूप होता है, क्योंकि शुभ सार्वभौम और अपरिवर्तनशील है। सद्गुण और मानव-कल्याण व्यक्तियों की बदलती हुई रुचि से भिन्न अपरिवर्तनशील नियमों के आश्रित है। शुभ का ज्ञान व्यक्तियों के आचरण और नियमों में एकरूपता ला देता है। शुभ वह है जो सार्वभौम रूप से सबके लिए उचित एवं लाभप्रद है। शुभ वह है जो कि परम उपयोगी (Supremely useful) है। शुभ और उपयोगी एक ही है। इनका ऐक्य सिद्ध करता है कि सद्गुण की अन्तिम परिणति आनन्द (Happiness) है। बौद्धिक अन्तर्दृष्टि द्वारा शुभ एवं सद्गुण को समझा जा सकता है। इसके स्वरूप को समझ लेने से विवेकी व्यक्ति को बाह्य ऐहिक आकर्षणों के प्रति घृणा एवं अरुचि हो जाती है। वह आनन्द को पवित्र सुख मानने लगता है, जिसका

---

१. Virtue is Knowledge.

२. स्वार्थ (interest) से सुकरात का अभिप्राय आत्मोन्नति और आत्मसन्तोष से है। वह कहता है कि व्यक्तियों को अपनी आत्मा को पहचानना चाहिये। उसके अनुरूप कर्म करना चाहिये।

अभिप्राय है सामान्य सुखभोग का त्याग। आनन्द अपने-आपमें साध्य है। उसकी प्राप्ति में सहायक अन्य शुभ साधन एवं सापेक्ष शुभ हैं। परमशुभ आनन्द अथवा सद्‌गुण ही हैं।

(ग) उत्तर-सुकरात युग

सुकरात का प्रभाव—सुकरात के अनुसार चरित्र की पूर्णता को प्राप्त करना ही मनुष्य का ध्येय है। उसने अपने आचरण, आख्यानों, व्यक्तिगत वाद-विवादों द्वारा नैतिक-जीवन की आवश्यकता की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। सुकरात ने किसी विशिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया और न उसने नीतिशास्त्र पर कोई निबन्ध ही लिखा। उसने सदैव अपने को जिज्ञासु माना। उसके आचरण और उपदेश के कारण नीतिशास्त्र ने यूनान में अपने लिए प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। सुकरात की प्रेरणा के कारण ही लोगों का ध्यान वाह्य जगत से हटकर आचरण पर गया। उन्होंने नैतिक प्रश्नों को समझना चाहा। उसकी मृत्यु के पश्चात कई सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने धीरे-धीरे स्पष्ट रूप धारण किया।

सुकरात पन्थ—सुकरात से प्रभावित होकर चिन्तकों ने यह जानना चाहा कि परम शुभ का क्या रूप है। सुकरात के साथ उन्होंने यह स्वीकार किया कि उचित जीवन के बारे में व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है तथा नैतिक विज्ञान सम्भव है। किन्तु प्रश्न यह है कि मानव कल्याण क्या है? उसे कैसे प्राप्त कर सकते हैं? सुकरात के पन्थ को मानने वाले चार प्रमुख सिद्धान्त मिलते हैं: मेगेरियन (Megarian), प्लेटोनिक (Platonic), सिनिक (Cynic) और सिरेनैक (Cyrenaic)। ये चारों यह मानते हैं कि मनुष्य के लिए शुभ का ज्ञान आवश्यक है। किन्तु शुभ के स्वरूप के बारे में इनमें पारस्परिक विरोध मिलता है। इसका मूल कारण यह है कि सुकरात के सिद्धान्त में विच्छिन्न रूप से अनेक विचार-धाराएँ मिलती हैं। उसके अनुयायियों ने उसको अपना गुरु मानते हुए उसके सिद्धान्त में अपने ही विशिष्ट सिद्धान्तों का प्रतिविम्ब देखा। सुकरात के मुख्य शिष्यों में प्लेटो और अरस्तू (Aristotle) हैं। अन्य

सिद्धान्तों के प्रतिपादक भी उसके शिष्य एवं अनुयायी थे।

भिन्न शाखाएँ—मेगेरियन ने अपने नीतिशास्त्र को रहस्यवादी बना दिया। वे व्यावहारिक दर्शन के नाम पर तत्वदर्शन में प्रवेश कर गये। अतः नैतिक दृष्टि से वे महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं कर सके। प्लेटो के लिए परम शुभ ज्ञान और सुख का सन्तुलित योग है किन्तु सिनिक और सिरेनैक विचारधारा में परम विरोध मिलता है। सिरेनैक के अनुसार जीवन का ध्येय इन्द्रियसुख है और सिनिक के अनुसार इन्द्रिय-विजय।

१०

सुखवाद

भूमिका—सुखवाद (Hedonism) सामान्यतः उन सिद्धान्तों का सूचक है जो सुख-भोग को ही जीवन का परमध्येय मानते हैं। यह यूनानी शब्द हीडोन (Hedone) से लिया गया है। हीडोन के अर्थ होते हैं, सुख। अतः वे सिद्धान्त, जो सुख को जीवन का ध्येय मानते हैं, सुखवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। सुखवाद के प्रवर्तक अपने को सुकरात का अनुयायी मानते हैं। वे इस बात से प्रभावित हुए कि सुकरात ने अपने चारों ओर की परिस्थितियों का अधिक-से-अधिक उपयोग किया। उन्होंने सुकरात के आचरण की पवित्रता और सात्विकता को नहीं समझा। उसमें चतुराई और दूरदर्शिता देखी। सुकरात के अनुसार जीवन का ध्येय आनन्द है। सुखवादियों ने इसके अर्थ बदल दिये। आनन्द का अर्थ उन्होंने स्थूल इन्द्रियजन्य सुख से लिया और कहा कि अधिक-से-अधिक परिमाण में सुख की प्राप्ति ही जीवन का ध्येय है। सुख के स्वरूप को समझाते हुए उन्होंने कहा कि सुख भावनामात्र है और वह नैतिक मान्यता का केन्द्र-विन्दु है। नैतिक दृष्टि से उसी कर्म, उद्देश्य तथा प्रेरणा को हम शुभ कहेंगे जो कि सुख की उत्पत्ति तथा दुःख के विनाश में सहायक होती है। वे अशुभ होते यदि वे दुःखप्रद होते और वे महत्त्वहीन होते यदि वे दुःख और सुख दोनों में से किसी का भी कारण नहीं होते। व्यापक दृष्टि से सुखवादियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। कालक्रम के अनुसार प्राचीन और अर्वाचीन तथा सैद्धान्तिक रूप से मनोवैज्ञानिक और नैतिक।

प्राचीन सुखवाद अथवा मनोवैज्ञानिक सुखवाद

स्वार्थ सुखवाद—प्राचीन काल में सुखवाद की सर्वप्रथम नींव यूनान में

पड़ी। सुकरात की मृत्यु के पश्चात् उसके अनुयायी, ऐॅरिस्टिपस ने उसके सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से समझाने का प्रयास किया। उसके इस प्रयास के फल-स्वरूप ही स्वार्थ सुखवाद (Egoistic Hedonism) या मनोवैज्ञानिक सुखवाद (Psycholog'cal Hedonism) की उत्पत्ति हुई। प्राचीन सुखवाद वैयक्तिक और स्वार्थपूर्ण है। वह इस तथ्य पर आधारित है कि मनुष्य का कर्त्तव्य केवल अपने ही प्रति है। मनुष्य को अपने सुख की खोज करनी चाहिये चाहे उसका सुख दूसरों के लिए विनाशकारी ही सिद्ध हो। जब भी वैयक्तिक सुख और सामाजिक सुख के बीच विरोध उत्पन्न हो तब मनुष्य को चाहिये कि निश्चित रूप से अपने ही सुख की खोज करे। मनुष्य का एकमात्र अपने प्रति कर्त्तव्य है, आत्मसुख ही उच्चतम नैतिक ध्येय है। यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक भी है। यह इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को मानता है कि मनुष्य स्वभाववश सदैव सुख की खोज करता है। उसकी इच्छा का परम केन्द्र सुख है। उसकी सहजप्रवृत्तियाँ और स्वभाव सुख की खोज करते हैं। मनोवैज्ञानिक सुखवाद तथ्यात्मक है। वह मनुष्य स्वभाव का वास्तविक चित्रणमात्र, वर्णनमात्र करता है। वह पुनः दो भागों में बाँटा जा सकता है : स्थूल और संस्कृत (Gross and Refined)। स्थूल सुखवादी अधिक-से-अधिक इन्द्रिय-सुख को महत्त्व देते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य आवेगपूर्ण और उत्तेजनापूर्ण जीवन बिताना चाहता है। किन्तु संस्कृत सुखवादी शान्त सुख को महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार मनुष्य दुःखों और कष्टों से बचना चाहता है।

स्थूल सुखवाद : सिरेनैक्स—स्थूल सुखवाद का प्रवर्तक ऐॅरिस्टिपस[1] (Aristippus) था। ऐॅरिस्टिपस सीरीन देश का निवासी था। अतः उसका सिद्धान्त सिरेनैक्स (Cyrenaics) कहलाया। ऐॅरिस्टिपस अपने को सुकरात का मतावलम्बी मानता था। सुकरात के अनुसार जीवन का ध्येय आनन्द है। कर्मों के मूल्य को समझना ही बौद्धिक जीवन का उद्देश्य है। कर्मों को समझना, उनके तात्कालिक भविष्यत् और सुदूर भविष्यत् के सुखप्रद और दुःखप्रद परिणामों को समुचित रूप से आँकना व्यक्ति का कर्त्तव्य है। ऐॅरिस्टिपस ने सुकरात के इस सिद्धान्त

१. जन्म लगभग ४३५ ई० पू०।

को स्थूल सुखवादी रूप दे दिया । उसका कहना था कि जिस आनन्द की ओर सुकरात ने संकेत किया वह इन्द्रिय-सुख पर निर्भर है ।

जीवन का ध्येय : तीव्र इन्द्रियसुख—इस प्रकार उसने इद्रियपरक सुखवाद या विशुद्ध सुखवाद (Pure Hedonism) का प्रतिपादन किया । वह मनुष्य-स्वभाव की दुहाई देकर कहता है कि मनुष्य सदैव सुख की खोज करता है । जहाँ तक सुख के स्वरूप का प्रश्न है सब सुख जाति में समान होते हैं । उनमें केवल मात्राओं अथवा तीव्रता का अन्तर होता है । तीव्रता के आधार पर ही एक सुख दूसरे सुख से अधिक वांछनीय और शुभ माना जाता है । शारीरिक सुख क्षणिक होने पर भी मानसिक सुख से अधिक तीव्र होते हैं । अत: वे अधिक वांछनीय हैं । तीव्र इन्द्रियसुख ही जीवन का ध्येय है ।

सुख का स्वरूप : तात्कालिक, अनुभवगम्य, अधिक परिमाण—एरिस्टिपस ने सोफिस्ट्स के सापेक्षवाद को स्वीकार किया । उसने भी यह माना कि मनुष्य केवल अपनी संवेदनाओं और अनुभवों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। तात्कालिक संवेदन ही ज्ञान का एकमात्र विषय है। मनुष्य का भविष्य अनिश्चित है। अनुभव बताता है कि तत्कालीन इन्द्रियसुख एकमात्र ज्ञेय शुभ है । अन्य कोई सुख इससे अधिक महान् नहीं है । मनुष्य तात्कालिक सुख की परवाह करता है । तात्कालिक शारीरिक सुख अनुभवगम्य सुख है । अधिक-से-अधिक परिमाण में सुख भोगना ही परम ध्येय है । आचरण का मूल्य सुख के परिमाण पर निर्भर है ।

सुख कर्मों का एकमात्र प्रेरक—मनुष्य की सहज प्रवृत्ति और स्वभाव सदैव सुख की खोज करते हैं । उसके कर्मों का एकमात्र प्रेरक सुख है । मनुष्यों की प्रेरणा में कोई अन्तर नहीं है; सब सुख की प्रेरणा से प्रेरित होते हैं । प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक सुख की प्राप्ति के लिए प्रयास करता है । किन्तु अपने ज्ञान और अनुभव के अनुरूप कुछ लोग अधिक परिमाण में सुख प्राप्त करते हैं और कुछ कम । शुभ आचरण वही है जो कि विशिष्ट परिस्थिति में अत्यधिक सुख प्राप्त कर लेता है ।

कर्मों के तत्कालीन परिणाम महत्वपूर्ण : शुभ, अशुभ के सूचक—इस

आधार पर एरिस्टिपस ने सुकरात के विरुद्ध यह भी कहा कि कर्मों के सुदूर भविष्य के परिणामों को आँकने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य को तत्कालीन सुख की चिन्ता करनी चाहिए। कर्मों के औचित्य-अनौचित्य को उनके परिणामों द्वारा आंकना चाहिए। वही कर्म शुभ है जिसका परिणाम सुखप्रद है। कर्म अपने आपमें शुभ-अशुभ नहीं है। परिणामों द्वारा ही उनका मूल्यांकन कर सकते हैं। सुखप्रद परिणामों को महत्ता देने के लिए वह यहाँ तक कहता है कि चोरी, पाप, व्यभिचार आदि कुछ स्थितियों में शुभ हैं। सुख चाहे किसी प्रकार का हो, शुभ है। केवल इतना आवश्यक है कि वह साम्प्रतिक (तत्क्षण) और अनुभवगम्य हो, वही आचरण शुभ है जो कि सुखप्रद है अथवा सुख के लिए उपयोगी है। वही कर्म बौद्धिक और विवेकसम्मत है जो कि सुख के लिए साधनमात्र है।

सिद्धान्त में गोपन विरोध—ऍरिस्टिपस यह भी कहता है कि विवेकी व्यक्ति आत्म-संयम द्वारा अत्यधिक सुख का भोग कर सकता है। सुख की प्राप्ति के लिए विवेक से काम लेना आवश्यक है। वह अपनी स्थूल सुखवादी धारणा का संशोधन-सा करता हुआ कहता है कि मनुष्य को अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता कभी नहीं खोनी चाहिए। उसे सुख पर अधिकार करना चाहिए न कि सुख को उस पर। सुखभोग के बीच अपनी बौद्धिक दृढ़ता कभी नहीं खोनी चाहिए। एक ओर तो वह मनुष्य को चिन्तनशून्य जीव मानते हुए कहता है कि जीवन का ध्येय इन्द्रियसुख है और दूसरी ओर सुखी जीवन के लिए बुद्धि आवश्यक मानता है।

संस्कृत सुखवाद : ऍपिक्यूरियनिज़्म—सिरेनैक्स पन्थ को ऍपिक्यूरस (Epicurus)[१] ने विकसित और गौरवान्वित बनाया। ऍपिक्यूरस का सिद्धान्त उसके नाम से प्रचलित हुआ। वह ऍपिक्यूरियनिज़्म (Epicureanism) कहलाया। ऍपिक्यूरस ने अपने सिद्धान्त में स्थूल सुखवाद को डिमोक्रिटस के अणुवाद तथा आत्मानन्द की भावना से संयुक्त किया। उसका विश्वास था कि

---

१. जन्म ३४१ ई० पू०—मृत्यु २७० ई० पू०।

मानव-कल्याण को वैज्ञानिक रूप से समझना ही दर्शन है। ऍपिक्यूरस ने अपने सिद्धान्त में संवेदनात्मक मनोविज्ञान को स्वीकार किया और कहा कि संवेदना ही ज्ञान का एकमात्र स्रोत है। अतीत के अनुभव, स्पष्ट स्मृति और प्रत्यक्ष अनुभव ही सत्य के ज्ञान को देते हैं। सिरेनैक्स के सुखवाद को उसने सुकरात की विवेक-बुद्धि और डिमोक्रिटिस के बौद्धिक सुख के ढांचे में ढालने का प्रयास किया। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सुख केवल भावनात्मक नहीं होता, बौद्धिक और सामाजिक भी होता है।

ध्येय : सुख : यही शुभ आचरण का मापदंड—सामान्य निरीक्षण यह बताता है कि सब जीव जन्म के समय से ही सुख की खोज करते हैं और दुःख से बचने का प्रयत्न करते हैं। सुख मनुष्य का प्रथम और स्वाभाविक ध्येय है। उसकी प्राप्ति के लिए प्रत्येक प्राणी प्रयास करता है। अतः यह शुभ है। सुख आचरण का परम मापदण्ड है। यही नीतिशास्त्र का प्रथम सिद्धान्त है। 'दुःख से बचाव, सुख की खोज' अथवा 'सुख के प्रति आसक्ति, दुःख के प्रति विरक्ति' यह सार्वभौम मान्यता है। जीवन का परमध्येय सुख है। सुख और दुःख कर्म की एकमात्र प्रेरणाएँ हैं। सार्वभौम अनुभव यह बताता है कि प्रत्येक प्राणी कर्मों के औचित्य और अनौचित्य को भावना के मापदण्ड से तौलता है अथवा सुख-दुख द्वारा कर्मों के औचित्य-अनौचित्य को निर्धारित करता है। उन्हीं के आधार पर यह बताया जा सकता है कि मनुष्य के लिए क्या वांछनीय है। उसे किस मार्ग को अपनाना चाहिए, किसका त्याग करना चाहिए।

उचित सुखों को अपनाने के लिए विवेकबुद्धि आवश्यक—ऍपिक्यूरस का यह कहना था कि जीवन का ध्येय सुख है और सब सुख आभ्यन्तरिक रूप से शुभ हैं। साथ ही वह यह भी मानता था कि सुखों की श्रेष्ठता तथा अधिक वांछनीयता को व्यावसायिक बुद्धि द्वारा आंकना आवश्यक है। उसने यह स्पष्ट रूप से समझाया कि नैतिक जीवन के लिए बुद्धि अस्तित्वहीन और अर्थशून्य नहीं है, उसका महत्व है। ऍपिक्यूरस ने अपने सिद्धान्त में सिरेनैक्स की दो विरोधी धारणाओं—क्षणिक सुख और आत्म-संयम—में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। उसने स्थूल सुखवाद के साथ विवेकबुद्धि को महत्त्व

दिया। इस प्रकार संस्कृत सुखवाद में सिरेनैक्स और सुकरात के विवेक की धारणा को एकता के सूत्र में बाँधा गया है। शुभ जीवन बुद्धिहीन नहीं है। जीवन का ध्येय क्षणिक सुख नहीं, सुखी जीवन है। यहाँ पर उसने प्लेटो और अरस्तू के इस कथन को कि बुद्धि जीवन की मार्गदर्शी है, सुखवादी रूप दिया है। जीवन का ध्येय सुख है।-बुद्धि उस ध्येय को प्राप्त करने के लिए साधन देती है। अतः सिरेनैक्स के क्षणिक सुख के विरुद्ध वह कहता है कि यदि भविष्य में अधिक अथवा स्थायी सुख की सम्भावना हो तो उसके लिए तत्कालीन सुख का त्याग उचित है।

सुख : दो प्रकार—ऐन्द्रियिक, बौद्धिक—व्यावसायिक वुद्धि के इस आदेश को सम्मुख रखकर एपिक्यूरस ने सुख का दो भागों में विभाजन किया। इन्द्रिय या सक्रिय सुख और वौद्धिक या निष्क्रिय सुख। इन्द्रिय सुख प्रत्यक्ष, सजीव, तीव्र और क्षणिक होता है, वौद्धिक सुख शान्त, गम्भीर और चिरस्थायी होता है। वुद्धि वताती है कि मनुष्य को सुखी जीवन बिताना चाहिए। इस अर्थ में क्षणिक और आवेगपूर्ण सुख जीवन का ध्येय नहीं है। अतः सुख का मूल्यांकन केवल तीव्रता के अनुसार नहीं करना चाहिए, किन्तु उसकी दीर्घता और स्थिरता को महत्त्व देना चाहिए तथा उसके परिणामस्वरूप सहवर्ती पीड़ा से मुक्ति प्राप्ति पर भी ध्यान रखना चाहिये। वुद्धि और स्मृति यह वताती है कि विवेकपूर्वक सुख की खोज करने पर ही सुखी जीवन सम्भव है। सुखी जीवन के दो आवश्यक आलम्वन हैं। दैहिक दुःख का अभाव तथा मानसिक अशान्ति का अभाव। इस मापदण्ड से ऐन्द्रियिक सुख और वौद्धिक सुख का मूल्यांकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धिक सुख अधिक श्रेष्ठ है।

बौद्धिक सुख की श्रेष्ठता : सिरेनैक्स से मतभेद—मानसिक सुख केवल प्रस्तुत संवेदनों तक ही सीमित नहीं है, वह सुखप्रद स्मृति और सुखमय आशा का भी सूचक है। इस आधार पर एँपिक्यूरस ने सस्ती इन्द्रिय-परायणता की कटु आलोचना की। एक ओर तो उसने यह स्वीकार किया कि यथार्थ शुभ दैहिक सुख है और दूसरी ओर उसने वौद्धिक विश्लेपण द्वारा मानसिक सुख को अधिक महत्त्वपूर्ण कहा। शारीरिक दुःख की तुलना में मानसिक दुःख अधिक

तीव्र, दीर्घकालीन और असह्य होता है। इसलिए मानसिक सुख को मानव-जीवन के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए।

बौद्धिक सुख : शान्त सुख—ऐँपिक्यूरस के अनुसार जीवन का ध्येय सुख है। उसकी प्राप्ति बुद्धि द्वारा सम्भव है। भावना अपने-आपमें अन्धी है। ध्येय के स्वरूप को निर्धारित कर लेने पर भी वह अपनी तृप्ति के साधन को बुद्धि की सहायता से खोजती है। ऐँपिक्यूरस का कहना था कि जीवन उद्वेगों और आवेगों का वासनापूर्ण तूफ़ान नहीं है। वह एक संगतिपूर्ण इकाई है। मनुष्य और पशु, दोनों की इच्छाओं का विषय सुख है। दोनों के जीवन का आदि और अन्त सुख है। किन्तु मनुष्य की महत्ता के कारण दोनों के सुख को समान मानना उचित नहीं है। दोनों के लिए सुख के अर्थ भिन्न हैं, उसकी प्राप्ति के साधन में अन्तर है। मनुष्य पशु की भाँति क्षणिक सुख की खोज नहीं करता। वह इन्द्रियसुख से अधिक मानसिक सुख को मूल्य देता है। असम्बद्ध, अव्यवस्थित आवेगपूर्ण जीवन उसे दुःखपूर्ण लगता है। उसके जीवन का ध्येय शान्त सुख है। यह उसी को प्राप्त होता है जो वासनाओं, दुःख और भय से अपने को मुक्त कर लेता है। वासनाओं के स्वच्छन्द उपभोग से बौद्धिक प्राणी में ऊब और अतृप्ति उत्पन्न होती है। उसके शारीरिक स्वास्थ्य का ह्रास हो जाता है। उसका विवेक उसे बताता है कि इच्छाओं के संयमन, उनके उचित चुनाव से आत्मिक शान्ति मिलती है और मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता बन जाता है। अतः विवेक और आत्म-संयम से शान्त सुख की प्राप्ति होती है।

अणुवाद : भय से मुक्ति—शान्त, अविचल मानसिक स्थिति प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य भय से अपने को मुक्त करे। वह अन्ध-विश्वासों—मृत्यु, नरक, ईश्वर आदि के हाथ का खिलौना बनकर सुखी नहीं रह सकता। वह मृत्यु और देवताओं के भय से सदैव त्रस्त रहेगा। मनुष्य को इस भय से मुक्त करने के लिए उसने डिमोक्रिटस के जड़वादी विश्व-निर्माण के सिद्धान्त को स्वीकार किया। उसका कहना था कि भगवान् सृष्टिकर्त्ता नहीं है। विश्वनिर्माण की दृष्टि से भगवान् महत्त्वहीन हैं। जहाँ तक मृत्यु का प्रश्न

है, उससे भी भयभीत होने का कोई कारण नहीं। मृत्यु का विचार दुःखप्रद है, न कि मृत्यु। वास्तव में मृत्यु कुछ नहीं है। जबतक हम हैं, मृत्यु नहीं है; जब मृत्यु आती है, हम नहीं रहते। अतः मनुष्य काल्पनिक भयों से ऊपर उठकर शान्त, अविचल स्थिति को प्राप्त कर सकता है।

सद्गुण : अनिवार्य साधन—सुखी जीवन के लिए सद्गुण अनिवार्य साधन है। वे बुद्धि द्वारा प्राप्त होते हैं। उनकी सहायता से अत्यधिक सुख की उपलब्धि सम्भव है। उदाहरणार्थ, सुखप्रद जीवन के लिए न्याय उचित है, अन्याय नहीं। अन्याय को अपनाने पर एवं अनुचित कर्म करने पर, मानसिक शान्ति खो जाती है। अनुचित कर्म के पता लगने का निरन्तर भय लगा रहता है। अतः संयम, न्याय, सद्भाव, सौहार्द आदि गुणों को अपनाना चाहिये। व्यावसायिक बुद्धि (Prudence) सर्वश्रेष्ठ सद्गुण है। उसके आधार पर उचित सुख का संग्रह किया जा सकता है। साथ ही उसने प्रचलित मान्यताओं और सद्गुणों को अपनाया। यह ध्यान देने योग्य है कि सद्गुण सुखी जीवन के लिए साधनमात्र हैं, साध्य नहीं हैं।

संस्कृत सुखवाद में कठिनाइयाँ—ऐपिक्यूरस के अनुसार सुख एकमात्र शुभ है और दुःख एकमात्र अशुभ है। व्यावसायिक बुद्धि बताती है कि उस सुख का त्याग करना चहिए जिसका परिणाम दुःखप्रद है अथवा उसी दुःख को स्वीकार करना चाहिये जो अधिक सुख के लिए उपयोगी है। सद्गुण, नियम, रीति-रिवाज उपयोगी साधन हैं। व्यवसायात्मिक चिन्तन तथा शुभ आचरण तब तक अर्थशून्य और निरर्थक है जब तक कि वह कर्त्ता को सुख नहीं पहुँचाता। सुख के अर्थ मूलतः ऐन्द्रियिक हैं।

विलासिता से मुक्त नहीं—सुख को ऐन्द्रियिक मानते हुए भी वह बौद्धिक सुख की खोज करने को कहता है। बौद्धिक सुख अपने-आप में शुभ नहीं है। वह सुखी जीवन के लिए आवश्यक है। ऐपिक्यूरस स्पष्ट रूप से बौद्धिक सुख की गुणात्मक श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करता है। सद्गुण इसलिए आवश्यक नहीं हैं कि उनसे मानसिक प्रवृत्तियों का परिष्कार होता है किन्तु इसलिए कि वे निरन्तर सुख का कारण हैं।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद की आलोचना

जड़वादी तत्त्वदर्शन : स्थूल सुखवाद—मनोवैज्ञानिक सुखवाद की मूलगत प्रमुख त्रुटि तात्त्विक है। स्थूल सुखवाद को अपनाने के कारण ही उसका सिद्धान्त असामाजिक, अव्यावहारिक, अवास्तविक, अमनोवैज्ञानिक तथा अनैतिक हो गया हैं। अपने जड़वादी तत्त्वदर्शन के कारण उसने यह माना कि आत्मा का मूल रूप इन्द्रिय है। वह सहज-प्रवृत्तियों, संवेदनाओं, भावनाओं आदि का क्रम मात्र है। मानव-स्वभाव के ऐसे एकांगी ज्ञान पर ही उसने अपने सिद्धान्त को आधारित किया। मनुष्य के जीवन का परमध्येय इन्द्रिय-सुख है। उसे चाहिए कि आँख मूँदकर सुखभोग करे। व्यक्ति का वर्तमान ही निश्चित है। भविष्य अनिश्चित और अज्ञेय है। न जीवन ही शाश्वत है। मनुष्य काल के अधीन है। ऐसी परिस्थिति में उसे केवल इन्द्रियमय बुद्धिहीन सरल जीवन बिताना चाहिये।

केवल-इन्द्रिय सुख : बुद्धि, इच्छा एक-दूसरे के पूरक हैं—सब प्राणी स्वभाव-वश सुख चाहते हैं। मनुष्य के जीवन का ध्येय भी सुख है। उसे अधिकतम परिमाण में सुख भोगना चाहिए। तात्कालिक, तीव्र और दीर्घकालीन सुख वांछनीय है। मनुष्य के बौद्धिक भी होने के कारण उसमें तथा निम्न प्राणियों में यही अन्तर है कि वह उनकी अपेक्षा अधिक सुख का भोग कर सकता है। दोनों के ध्येय समान हैं, साधन में अन्तर है। मनुष्य की बुद्धि ध्येय की प्राप्ति के लिए उचित साधन खोज सकती है। किसी कर्म का बौद्धिक महत्त्व इस पर निर्भर है कि सुख की प्राप्ति के लिए कहाँ तक उचित साधनों का उपयोग किया गया है। सुखवादियों ने निर्णीत कर्म के स्वरूप को नहीं समझा। उन्होंने बुद्धि और इच्छा के सम्बन्ध के बारे में भ्रान्तिपूर्ण धारणा बना ली थी। इच्छा के उत्पन्न होते ही बुद्धि उसके सन्तोष के लिए ही नहीं सक्रिय हो उठती है, उचित चिन्तन और विवेचन के पश्चात् ही बुद्धि इच्छा की पूर्ति के सम्बन्ध में अपना निर्णय देती है। 'इच्छा का विषय' या 'इच्छित ध्येय' उसी व्यक्ति के लिए अर्थ रखता है जो सोच-समझ सकता है; अनुभव और चिन्तन कर सकता है।

इच्छा में स्वयं भी उस ध्येय का विचार निहित है जो मनुष्य की सम्पूर्ण आत्मा (बुद्धिमय और भावनामय) की अभिव्यक्ति है। भावना, इच्छा, विवेचन, निर्णय बुद्धि आदि एक ही कर्म के अविच्छिन्न अंग हैं। ये कर्त्ता के चरित्र और व्यक्तित्त्व के सूचक हैं।

असामाजिक, अव्यावहारिक तथा अनैतिक—मनोवैज्ञानिक सुखवाद अन्तर्चेतनाशून्य तथा नैतिक संज्ञाहीन व्यक्तियों के आदर्श को सम्मुख रखता है। यह स्थूल इन्द्रियजन्य सुख को महत्त्व देता है। इसके अनुसार मनुष्य पूर्ण रूप से स्वार्थी है। वह निरन्तर वैयक्तिक सुख की खोज करता है। इस प्रकार सुखवादियों का दृष्टिकोण वैयक्तिक, असामाजिक और अनैतिक है। जिस परम स्वार्थवाद का उन्होंने प्रतिपादन किया वह अव्यावहारिक और अवास्तविक है। समाज में वही व्यक्ति रह सकता है जो सामाजिक कर्त्तव्यों तथा कर्मों को करता है। वही व्यक्ति समाज में रहकर अपने अधिकारों की माँग कर सकता है जो दूसरों के अधिकारों को समझता है। सुखवाद के अनुसार सामाजिक सुख अथवा सर्वकल्याण का कोई महत्त्व नहीं, वह हेय है। स्नेह, दया, ममता से दूर रहकर व्यक्ति अपने तत्कालीन सुख की चिन्ता करता है। यदि सुखवादी धारणा को सजीव और वास्तविक मान लें तो ऐसे इन्द्रियरत परम स्वार्थी प्राणी के लिए समाज में कोई स्थान नहीं है। पशु-पक्षी तक अपने बच्चों तथा निकटवासियों के लिए त्याग करते हैं। अपत्य स्नेह के आगे वे तत्कालीन तीव्र सुख को भूल जाते हैं। मनुष्य में उच्च प्रवृत्तियाँ हैं। उसमें आत्म-त्याग की आश्चर्यपूर्ण शक्तियाँ और सम्भावनाएँ हैं। वह अपने सत्य रूप में परमार्थी है। उसकी बुद्धि उसे विश्वस्नेह से संयुक्त करती है। मनुष्य की इन प्रवृत्तियों का निराकरण करना मनुष्यत्व का निराकरण करना है। सुखवाद सब व्यक्तियों को समान रूप से स्वार्थी मानता है। साधु-असाधु, पापी-पुण्यात्मा, चोर-देशप्रेमी, सब एक ही श्रेणी के हैं। किन्तु वह भूल जाता है कि भिन्नता प्रत्येक के चरित्र के अनुरूप होती है और यह प्रत्येक व्यक्ति के बौद्धिक, मानसिक तथा नैतिक विकास की सूचक है। सच तो यह है कि स्वार्थ सुखवाद का सिद्धान्त "नैतिक

चेतना के सम्मुख एक घृणित रूप प्रस्तुत करता है",[1] और वह अनैतिक भी है। यदि सब व्यक्ति स्वभाववश इन्द्रिय-सुख की खोज करते हैं तो 'नैतिक चाहिये' अर्थहीन है। प्राकृतिक एवं स्वाभाविक शक्तियों के प्रवाह में बहने वाला व्यक्ति उचित-अनुचित को नहीं समझ सकता। अथवा जैसा कि ग्रीन ने कहा है "एक व्यक्ति, जो कि केवल प्राकृतिक शक्तियों का परिणाम है, उसे नैतिक नियमों का पालन करने का आदेश देना निरर्थक है।"

सुखवाद में विरोध—यदि यह भी मान लिया जाए कि सुख ही एकमात्र मनुष्य का नैतिक लक्ष्य है तो इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? सुखवाद के अनुसार निरन्तर सुख की खोज करनी चाहिये। किन्तु सुख की प्राप्ति का यह साधन आत्मघाती है। सुखवादियों की इस उक्ति में कि सदैव क्षणिक और तत्कालीन सुख की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिये, स्वयं आत्मविरोध मिलता है। बाद के सुखवादियों ने माना कि सुख पाने की उत्तम रीति यही है कि उसे भूले रहें। चिन्तन और गूढ़ अध्ययन द्वारा अत्यन्त तीव्र और शुद्ध सुख प्राप्त होता है। इसका कारण यही है कि अध्ययन में तल्लीन होने के कारण अध्येता या विद्वान् अपने को तथा अपनी संवेदनाओं को भूला रहता है। सुखवाद में मूलगत विरोधाभास यही है कि "यदि सुख के प्रति आवेग अत्यन्त प्रबल है तो यह अपने ध्येय में हार जाता है।" अथवा सुख की खोज करने से सुख प्राप्त नहीं होता है। इसी सत्य को मिल यह कहकर समझाता है कि वही व्यक्ति सुखी है जिसका मन सुख के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु पर केन्द्रित है। "अपने से पूछिये कि क्या आप सुखी हैं, और आप सुखी नहीं रहते ?" यदि सुख चाहते हैं तो यह भावना न लाइये कि सुख चाहिये। एकमात्र सुख की खोज करना सुख के विनाश की ओर अग्रसर होना है। जब एरिस्टिपस कहता है कि केवल तत्कालीन क्षणिक सुख की खोज करनी चाहिये तो क्या इससे यह ध्वनि नहीं निकलती है कि दूसरे क्षण दुःख सहना पड़े तो कोई हानि नहीं ?

अभाव : वस्तुगत मापदंड, गुणात्मक भेद, प्रेरणा, कर्त्तव्य—सुखवाद नैतिकता का एकरूप मापदण्ड नहीं दे सकता। वह उस वस्तुगत मापदण्ड को

१. Mackenzie—A Manual of Ethics, p. 171.

निर्धारित नहीं कर सकता जिसे कि सार्वभौम रूप से स्वीकार किया जा सके। सुखवाद के आधार पर सुख का मूल्य उसकी तीव्रता पर निर्भर है। किन्तु तीव्रता को कैसे आँका जा सकता है। सुख सापेक्ष और वैयक्तिक है। वह परिस्थिति, चरित्र और मानसिक स्थिति पर निर्भर है। प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव के अनुरूप ही वस्तु सुखप्रद अथवा दुःखप्रद होती है। बौद्धिक व्यक्तित्व के लिए बौद्धिक सुख तीव्र है, दयालु के लिए दान और परोपकार से प्राप्त सुख और विषयी के लिए शारीरिक सुख अत्यन्त तीव्र है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की सुख-दुःख की भावना आत्मगत एवं दूसरे से भिन्न है। ऐसी स्थिति में नैतिकता की क्या पहचान है? सुख का मूल्यांकन कैसे किया जा सकता है? तीव्रता के आधार पर कौन सुख श्रेष्ठ है? वस्तुगत मापदण्ड कैसे सम्भव है? मनोवैज्ञानिक सुखवाद के पास इसका कोई उत्तर नहीं है। सुखवाद के अनुसार सब सुख समान हैं। किन्तु जैसा कि अभी देख चुके हैं, सुख का स्वरूप उस वस्तु पर निर्भर है जो कि उसके उत्पादन का कारण है और वह भोक्ता (अनुभवी) के व्यक्तित्व पर भी निर्भर है। सुख में केवल मात्राओं (अधिक या कम तीव्र) का भेद नहीं है किन्तु गुणात्मक भेद भी है। इस तथ्य को मिल स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है।

मनोवैज्ञानिक भ्रांति : चयन के क्रियात्मक और हेत्वात्मक पक्ष—सुखवाद के इस सिद्धान्त का (कि सुख ही एकमात्र इच्छा का विषय है) मूल आधार मनोवैज्ञानिक भ्रान्ति है। वह सुख की भावना को कर्म का प्रवर्तक मानता है। भावना कर्म का अनिवार्य अंग अवश्य है किन्तु उसकी प्रवर्तक नहीं है। मनुष्य सब कर्म सुख की इच्छा से प्रेरित होकर नहीं करता, किन्तु इच्छित वस्तु की प्राप्ति उसे सुख देती है। अपने व्यक्तित्व के अनुरूप वस्तु की वह इच्छा करता है। समाज-सुधारक, देश-प्रेमी, परोपकारी, विषयी, इन सभी की इच्छा का विषय उनके चरित्र और व्यक्तित्व के अनुरूप होता है। सबके ध्येय भिन्न हैं। सुख ही एकमात्र कर्म का प्रवर्तक नहीं है और यहीं पर सुखवादी भूल करते हैं। वे सबके ध्येय को समान मान लेते हैं। सुख की इच्छा करना और इच्छित वस्तु की प्राप्ति से सुख प्राप्त होना, ये दो भिन्न बातें हैं। जिस ध्येय को

मनुष्य चुनता है वह सुखप्रद अवश्य है, किन्तु वह स्वयं सुख नहीं है। सुखवादियों की इस भूल का कारण यह है कि वे चुनने (चयन) के क्रियात्मक (Dynamical) और हेत्वात्मक पक्षों में कोई भेद नहीं देखते हैं। सुख का विचार (Idea of Pleasure) और सुखद विचार (Pleasant Idea) को एक ही मान लेते हैं। यदि यह प्रश्न किया जाए कि मनुष्य किस वस्तु को चुनता अथवा उसकी चयन-रुचि को प्रेरित कौन करता है तो उसके उत्तर में यही कहा जा सकेगा कि मनुष्य उसी विचार की प्राप्ति के लिए प्रयास करता है जो उसे आकर्षक लगता है अथवा जो सुखद है। इस अर्थ में सुख चुनने की क्रियात्मक शक्ति है। यह संचालक शक्ति और कार्य में प्रविष्ट कराने का सक्रिय कारण है। सुख की इच्छा करना और ध्येय को सुखद पाना, दो भिन्न कियाएँ हैं। सुख शुभ या ध्येय का अनिवार्य निर्माणात्मक अंग अवश्य है किन्तु वह उसका मूलगत रूप एवं एकमात्र निर्माता नहीं है। सुख अपने-आपमें बुद्धिजीवी को पूर्ण सन्तोष नहीं दे सकता। वह उन वस्तुओं से युक्त है जिनकी कि व्यक्ति इच्छा करता है। व्यक्ति वस्तुओं को स्वयं चुनता है इसलिए वे सुखद हैं। सुख 'चुनाव' के आत्मगत पक्ष का सूचक है। किन्तु चुनाव का कुछ वस्तुगत मूल्य भी होता है। वह मूल्य वस्तु के स्वरूप पर निर्भर है, चुनाव का विषय क्या है और कौनसी वस्तु चुनी जाती है इसे सुखवाद नहीं बता पाया। वह यह नहीं समझा पाया कि सुख का चुनाव में उचित स्थान तो है पर एकमात्र सुख ही चुनाव का लक्ष्य नहीं है।

पशु धर्म—सुखवाद यह मानता है कि जीवन का परम ध्येय इन्द्रियजन्य है, बौद्धिक नहीं। सुखवादी व्यक्ति अनैतिक है। उसके आचरण का मूल्य ध्वंसात्मक है। वह सामाजिक कर्तव्य करने के बदले अपने अधिकारों की माँग करता है किन्तु वह यह बतलाने में असमर्थ है कि मनुष्यत्व की माँग क्या है? मनुष्य के लिए सुखप्रद क्या है? सुख को शुभ कहकर सुखवादियों ने सोचा कि उन्होंने नैतिक समस्या का समाधान कर दिया किन्तु इसके विपरीत उन्होंने नैतिकता को समूल नष्ट कर दिया, मनुष्य को पशु बना दिया।

सुखवाद का मूल्य—सुखवाद पशु आदर्श को ही सब-कुछ मानता है। वह

मानव-गौरव की चेतना में जुगुप्सा उत्पन्न कर मनुष्यत्व को आघात पहुँचाता है। किन्तु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि प्रत्येक सिद्धान्त तथा चिन्तन-पद्धति में आंशिक सत्य अवश्य रहता है जो चिन्तन के लिए सामग्री देता है। मनुष्य में भावनाएँ और इच्छाएँ हैं। चिन्तनशील नैतिक जीवन में उनकी सन्तुष्टि आवश्यक है। उनका निराकरण नहीं किया जा सकता। सुखवाद के विरोधी सिद्धान्त वैराग्यवाद की तुलना में हम सुखवाद के मूल्य को आँक सकते हैं। वैराग्यवाद ने जीवन के अत्यन्त कठोर, अनाकर्षक तथा अभावात्मक पक्षों को स्वीकार किया है। सुखवाद यह बताता है कि भावनाओं तथा सहजप्रवृत्तियों के निराकरण से आत्म-सन्तोष नहीं मिल सकता। भावनाएँ और इच्छाएँ मानव-स्वभाव का अनिवार्य अंग हैं। आत्म-निषेध द्वारा आत्म-पूर्णता को प्राप्त नहीं किया जा सकता। अगले अध्याय में हम बतलायेंगे कि वैराग्यवाद ने केवल बुद्धि को महत्त्व देकर नैतिकता के रूप को समझा। सुखवादियों ने भावनाओं द्वारा उसके पदार्थ को समझाया। वास्तव में दोनों सिद्धान्त एक-दूसरे के अभाव को दूर करते हैं। इनका समुचित समन्वय ही पूर्ण सिद्धान्त को जन्म देता है।

११

सुखवाद (परिशेष)

अर्वाचीन सुखवाद

प्राचीन सुखवाद से भिन्नता—प्राचीन और अर्वाचीन सुखवाद दोनों ही मूलत: यह मानते हैं कि जीवन का परम ध्येय सुख है। किन्तु फिर भी दोनों में अन्तर है। यह अन्तर मानव-संस्कृति और सभ्यता के विकास का अन्तर है। आधुनिक सुखवादियों ने अपने सिद्धान्त को दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार देने का प्रयास किया। प्राचीन सुखवाद मनोवैज्ञानिक है। मनुष्य स्वभाववश सुख की खोज करता है। आधुनिक सुखवाद इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को स्वीकार करने के साथ ही इसे नैतिक मान्यता भी देता है कि मनुष्य को सुख की खोज करनी चाहिए। आधुनिक सुखवादियों ने यह भी स्वीकार किया कि व्यक्ति को जनसामान्य के सुख की खोज करनी चाहिए। अतः उन्होंने यह जानना चाहा कि व्यक्ति किस प्रेरणा के वशीभूत होकर वैयक्तिक सुख के साथ ही जनसामान्य के सुख के लिए प्रयास करता है। हॉब्स, बैंथम, मिल, स्पैंसर, सिजविक आदि ने इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया। उसमें वे कहाँ तक सफल हुए यह उन विचारकों के सिद्धान्तों का अध्ययन करने से स्पष्ट होगा। प्राचीन सुखवाद निराशावादी था। आधुनिक सुखवाद आशावादी है। स्पैंसर का तो यहाँ तक विश्वास था कि सुख सद्गुण का अनिवार्य परिणाम है। विकास की अन्तिम स्थिति पूर्ण सुख की स्थिति होगी।

कुछ आधुनिक सुखवादियों ने अपने सिद्धान्त को वैज्ञानिक और तार्किक

आधार देना चाहा। उन्होंने नीतिशास्त्र को जीवशास्त्र और विकासवाद से संयुक्त किया और नैतिक मान्यताओं की ऐतिहासिक और प्राकृतिक व्याख्या की। उन्होंने सामाजिक नैतिकता के मूलस्रोत को समझना चाहा और यह जानना चाहा कि नैतिक मान्यताओं का उद्‌गम क्या है। क्या नैतिक मान्यताएँ अनिवार्य और सार्वभौम हैं ? विकासवाद को मानने वाले सुखवादियों ने नैतिक जीवन की गतिशीलता को महत्त्व दिया। नैतिक मान्यताएँ सापेक्ष हैं। वे विकास और परिवर्तन को प्राप्त हो रही हैं।

प्राचीन सुखवादियों का सिद्धान्त वैयक्तिक है। व्यक्ति का हित उनके सम्मुख है। इस स्वार्थ सुखवाद के विरुद्ध अधिकांश आधुनिक विचारकों ने परमार्थ या सार्वभौम सुखवाद को महत्त्व दिया। मानवता का कल्याण (सर्व-कल्याण) जीवन का ध्येय है। 'अधिकतम संख्या के लिए अधिकतम सुख', इस सिद्धान्त द्वारा हम कर्मों के औचित्य-अनौचित्य को माप सकते हैं। प्राचीन सुखवाद उस व्यक्ति को विवेकी कहता है जो अपने स्वार्थ को समझते हुए कर्म करता है। मित्रता, आत्म-संयम आदि शुभ हैं क्योंकि वे व्यक्तिगत सुख का उत्पादन करते हैं। किन्तु आधुनिक सुखवादियों ने स्वार्थ-परमार्थ के भेद को मिटाना चाहा। मिल, बैंथम ने उपयोगिता के नाम पर 'अधिकतम संख्या के लिए अधिकतम सुख' को महत्त्व दिया और विकासवादियों ने व्यक्ति और समाज के अनन्य सम्बन्ध द्वारा स्वार्थ और परमार्थ में एकत्व स्थापित किया। ऍरिस्टिपस, ऍपिक्यूरस, हॉब्स, बैंथम ने सुख के परिमाण के आधार पर आचरण का मूल्यांकन किया, मिल ने परिमाण के साथ ही गुणात्मक भेद को स्वीकार किया। जीवन का ध्येय सुख अवश्य है, किन्तु बुद्धिजीवी श्रेष्ठ सुख चाहता है। एपिक्यूरस भी मानसिक और दैहिक सुखों के भेद को स्वीकार करता है किन्तु वह गुणात्मक भेद को स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं करता।

नैतिक आदेश

सुख और कर्तव्य में विरोध—आधुनिक सुखवादियों के अनुसार इच्छा का अनिवार्य और स्वाभाविक विषय सुख है। किन्तु साथ ही वे यह भी

मानते हैं कि मनुष्य को सामाजिक कर्तव्यों का पालन करना चाहिए एवं सार्वजनिक सुख की परवाह करनी चाहिए।[1] एक ओर तो वे यह मानते हैं कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति आत्मसुख की ओर है और दूसरी ओर वे कहते हैं कि नैतिक आदर्श का मापदण्ड 'अधिकतम संख्या के लिए अधिकतम सुख' है। यदि व्यक्ति सदैव अपने ही सुख की प्रेरणा से प्रेरित होकर कर्म करता है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि कर्मों के औचित्य और अनौचित्य का मापदण्ड सार्वजनिक सुख है। यदि यह सत्य है कि मनुष्य क्षणिक अथवा वैयक्तिक सुख की ही इच्छा करता है तो यह कहना विरोधपूर्ण है कि उसे सामाजिक सुख के लिए यत्न करना चाहिए अथवा सुख की खोज के साथ ही उसे अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए'। सुखवादियों ने यह माना कि कर्मों की एकमात्र प्रेरणा सुख की भावना है, सुख ही जीवन का ध्येय है। वे यह भी कहते हैं कि आत्मसुख-रत व्यक्ति सामाजिक प्राणी भी है। उसके लिए सामाजिक कर्तव्यों का पालन करना आवश्यक है। उसके कर्मों और सामाजिक नियमों में सानुरूपता होनी चाहिए। किन्तु सुख और कर्तव्य, ये दो विरोधी विचार हैं। इनमें सामंजस्य कैसे सम्भव हो सकता है? कैसे कह सकते हैं कि स्वार्थी व्यक्ति को परमार्थी कर्म करने चाहिएँ? सुख के बदले उस कर्तव्य का पालन करना चाहिए जो सामान्य सुख की वृद्धि करता है।

समन्वय की ओर प्रयास : नैतिक आदेश के अर्थ—सुखवादियों के अनुसार समाज में कुछ ऐसे प्रचलित और निर्धारित नियम हैं जिनका उल्लंघन करने से व्यक्ति को दुःख सहना पड़ता है। वह समझ जाता है कि इनका पालन करने में ही उसकी भलाई निहित है जिसके परिणामस्वरूप उसे सुख मिलेगा। इन नियमों के कारण ही वह प्रत्यक्ष रूप से अपने सुख की खोज नहीं करता प्रत्युत कर्तव्यों का पालन करता है। इस तथ्य को सुखवादी यह कहकर समझाते हैं कि कुछ ऐसे नैतिक नियम एवं 'नैतिक आदेश' हैं जिनके कारण व्यक्ति सुख के बदले कर्तव्य को चुनता है। अपने प्राथमिक रूप में आदेश (Sanction) के अर्थ होते हैं निश्चित करना या स्थिर करना। सैंक्शन लैटिन शब्द सैंक्टियो

१. देखिए पृष्ठ १६०-६१।

(Sanctio) से उद्भूत हुआ। इसके अर्थ होते हैं 'बाँधने की क्रिया' अथवा वह वस्तु जो व्यक्ति को बाँधने में सहायक हो। आदेश वह है जो राष्ट्र के नियमों को निश्चित और प्रमाणित करता है, जो व्यक्ति को नियमों के पालन करने के लिए आज्ञा देता तथा बाधित करता है। आदेशों की अवज्ञा करने से व्यक्ति को दण्डित होना पड़ता है, सुख से कहीं अधिक दु:ख भोगना पड़ता है। इसलिए वह उनके उल्लंघन के दुःखप्रद परिणामों से बचने के लिए उनका पालन करता है। उन नियमों का परिणाम सुखप्रद होने के साथ ही सामान्य सुख की वृद्धि करता है। अतः आदेश वह हैं जो एक विशिष्ट रूप से कर्म करने के लिए व्यक्ति को बाधित करते हैं। शुभ आचरण का कारण नैतिक आदेश हैं। वही व्यक्ति के सामाजिक आचरण को प्रोत्साहित कर व्यक्ति को कर्तव्य पालन करने के लिए प्रेरित करते हैं।

अर्वाचीन सुखवाद : नैतिक सुखवाद

अर्वाचीन सुखवाद नैतिक है—अर्वाचीन सुखवाद नैतिक है। वह मनोवैज्ञानिक सुखवाद की भाँति तथ्यात्मक नहीं है। वह कर्मों का मूल्यांकन कर उस आदर्श को सम्मुख रखता है जिसके आधार पर सदसत् का विचार किया जा सके। नैतिक सुखवादियों ने प्राचीन सुखवाद के मौलिक तत्त्व को स्वीकार किया। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ सुख की खोज करती हैं। किन्तु उसकी बाह्य आकृति का उन्होंने रूपान्तर कर दिया। मानव-स्वभाव को उन्होंने मानव-आदर्श का लिबास पहनाया। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ जिस सुख की खोज करती हैं वही सुख नैतिक मान्यताओं को निर्धारित करता है। मनुष्य को सुख की खोज करनी चाहिए, यही इच्छा का एकमात्र उचित और विवेकसम्मत विषय है। सुख नैतिकता का मापदण्ड है। उसके द्वारा कर्मों के औचित्य-अनौचित्य को निर्धारित किया जा सकता है। नैतिक दृष्टि से वही शुभ है जो सुखप्रद है। अतः मनुष्य को सुख की खोज करनी चाहिए। इस प्रकार आधुनिक सुखवादियों ने मनोवैज्ञानिक सुखवाद को

ही नैतिक सुखवाद का रूप दिया है।[१]

दो प्रकार : स्वार्थ, परार्थ—नैतिक सुखवाद (Ethical Hedonism) अपने प्रारम्भिक रूप में वैयक्तिक और स्वार्थी (Individualistic and Egoistic) था। धीरे-धीरे उसने सामाजिक कल्याण को अपनाया। वह परार्थ सुखवाद (Altruistic Hedonism) या सार्वभौमिक सुखवाद (Universalistic Hedonism) कहलाया और उपयोगितावाद (Utilitarianism) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

स्वार्थ सुखवाद : हॉब्स

जड़वाद, इन्द्रिय सुखवादी मनोविज्ञान और नैतिक स्वार्थवाद का समन्वय—हॉब्स[२] जड़वादी विचारक था। उसने यूनानी विचारकों से, विशेपकर अरस्तू से प्रभावित होकर यह स्वीकार किया कि मनोविज्ञान नीतिशास्त्र का पूर्वविषय है। मनोविज्ञान यह बतला सकता है कि मनुष्य किस प्रेरणा के वशीभूत होकर कर्म करता है। जड़वादी होने ने कारण हॉब्स ने अपने मनोविज्ञान को इन्द्रिय एवं शारीरिक सुख तक सीमित कर दिया। नीतिशास्त्र के क्षेत्र में ऐसे मनोविज्ञान की परिणति परम स्वार्थवाद में हुई।

मनुष्य का स्वभाव : स्वार्थी, आत्म-संरक्षण और सुख का इच्छुक—हॉब्स जड़वादी और अनात्मवादी था। उसने मनुष्य के विचारों, कल्पनाओं, भावनाओं, आदि को शारीरिक व्यापारों का सूचक माना। सुख से उसका अभिप्राय उन व्यापारों से है जो जीवन अथवा प्राणिक क्रियाओं की वृद्धि करते हैं। दुःख के व्यापार उसके अनुसार इन क्रियाओं के अवरोधक हैं। शारीरिक सुख ही एकमात्र शुभ है। उसने अपने दर्शन द्वारा यह समझाने का प्रयास किया कि मनुष्य अपने शरीर की रक्षा करता है। अतः उसे सुख की खोज करनी चाहिए। उसने मनुष्य के स्वभाव का विश्लेषण भी किया। वह इस परिणाम पर पहुँचा

---

१. आधुनिक सुखवादियों ने, विशेपकर हॉब्स, बैंथम, मिल ने मनोवैज्ञानिक सुखवाद को नैतिक सुखवाद का आधार माना। किन्तु दोनों में असंगति है। यदि व्यक्ति स्वभाववश सुख की खोज करता है तो उससे यह कहना अर्थशून्य है कि उसे सुख की खोज करनी चाहिए। दोनों के बीच कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है।

२. Thomas Hobbes 1588-1679.

कि मनुष्य की इच्छाएँ, भावनाएँ, प्रवृत्तियाँ आदि आत्मरक्षण सम्बन्धी हैं। उनका सम्बन्ध आत्मसुख से है। मनुष्य स्वभाव से असामाजिक और स्वार्थी है। जिन्हें उच्चभाव और परमार्थी प्रवृत्तियाँ कहा जाता है, जैसे दया, त्याग, सहानुभूति, स्नेह आदि—वे अपने मूलरूप में स्वार्थ की उपज हैं। उनके मूल में आत्म-प्रेम है।

वैयक्तिक-सामाजिक सुख का प्रश्न—हॉब्स के अनुसार मनुष्य की प्रवृत्तियाँ आत्म-संरक्षण सम्बन्धी हैं। उसमें दूसरे का सुख खोजने की कोई प्रेरणा नहीं है। किन्तु फिर भी वह कहता है कि मनुष्य की बुद्धिमत्ता इसी में है कि वह दूसरों के सुख की भी खोज करे। व्यक्तिगत सुख सामाजिक सुख के साथ सामंजस्य स्थापित करने पर हीं सम्भव है। एक ओर तो वह स्पष्ट रूप से वैयक्तिक आत्म-कल्याण और वस्तुमूलक सामाजिक कल्याण को असम्वद्ध मानता है और दूसरी ओर यह कहता है कि व्यक्ति को सामाजिक सुख की परवाह करनी चाहिए। यदि व्यक्ति के कर्म आत्मसुख की प्रेरणा से संचालित होते हैं तो परसुख आवश्यक क्यों है? हॉब्स का कहना है कि वैयक्तिक सुख की आशा से व्यक्ति सामाजिक सुख की खोज करता है।

नैतिक आदेश : आवश्यक और उपयोगी—सामाजिक सुख वैयक्तिक सुख के सम्बन्ध में ही सार्थक है। जितने भी नियम और नैतिक आदेश हैं (दैवी, राजनीतिक, सामाजिक आदि) उन सबका सम्बन्ध वैयक्तिक सुख से ही है। प्रोटेगोरस की भाँति हॉब्स भी कहता है कि शुभ व्यक्तिगत है; सामाजिक शुभ विना वैयक्तिक शुभ के अर्थशून्य है। जीवन के संरक्षण या सुखभोग के लिए नैतिक आदेश साधनमात्र हैं। इनकी अनिवार्यता इनके उपयोगी होने पर निर्भर है। नैतिक आदेश मार्गदर्शक आदेश हैं। नीतिशास्त्र और नैतिक आदेशों की यही उपयोगिता है कि वे व्यक्ति को उचित-अनुचित का ज्ञान देते हैं। नैतिक विवेक वताता है कि सुख की प्राप्ति कैसे सम्भव है। व्यक्ति स्वभाव से असामाजिक है। किन्तु असामाजिक जीवन एकाकी, असुन्दर, तुच्छ और हीन होता है। मनुष्य की आवश्यकताएँ उसे सामाजिक जीवन विताने के लिए बाधित करती हैं। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह सामाजिक बना, किन्तु

अपने अधिकारों और स्वार्थों को वह नहीं भूल सका। उनकी रक्षा के लिए उसने नियमों के रूप में समाज के साथ समझौता किया। राजनीतिक एकता में अपने को बाँधा। सद्गुणों को स्वीकार किया। उसके आत्म-प्रेम ने ही नैतिक नियमों को जन्म दिया है। अतः ये अनिवार्य और उपयोगी हैं।

भ्रान्तिपूर्ण मनोविज्ञान—हॉब्स का मनोवैज्ञानिक ज्ञान उसे बतलाता है कि परमार्थी भावनाओं के मूल में आत्म-प्रेम है, सुखभोग है। हॉब्स का मनोविज्ञान भ्रान्तिपूर्ण है। उसने सब प्रवृत्तियों को स्वार्थी कहकर भयंकर भूल की। उसकी इस भूल के फलस्वरूप ही सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के सहज-ज्ञानवादियों का सिद्धान्त प्रस्फुटित हुआ। हॉब्स स्वयं भी अपने सिद्धान्त में पूर्ण रूप से परम स्वार्थवाद को नहीं अपना सका है। उसके सिद्धान्त में परम-स्वार्थवाद लड़खड़ा उठता है। एक ओर तो वह यह मानता है कि नैतिकता का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, मानव-निर्णीत सामाजिक समझौता ही नैतिक मान्यताओं को एवं उचित और अनुचित को निर्धारित करता है; नैतिकता राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर है। दूसरी ओर वह यह मानता है कि सामाजिक एवं नैतिक आदेश का पालन करना अनिवार्य है। सामाजिक संघटन के लिए त्याग करना आवश्यक है। सामाजिक शुभ व्यक्ति के लिए उपयोगी है। इस प्रकार उसके सिद्धान्त में दो विरोधी कथन मिलते हैं। यदि यह मान लें कि सामाजिक शुभ वैयक्तिक शुभ के लिए उपयोगी है तो इसके अर्थ यह हुए कि सामाजिक शुभ और वैयक्तिक शुभ परस्पर विरोधी नहीं हैं। वे एक ही सत्य के दो रूप हैं।

सिद्धान्त की विशिष्टता—स्वार्थवादी नैतिकता का प्रचारक होने के कारण हॉब्स ने कर्तव्य, बाध्यता, सद्गुण आदि को व्यक्ति के सुख-दुःख से सम्बन्धित माना है। अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए उसने समय से प्रभावित होकर जिस तार्किक और वैज्ञानिक प्रणाली को अपनाया वह स्तुत्य है। उसकी प्रणाली की स्पष्टता, दृढ़ता और विधि ने उसके उठाये हुए प्रश्नों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बना दिया। हॉब्स ने अपने तर्कों को जिस युक्ति से सम्मुख रखा उसने उसके परमार्थ अथवा सामाजिक सुख के प्रश्न को अत्यन्त महत्वपूर्ण बना

दिया। इङ्गलैण्ड में उसने स्वतन्त्र नैतिक सिद्धान्त को जन्म दिया। शैफ्ट्सबरी, बटलर आदि सहजज्ञानवादियों के सिद्धान्त की प्रेरणाशक्ति हॉब्स का परम-स्वार्थवाद ही है।

परार्थ सुखवाद : उपयोगितावाद

सामान्य परिचय—परार्थ सुखवाद या परसुखवाद सामाजिक सुख में विश्वास करता है। सामाजिक सुख को नैतिक ध्येय मानने के कारण परसुखवाद ने सुखवाद को व्यापक, महान् और जनप्रिय बना दिया। प्राचीन सुखवाद के साथ उसने स्वीकार किया कि मनुष्य स्वभावतः सुख की खोज करता है, वह स्वार्थी है। सुखेच्छा ही मनुष्य के कर्मों का वास्तविक और अनिवार्य कारण है। मनुष्य की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को परसुखवादियों ने जनसामान्य के हित का साधन बनाया और मनोवैज्ञानिक सुखवाद को ही नैतिक सुखवाद एवं परार्थ-मूलक सुखवाद का आधार माना। उन्होंने कहा कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति—सुखेच्छा—नैतिक लक्ष्य को निर्धारित करती है। सुख ही नैतिक लक्ष्य है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को सुख प्राप्त करने का अधिकार है। दूसरे शब्दों में जीवन का ध्येय वैयक्तिक सुख नहीं है किन्तु अधिकतम संख्या का सुख है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के द्वारा उन्होंने सामूहिक सुखवाद की स्थापना की और सुखवाद का मानव-कल्याण के साथ समन्वय स्थापित किया। अपने मानवतावादी रूप में सुखवाद विकसित और गौरवान्वित अवश्य हो गया किन्तु इस रूप में वह प्राचीन सुखवाद से बहुत दूर पहुँच गया।

परार्थ सुखवाद के प्रमुख प्रवर्तक—इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक बैंथम और मिल जड़वादी विचारधारा के मानने वाले समाज-सुधारक थे। जड़वादी होने के कारण उन्होंने सांसारिक सुख को ही जीवन का ध्येय माना। सुख के आध्यात्मिक या धार्मिक पक्ष को समझने का प्रयास उन्होंने नहीं किया। मनुष्य को स्वार्थी मानते हुए उन्होंने कहा कि सामान्य सुख की वृद्धि करना नैतिक जीवन का लक्ष्य है; सामाजिक शुभ के लिए उपयोगी कर्म शुभ हैं। परसुखवाद का मापदण्ड प्राचीन सुखवादी मापदण्ड से भिन्न है। जनहित को

अपनाकर वास्तव में वह सुखवाद को छोड़ देता है। परसुखवाद विश्व को जनहित का सक्रिय सन्देश देता है और प्राचीन सुखवाद ने स्थूल इन्द्रियप्रियता का सन्देश दिया है। यहीं व्यावहारिक दृष्टि से दोनों में महान् अन्तर आ जाता है। प्रारम्भिक सुखवादी विशेषकर ऍपिक्यूरस के अनुसार सामाजिक सुख, सामाजिक कल्याण, सामाजिक संस्थाओं को उन्नत करने की भावना घृणित है। परसुखवादियों ने यह समझाने का प्रयास किया कि जनहित को ध्यान में रखकर विभिन्न नियमों का प्रतिपादन करना चाहिए, सामाजिक तथा शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं की रूपरेखा निर्धारित करनी चाहिए। अपने उस उन्नत रूप में सुखवाद आधुनिक राजनीतिक, सामाजिक, व्यावसायिक, कानूनी और शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं के विकास में सहायक हुआ, इसमें कोई सन्देह नहीं है। किन्तु परसुखवादियों के विरुद्ध यह मुख्य आपत्ति है कि वे वैयक्तिक और सामाजिक सुख में सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाये। वैसे, जहाँ तक सुखवाद का प्रश्न है, उसके क्षेत्र का अतिक्रमण करके ही उन्हें सफलता मिली।

बैंथम

सुख ही एकमात्र वांछनीय ध्येय : नैतिक-मनोवैज्ञानिक सुखवाद का समन्वय—बैंथम[1] के अनुसार "प्रकृति ने मनुष्य को दो प्रमुख शक्तियों—सुख और दुःख—के अनुशासन में रखा है। इन्हीं के द्वारा यह निर्धारित होता है कि हमें क्या करना चाहिये और हम क्या करेंगे।" इस प्रकार वह अपनी पुस्तक[2] का प्रारम्भ नैतिक और मनोवैज्ञानिक सुखवाद के समन्वय से करता है। इस समन्वय के द्वारा वह यह कहता है कि मनुष्य के कर्म सदैव सुख की इच्छा से संचालित होते हैं और सुख ही एकमात्र नैतिक आदर्श है। बैंथम का यह सिद्धान्त उन्हीं कर्मों का अनुमोदन करता है जो कि सुखप्रद हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह इस तथ्य पर आधारित है कि मनुष्य वैयक्तिक सुख

१. Jeremy Bentham 1748—1832.
२. Principles of Morals and Legislation.

की खोज करता है। अथवा सुख की खोज और दुःख का परित्याग, यही दो प्रेरणाएँ उसके कर्मों को सदैव संचालित करती हैं। प्रत्येक विवेकसम्मत प्राणी के जीवन का ध्येय आत्मसुख है। स्वभाववश स्वार्थी व्यक्ति दूसरों के लिए छोटा-सा त्याग भी आत्मसुख की आशा से करता है। अपने स्वार्थ के महत्तम अंश की प्राप्ति ही विचारवान मनुष्य के जीवन का उद्देश्य है। इस प्रकार बैंथम स्थूल स्वार्थवाद को स्वीकार करता है, प्रेरणाओं के मूल में आत्म-स्वार्थ को देखता है। नैतिक मान्यताएँ, विभिन्न नियम, कर्तव्य, नैतिक बाध्यता, सद्‌गुण आदि उसके सुख-दुःख के सम्बन्ध में ही महत्त्वपूर्ण तथा अर्थगर्भित हैं।

स्वार्थ से परमार्थ की ओर—बैंथम का नीतिशास्त्र उसके चरित्र से अत्यधिक प्रभावित है। वह स्वभाव से परोपकारी और दयालु था। कानून में उसकी अत्यधिक रुचि थी। वह चाहता था कि जनहित को लक्ष्य मानकर नियम बनाये जाएँ। जनहित को ध्येय मानने पर भी उसने जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण जड़वादी रखा, मनुष्य की मूल प्रवृत्ति को स्वार्थी माना तथा सांसारिक सुख में जीवन की सार्थकता देखी। उसका ध्यान जीवन के दार्शनिक, सांस्कृतिक, कलात्मक और धार्मिक पक्ष की ओर आकृष्ट नहीं हुआ। एक ओर बैंथम ने अपने चिन्तन और अध्ययन के परिणामस्वरूप स्वार्थसुखवाद को अपनाया और दूसरी ओर उसके स्वभाव ने उसे परार्थ की ओर आकृष्ट किया। उसके परसुखवाद में उसकी जनहिताकांक्षिणी प्रवृत्ति बोलती दीखती है। वह कहता है कि नैतिक जीवन का आदर्श 'अधिकतम संख्या के लिए अधिकतम सुख' है। मनुष्यमात्र के लिए अधिक-से-अधिक परिमाण में सुख खोजना ही व्यक्ति का ध्येय है। व्यक्ति को आत्मसुख खोजने का वहीं तक अधिकार है जहाँ तक कि उसका सुख दूसरों के लिए बाधक अथवा दुःखप्रद नहीं बनता। वास्तव में यहाँ पर बैंथम समाज-सुधारक के रूप में प्रकट होता है। उसने अपने समय की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को समझने का प्रयास किया। प्रचलित धर्म, अन्धविश्वास, अभ्यास, रीति-रिवाज तथा धर्म के उपदेशकों द्वारा जिस भाँति जाने-अनजाने सर्वसामान्य के सुख का शोषण होता है उसे देखकर वह अत्यन्त दुःखी हुआ। उसने साधिकार सुख को मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक

आधार देते हुए कहा कि जीवन का ध्येय सुख है और यह सुख वैयक्तिक नहीं किन्तु सामाजिक है। नैतिकता का मापदण्ड 'अधिकतम संख्या के लिए अधिकतम सुख' है, सामूहिक सुख है। नैतिक दृष्टि से वही कर्म शुभ है जो सर्वकल्याण के लिए उपयोगी है। सर्वकल्याण अथवा जनसम्प्रदाय के सुख में वैयक्तिक सुख खो नहीं जाता। वह समान और निष्पक्ष रूप से उसमें सुरक्षित रहता है। इस प्रकार बैंथम परम स्वार्थवाद के साथ समानता या निष्पक्षता के सिद्धान्त (Principle of equity or impartiality) को स्वीकार करता है।

उपयोगितावाद—किन्तु फिर भी प्रश्न उठता है कि यदि व्यक्ति स्वभावतः स्वार्थी है तो वह जनहितसाधन कैसे कर सकता है? बैंथम उपयोगितावाद का प्रतिपादन करता है। उसके अनुसार नैतिकता का मूल आधार उपयोगितावाद का सिद्धान्त (Principle of utility) है। "उपयोगितावाद के सिद्धान्त से अभिप्राय उस सिद्धान्त से है जो कि प्रत्येक कर्म को उस प्रवृत्ति के अनुसार स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करता है जो कि उन लोगों के सुख-दुःख का ह्रास अथवा विकास करती प्रतीत होती है जिनका स्वार्थ उससे सम्बद्ध है।" बैंथम के उपयोगितावाद के सिद्धान्त के अनुसार वही कर्म शुभ है जो सर्वसामान्य के सुख के लिए उपयोगी है। 'अधिकतम संख्या के लिए अधिकतम सुख' अथवा परसुखवाद को समझाने के लिए वह सुखवाद को उपयोगिता के सिद्धान्त के साथ सम्बद्ध कर देता है। उपयोगिता ही नैतिक मापदण्ड को निर्धारित करती है। वह डेविड ह्यूम और ऐडम स्मिथ की आलोचना करता है। ये लोग उपयोगिता के तत्त्व को नैतिकता का मूल आधार नहीं मानते; सजातीय भावना (fellow feeling) या सहानुभूति (sympathy) को नैतिक मान्यताओं का मूलतत्त्व मानते हैं, यद्यपि दोनों में भिन्नता स्पष्ट है। ह्यूम अपने सहानुभूति के सिद्धान्त का प्राकृतिक स्पष्टीकरण करता है और एडम स्मिथ सहजज्ञानवादी होने के कारण अन्तर्बोध के द्वारा सहानुभूति को समझाता है। बैंथम के अनुसार सहानुभूति को नैतिकता का आधार मानने वाले सिद्धान्त बहिर्मूलक नैतिक मापदण्ड नहीं दे सकते। सहानुभूति अन्ध-प्रवृत्ति है। यह वैयक्तिक भावना पर निर्भर है। ह्यूम तथा स्मिथ का मापदण्ड आत्मगत है। इसी भाँति बैंथम

वैराग्यवाद, नैतिकबोध, कर्तव्य, ईश्वरेच्छा आदि को नैतिकता का आधार मानने वाले सिद्धान्तों के विरुद्ध कहता है कि वे कर्मों की मूल प्रेरणा को नहीं समझा पाये। कर्मों की वास्तविक और परमप्रेरक उपयोगिता है। बैंथम उपयोगिता के सिद्धान्त को महत्त्व देता है और कहता है कि वही कर्म करना चाहिये जो उपयोगिता के सिद्धान्त के अनुरूप हो। यही नैतिक कर्तव्य के अर्थ हैं।

नैतिक आदेश द्वारा सामूहिक सुख की प्राप्ति—बैंथम सुखवादी मनोविज्ञान को स्वीकार करता है। कर्मों को सुख-दुःख की प्रेरणा संचालित करती है, किन्तु फिर भी उसके अनुसार नैतिक आदर्श अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख है। कर्म का नैतिक दृष्टि से मूल्यांकन करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि वह सामान्य सुख की वृद्धि कितनी करता है। स्वार्थ और परमार्थ के बीच बैंथम जो स्पष्ट रूप से विरोध मान चुका है उसका समाधान कैसे सम्भव है? स्वार्थी व्यक्ति सामाजिक कर्तव्य करने में अपनी कौन-सी भलाई देखता है? इन प्रश्नों का समाधान भी आवश्यक है। सुखवादी मनोविज्ञान के आधार पर बैंथम यह स्वीकार कर चुका है कि एकमात्र सुख-दुःख की प्रेरणा मनुष्य को कर्म अथवा सामाजिक कर्तव्य करने के लिए प्रेरित करती है। वैयक्तिक और सामाजिक सुख में वास्तव में कोई सामंजस्य नहीं है। यदि यह मान लें कि व्यक्ति का शुभ उसके सुख में निहित है तो वह दूसरों के सुख को क्यों चाहता है। बैंथम नैतिक आदेशों को महत्त्व देता है और कहता है कि आदेश व्यक्ति को परोपकारी आचरण के लिए बाधित करते हैं। आदेश वाह्य शक्तियों की भाँति हैं। ये व्यक्ति और समाज के बीच एकता स्थापित करते हैं। बैंथम के अनुसार चार प्रकार के आदेश हैं—भौतिक (प्राकृतिक), राजनीतिक, नैतिक (प्रचलित) और धार्मिक। यही आदेश व्यक्ति के परोपकारी आचरण के आधार-स्तम्भ हैं जो उसके सामाजिक आचरण के अप्रमुख कारण हैं। वास्तव में मनुष्य की आन्तरिक प्रेरणा स्वार्थी है। किन्तु साथ ही उसका विवेक उसे बतलाता है कि यदि वह आदेशों का उल्लंघन करेगा तो परिणामस्वरूप उसे दुःख उठाना पड़ेगा। आदेशों को वैयक्तिक सुख के लिए उपयोगी मानकर ही

व्यक्ति परोपकारी एवं सामाजिक कर्म करता है। आदेशों का पालन करके वह 'एक पन्थ दो काज' करता है। आदेश उसे वैयक्तिक सुख देते हैं और साथ ही सामान्य सुख का उत्पादन करते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि इस तथ्य को कैसे सिद्ध कर सकते हैं ? बैंथम तर्कसम्मत कारण नहीं दे सका। वह बार-बार यह कहता है कि आदेश उपयोगी नियम हैं और व्यक्ति स्वभाववश उपयोगी नियमों का पालन करता है। उसका यह भी दृढ़ विश्वास था कि व्यक्तिगत सुख, सार्वजनिक सामाजिक सुख पर निर्भर है। अतः उसने कहा कि यदि वास्तविक जीवन का अध्ययन करें तो मालूम होगा कि सर्वसामान्य सुख का उत्पादन करने वाले आचरण और व्यक्तिगत सुख का उत्पादन करनेवाले आचरण में परस्पर समरूपता और अनुरूपता पाई जाती है। इस भाँति वह एक ओर तो परमार्थी प्रवृत्ति को अस्वाभाविक कहता है और दूसरी ओर स्वार्थ और परमार्थ में संगति मानता है। उस संगति के आधार पर ही वह अधिकतम संख्या के सुख को समझाता है। किन्तु यदि स्वार्थ और परमार्थ-विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं, व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध बाह्य है तो विश्वास के आधार पर वैयक्तिक और सामाजिक सुख में सामंजस्य स्थापित नहीं किया जा सकता। बैंथम बिना सिद्ध किए ही कह देता है कि सर्वसामान्य सुख वैयक्तिक सुख में सहायक है और समाज-सुधारक के नाते कहता है कि नैतिक आदेश द्वारा स्वार्थी व्यक्ति के आचरण में सुधार कर सकते हैं।

प्रेरणा, परिणाम, उद्देश्य—बैंथम के अनुसार व्यक्ति सदैव अपने सुख की प्रेरणा से कर्म करता है। किन्तु साथ ही वह यह भी कहता है कि कर्म का नैतिक मूल्य आंकने के लिए यह जानना आवश्यक है कि वह सामान्य सुख के उत्पादन में कितना सहायक है। कर्मों का नैतिक मूल्यांकन करने के लिए उनका सामाजिक परिणाम जानना महत्त्वपूर्ण है। अथवा यदि आत्म-सुख की प्रेरणा से किये हुए कर्म का परिणाम समाज के लिए सुखप्रद है तो वह कर्म शुभ है अन्यथा अशुभ। यदि व्यक्ति स्वभाववश स्वार्थी है, वह आत्मसुख की ही खोज करता है तो अधिकतम संख्या के सुख को नैतिक मापदण्ड मानना असम्भव है। इस असम्भव को सम्भव करने के लिए बैंथम परिणाम को महत्त्व देता है। एक

ओर तो वह सुखवाद के इस कथन का समर्थन करता है कि व्यक्ति एकमात्र सुख की प्रेरणा से कर्म करता है। सब प्रेरणाएँ समान हैं। उनमें कोई भेद नहीं है। वे अपने-आप में न तो शुभ हैं और न अशुभ। वे गुणहीन हैं। किन्तु जब वे परिणाम से संयुक्त हो जाती हैं तब इनका मूल्यांकन किया जा सकता है। दूसरी ओर वह प्रेरणा को गुणरहित कहने के पश्चात् यह स्वीकार करता है कि अनुभव और वास्तविकता के आधार पर प्रेरणा को शुभ अथवा अशुभ कहा जा सकता है। वह यह मानता है कि उन प्रेरणाओं को शुभ कह सकते हैं जिनकी प्रकृति सुखप्रद परिणामों की ओर है और इसके विपरीत दुःखप्रद परिणाम वाली प्रेरणाएँ अशुभ हैं। इस भाँति परिणाम से सम्बन्धित प्रेरणा का मूल्यांकन कर सकते हैं। प्रेरणा और परिणाम के विरोध को बैंथम यह कहकर मिटाता है कि कर्म की नैतिकता प्रेरणा पर निर्भर नहीं है किन्तु वास्तविक अथवा सम्भावित परिणाम पर। बिना परिणाम के प्रेरणा अर्थशून्य है। परिणाम से बैंथम का अभिप्राय कर्म के वास्तविक या सम्भावित फल से है। यह वह फल है जिसके लिए कर्ता पूर्ण रूप से सचेत है। यदि यह फल अथवा परिणाम सुखप्रद हैं तो कर्म शुभ हैं अन्यथा अशुभ। साथ ही यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सुख से बैंथम का अभिप्राय वैयक्तिक सुख से नहीं बल्कि सामाजिक सुख से है। परिणाम से बैंथम का वास्तव में अभिप्राय कर्म के विशिष्ट फल से नहीं है; किन्तु सम्पूर्ण परिस्थिति, उद्देश्य से है। उदाहरणार्थ, यदि कोई मनुष्य अपने मित्र को दारुण दुःख से मुक्त करने के लिए अत्यधिक प्रयास करता है किन्तु परिस्थितिवश उसे सफलता नहीं मिलती तो बैंथम के अनुसार उसका कर्म शुभ कहलायेगा। सुख की प्रेरणा से प्रेरित होकर व्यक्ति कर्म करता है, अपने मित्र को दुःख से बचाने का प्रयास करता है। उसका उद्देश्य शुभ है, मानव-सुख की वृद्धि है। परिणाम बुरा होने पर भी कर्म स्तुत्य है।

परिणाम : सुखवादी गणना—बैंथम के अनुसार सुख जीवन का ध्येय है। सब सुख समान हैं, शुभ हैं। उनमें कोई जातिभेद नहीं है। किन्तु फिर भी कुछ सुख अधिक वांछनीय हैं और कुछ कम। यह जानना आवश्यक है कि

अधिक वांछनीय सुख को कैसे समझा जा सकता है। अन्य सुखवादियों की भाँति बैंथम ने भी परिमाण को महत्त्व दिया। उसका कहना था कि जहाँ तक परिमाण का प्रश्न है सुखों में भेद है। उसके अनुपात में ही एक सुख को दूसरे सुख से अधिक वांछनीय माना जाना चाहिए। जहाँ तक गुण (quality) का प्रश्न है वह निरर्थक है। उसी गुण का मूल्य है जो परिमाण में परिणत हो सकता है। यदि दो सुख आपस में परिमाण में समान हैं तो दोनों ही समान रूप से शुभ हैं। समान परिमाण होने पर तुच्छ खेल के और कविता करने के सुख को समान रूप से शुभ कह सकते हैं। बैंथम के ही शब्द हैं—'Quantity of pleasure being equal, push-pin is as good as poetry'।

परिमाण महत्त्वपूर्ण है या नहीं ? इसको कैसे मापा जा सकता है ? कानून में रुचि होने के कारण बैंथम ने सुख को नापने के लिए एक वस्तुगत और सार्वभौम मापदण्ड की खोज की। वह दृढ़ और ठोस मापदण्ड चाहता था। ऐसे मापदण्ड को चाहता था जो व्यक्तिगत विचार और भावनाओं पर निर्भर न हो। उसने यहाँ पर गणित से प्रेरणा ली। गणित में जो गणना का सिद्धान्त (mathematical calculation) मिलता है उससे वह अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसका कहना था कि यह सिद्धान्त निर्विवादता, स्पष्टता और सुनिश्चितता पर आधारित है। यदि इसी प्रकार की गणना के सिद्धान्त को नीतिशास्त्र के क्षेत्रों में स्वीकार कर लिया जाय तो कर्मों पर निश्चित निर्णय दिया जा सकता है। सुख को उसी भाँति मापा जा सकता है जिस भाँति कमरे को उसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई द्वारा नापा जाता है। सुख के वे कौनसे आयाम (dimensions) हैं जिनके द्वारा उसकी नाप करते हैं। बैंथम के पूर्व पैले (Paley) और अन्य सुखवादियों ने सुखों के परिमाण को नापने के लिए दीर्घकालीनता और तीव्रता का भेद माना था। किन्तु बैंथम उनके अतिरिक्त पाँच आयाम और मानता है। उसके अनुसार सुख के परिमाण को नापने के लिए सात आयामों को समझना आवश्यक है। तीव्रता (intensity), दीर्घकालीनता (duration), सन्निकटता (nearness), निश्चितता (certainty), विशुद्धता अर्थात् जिस सुख में दुःख का लेशमात्र मिश्रण न हो

(purity), उत्पादकता, जो अन्य सुखों का उत्पादन कर सके (fruitfulness) और व्यापकता (extent)। बैंथम के ये मापदण्ड सुखवादी गणना (hedonistic calculus) अथवा नैतिक गणित (Moral Arithmetic) के नाम से प्रख्यात हैं। उसके अनुसार नैतिक गणित यह बतला सकता है कि कौन सुख परिमाण में अधिक है एवं अधिक वांछनीय है। सुख को चुनते समय यदि हम विवेक से काम लें तो अधिक वांछनीय सुख को चुन सकते हैं।

व्यापकता—बैंथम ने अपने नैतिक गणित में व्यापकता को स्थान दिया। किन्तु व्यापकता को कैसे तौल सकते हैं? उसके क्या अर्थ हैं? यदि व्यापकता से अर्थ व्यक्तियों की सुखभोग करने वाली संख्या से है तो स्वार्थ सुखवाद कैसे टिक सकता है? एक व्यक्ति के सुख की तुलना दूसरे व्यक्ति के सुख से करना सम्भव नहीं है। सुख एक भावना है, उसका स्वरूप व्यक्तिगत है। चरित्र, प्रकृति, अभ्यास, आयु, द्वन्द्व-भावना, मानसिक स्थिति, वातावरण, परिस्थिति, जलवायु आदि के अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति की सुख की भावना भिन्न है। अतः वह जो एक के लिए सुखप्रद है, दूसरे के लिए दुःखप्रद हो सकता है। ऐसे भी व्यक्ति हैं जिनके लिए दूसरों का सुख नगण्य है अथवा जिनमें इतनी अधिक ईर्ष्या है कि दूसरे का सुख उनके जीवन को दुःखमय बना देता है। ऐसी स्थिति में किसी एक सुख को मान्य मान लेना या किसी एक सुख को सार्वजनीन रूप देना सम्भव नहीं है। यदि व्यापकता का यह अर्थ है कि हम दूसरों के सुख को अधिक महत्त्व दें अथवा अधिकतम संख्या के सुख को स्वीकार करें तो सुखवाद के मूल सिद्धान्त को छोड़ना पड़ेगा।

त्रुटियाँ : विशेषता—अपने नैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए बैंथम इस मनोवैज्ञानिक मान्यता को स्वीकार करता है कि इच्छा का एकमात्र विषय सुख अथवा दुःख से निवृत्ति है। प्रत्येक व्यक्ति इस स्वाभाविक मान्यता के कारण उस आचरण को स्वीकार करता है जिससे उसे अधिकतम सुख की आशा हो। यदि मनोवैज्ञानिक सत्य को भूलकर इस मान्यता को मान लें तो यह कहना व्यर्थ होगा कि व्यक्ति को सुख की इच्छा करनी चाहिए। मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर नैतिक सुखवाद आधारित नहीं किया जा सकता। यह

व्यर्थ का शब्दजाल और पुनरुक्ति है। बैंथम के सिद्धान्त में आचरण का उचित और सूक्ष्म विश्लेषण नहीं मिलता है। मनोविज्ञान का अध्ययन तथा मनुष्य की इच्छाओं एवं प्रवृत्तियों का विश्लेषण यह बताता है कि जिस मनोवैज्ञानिक सुखवाद को बैंथम स्वीकार करता है वह दोषयुक्त है। इस दोष से, जैसा कि हम आगे देखेंगे, मिल का सिद्धान्त भी आक्रान्त हो गया है। मनुष्य सब प्रवृत्तियों के मूल में स्वार्थ देखना, परम स्वार्थवाद को मानना तथा सुख को ही इच्छाओं का विषय मानना मनोविज्ञान का विरोध करना है। बैंथम का कहना था कि मनुष्य को सुख चाहिए और यह महत्त्वहीन है कि सुख किस वस्तु से प्राप्त होता है (कविता से अथवा तुच्छ खेल से)। वस्तु से पृथक् सुख का मूल्यांकन किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद को बिना उचित विवेक के स्वीकार करने के कारण बैंथम यह नहीं समझ पाया है कि इच्छा सदैव वस्तु के लिए होती है। इच्छित वस्तु की प्राप्ति से सुख मिलता है। सुखवाद को वह निष्पक्षता या समानता के सिद्धान्त के साथ संयुक्त करता है और इस आवेश में वह भूल जाता है कि सुख आत्मगत और वैयक्तिक है। वह कहता है कि सुख का समान रूप से वितरण किया जा सकता है। इसके लिए वह 'नैतिक गणित' का आविष्कार करता है। किन्तु जिस आत्म-विश्वास से वह नैतिक गणित के द्वारा अपनी कठिनाई हल करता है वह वैसा ही है जैसा कि उस बच्चे का विश्वास जो सोचता है कि वह कागज़ की नाव से नदी पार कर सकता है। बैंथम का कहना था कि नैतिक गणित के द्वारा दो सुखों के जोड़ को समान अथवा असमान बताया जा सकता है और सुखों की परिमाणात्मक तुलना की जा सकती है। जनसाधारण सामान्य सुख को प्राप्त कर सके, यह उसकी उत्कट अभिलाषा थी। सम्भव है उस अभिलाषा को वास्तविकता देने की तीव्र इच्छा के कारण ही उसने बिना समझे-बूझे कह दिया कि सब सुख समान हैं, उनमें गुणात्मक भेद नहीं हैं, उन्हें तोला जा सकता है, एवं समान रूप से उनका वितरण किया जा सकता है। वह यहाँ तक मान लेता है कि समाज व्यक्तियों का समुदायमात्र है और इस समुदाय में कानूनी तौर से प्रत्येक को समान सुख मिल सकता है। वह इस सत्य को भूल जाता है कि मानव-समा-

एक जीवन्त संगठन है, उसमें प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व होता है और उस व्यक्तित्व के अनुरूप ही उसकी सुख की धारणा होती है। बैंथम ने सुख में गुणात्मक भेद न मानकर स्थूल और इन्द्रियपरक सुखवाद का स्वागत किया। उसके आलोचकों ने इस पर अत्यन्त आपत्ति की, उसके दर्शन को शूकर-दर्शन (Pig-philosophy) कहकर उसका तिरस्कार किया। सच तो यह है कि बैंथम उपयोगितावाद को स्पष्ट रूप से नहीं समझा पाया। वह इस तथ्य का दार्शनिक तथा तार्किक रूप से स्पष्टीकरण नहीं कर पाया कि व्यक्ति को क्यों सामाजिक सुख की परवाह करनी चाहिए। वह सामाजिक नैतिकता के आधार को नहीं समझ पाया। इसका मूल कारण यह है कि उसने स्वार्थ और परमार्थ में परम भेद देखा और मनोवैज्ञानिक सुखवाद को पूर्ण रूप से ग्रहण कर लिया। किन्तु फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि बैंथम उपयोगितावाद का प्रवर्तक था। वह प्रथम विचारक था जिसने कि नैतिक क्षेत्र में उपयोगिता के सिद्धान्त को निश्चित रूप दिया, उसके लक्ष्य की रूपरेखा बनाई।

मिल

उपयोगितावाद के प्रचारक के रूप में—उपयोगितावाद को लोकप्रिय बनाने का श्रेय मिल[1] को है। उसने बैंथम के आलोचकों एवं उपयोगितावाद को शूकर-दर्शन कहने वालों के विरुद्ध उसकी श्रेष्ठता को समझाकर उपयोगितावाद का प्रसार और प्रचार किया। मिल के सिद्धान्त में हमें उपयोगितावाद के प्रति जो अन्ध-समर्थन तथा तार्किक और दार्शनिक असंगतियाँ मिलती हैं उसका कारण यह है कि मिल का उपयोगितावाद उसके स्वतन्त्र बौद्धिक चिन्तन का अनिवार्य परिणाम नहीं है। उसने इसे पैतृक सम्पत्ति के रूप में अपने पिता (जेम्स मिल) और उनके मित्र बैंथम से प्राप्त किया। जेम्स मिल और बैंथम ने मिल को बचपन से ही उपयोगितावाद के साँचे में ढाला। मिल ने अपने पिता की तथा बैंथम की मृत्यु के पश्चात् एक ओर तो उपयोगितावादी परम्परा को निभाया और दूसरी ओर वह सत्य के प्रति जागरूक रहा। उसने विरोधी मतों के

१. John Stuart Mill, 1806-1873.

सुदृढ़ तत्त्वों (सत्य अंशों) को स्वीकार किया और साथ ही वह उपयोगितावाद का परम अभिभावक बना रहा। ऐसा करने के कारण अनजाने में ही उसने अपने सिद्धान्त में अनेक असंगतियों को स्थान दे दिया। और इस कारण वह उपयोगितावाद को दृढ़ सिद्धान्त के रूप में स्थापित करने में असमर्थ रहा।

मिल का उपयोगितावाद : उसकी विशिष्टता—मिल ने बैंथम के उपयोगितावाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया और उसे उपयोगितावाद के नाम से प्रसिद्ध किया। उसने उपयोगितावाद की व्याख्या इस प्रकार की : "उपयोगितावाद वह धारणा है जो नैतिकता को उपयोगिता या अधिकतम सुख के सिद्धान्त पर आधारित मानती है और यह स्वीकार करती है कि कर्म उस अनुपात में उचित या अनुचित हैं जिसमें कि वह सुख की वृद्धि या विनाश करते हैं। सुख का अर्थ इन्द्रिय-उपभोग और दुःख का अभाव है; और दुःख का अर्थ पीड़ा तथा सुख का अभाव है।"[1] उपयोगितावाद की व्याख्या में मिल बैंथम के सिद्धान्त को प्रायः पूर्ण रूप से ग्रहण कर लेता है। पर मिल के उपयोगितावाद के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्ततः दोनों में महान् अन्तर है। बैंथम ने मनोवैज्ञानिक मान्यता (प्रत्येक व्यक्ति स्वाभाविक प्रवृत्तिवश सुख की खोज करता है) पर अपने सिद्धान्त को आधारित किया। अर्थात् मनुष्य सदैव आत्मसुख चाहता है। सब सुख समान होते हैं। उनमें गुणात्मक भेद नहीं होता है। अतः उनकी परिमाणात्मक गणना की जा सकती है। मिल ने अपने सिद्धान्त द्वारा यह बतलाया कि सुखों में गुणात्मक भेद होता है। परिमाणात्मक रूप से समान होते हुए भी वे उच्च और निम्न कोटि के हो सकते हैं। मनुष्य में पशु-प्रवृत्तियों की तुलना में उन्नत प्रवृत्तियाँ भी हैं। 'तृप्त शूकर से अच्छा अतृप्त मानव होना है'; मिल के इस कथन ने बैंथम के उपयोगितावाद की काया-पलट कर दी। उसने उपयोगिता के सिद्धान्त को परिमाणात्मक मापदण्ड से स्वतन्त्र एक नया मापदण्ड दे दिया। वह नीतिज्ञ होने के साथ ही तर्कशास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित भी था। उसने तर्कशास्त्र

१. Utilitarianism, p. 6. (published by J. H. Dent, London, 2nd ed.)

और मनोविज्ञान के आधार पर 'अधिकतम संख्या के सुख' को समझाने का प्रयास किया।

नैतिक ध्येय : सुख; नैतिक-मनोवैज्ञानिक सुखवाद—मिल के अनुसार सुख ही एकमात्र वांछनीय ध्येय है। किन्तु यह सिद्ध करने के लिए उसने तर्क-प्रणाली का आश्रय लिया। प्रकाण्ड तर्कशास्त्री होने पर भी वह अपनी तर्कप्रणाली को भ्रान्ति एवं हेत्वाभास से मुक्त नहीं कर पाया। नैतिक सुखवाद (सुख की ही खोज करनी चाहिए) का प्रतिपादन करने के प्रयत्न में वह वाक्यालंकार के हेत्वाभास (fallacy of figure of speech) को जन्म देता है। मनोविज्ञान के नाम पर वह कहता है कि मानव-स्वभाव का निर्माण इस प्रकार हुआ है कि वह केवल सुख चाहता है। अथवा उसे चाहता है जो या तो सुख का अंश हो, या सुख के लिए साधन हो, या स्वयं सुखप्रद हो। इस प्रकार मनुष्य सदैव किसी-न-किसी रूप में सुख की खोज करता है। मनुष्य-स्वभाव के आधार पर ही यह सिद्ध होता है कि सुखप्रद वस्तुएँ वांछनीय हैं। अस्तु कर्मों का परम ध्येय सुख है और आचरण का शुभ होना इस तथ्य पर निर्भर है कि वह सुख की कितनी वृद्धि करता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सुख ही नैतिकता का मापदण्ड है। सुख की वांछनीयता को सिद्ध करने के लिए मिल यहाँ तक कहता है कि अभ्यस्त आत्मनिरीक्षण और आत्म-चेतना के सहारे यदि अन्य व्यक्तियों के निरीक्षण का मिलान करें तो स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है कि "किसी वस्तु को चाहना और उसे सुखप्रद कहना तथा किसी वस्तु को न चाहना और उसे दुःखप्रद कहना, ये क्रियाएँ पूर्ण रूप से अभिन्न हैं। यह एक ही मनोवैज्ञानिक सत्य का दो भिन्न प्रकार से नामकरण करना है। किसी वस्तु को वांछनीय मानना···और उसे सुखप्रद मानना एक ही बात है।" अतः सुख ही एकमात्र वांछनीय ध्येय है। "किसी वस्तु को दृश्य (Visible) सिद्ध करने के लिए एकमात्र प्रमाण यह है कि लोग उसे वास्तव में देखते हैं।···इसी भाँति···किसी वस्तु को वांछनीय (desirable) कहने के लिए इसके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है कि लोग उसे वास्तव में चाहते हैं।" मिल यहाँ पर दृश्य और वांछनीय को एक ही श्रेणी में

रख देता है। दृश्य के अर्थ होते हैं जो दृष्टिगम्य हो अथवा दिखाई देता हो (capable of being seen)। मिल ने दोनों के उपसर्ग (able) में सादृश्य देखा और इस आधार पर उसने वांछनीय का अर्थ लगा लिया—'वह जिसकी इच्छा की जा सकती है।' अर्थात् (capable of being desired) वह अपने सिद्धान्त को सिद्ध करने के आवेश में यह बात भूल गया कि जब 'एवुल' (able) शब्द 'डिज़ायर' (desire) के साथ उपसर्ग के रूप में संयुक्त होता है तब उसके अर्थ बदल जाते हैं। उसके अर्थ हो जाते हैं, इच्छा का उचित और विवेकसम्मत विषय अथवा वह वस्तु जिसकी इच्छा करनी चाहिए। उस वस्तु को वांछनीय नहीं कहते हैं जिसकी सामान्य रूप से अथवा स्वभाववश इच्छा करते हैं। सर्वसामान्य का अनुभव यह बतलाता है कि प्रत्येक वस्तु इच्छा का विषय बन सकती है। मिल 'इच्छा की. जा सकने' वाली वस्तु को और वांछनीय को एक ही मान लेता है। यही मिल की भूल है, जो वाक्यालंकार की भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति से युक्त होकर वह निश्चयात्मक भाव से कह देता है कि सुख वांछनीय है क्योंकि उसे लोग वास्तव में चाहते हैं।

नैतिक मापदण्ड : सामान्य सुख—मिल के अनुसार नैतिक अथवा वांछनीय ध्येय सुख है और यह सुख सर्व-सामान्य का है, व्यक्ति-विशेष का नहीं। मिल कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना सुख चाहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' सर्वश्रेष्ठ तथा वांछनीय ध्येय है। यह सुख वस्तुगत और सार्वभौम है। जो दूसरों के लिए शुभ या वांछनीय है वही व्यक्ति के लिए भी शुभ है। अतः सामान्य सुख ही नैतिक मापदण्ड है। इसी की वृद्धि और ह्रास के अनुरूप कर्म, आचरण, प्रेरणा आदि का मूल्यांकन किया जाता है। बैंथम ने भी सर्वसाधारण के सुख को नैतिक मापदण्ड माना था। किन्तु वह यह नहीं समझा पाया था कि स्वभाववश आत्मसुख की खोज करने वाले व्यक्ति को क्यों अधिकतम संख्या के सुख को अपनाना चाहिए।

तार्किक युक्ति द्वारा पुष्टि—मिल ने बैंथम की इस उक्ति को तार्किक आधार देकर पुष्ट करना चाहा। एक दार्शनिक की भाँति उसने स्वीकार किया कि कुछ ऐसे विचार हैं जिनको यदि बुद्धि के सम्मुख रखें तो बुद्धि अपनी

अनुमति दे देगी। बुद्धि की अनुमति मिल निम्नलिखित विधि से लेता है — "कोई कारण नहीं दिया जा सकता कि सर्वसामान्य का सुख क्यों वांछनीय है अतिरिक्त इसके कि प्रत्येक व्यक्ति···अपने लिए सुख चाहता है···प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसके लिए शुभ है और इसलिए सर्वसामान्य का सुख व्यक्तियों के समुदाय के लिए शुभ है।'[१] मिल के द्वारा प्रस्तुत किए हुए विचार बुद्धि का समाधान कहाँ तक करते हैं, यह कहना सरल नहीं है। तर्कशास्त्र के नियम यह बतलाते हैं कि महान् तर्कशास्त्री मिल ने अपने विचारों को प्रस्तुत करने में कई भूलें की हैं। उसकी विधि में जो सबसे स्पष्ट भूल है, वह रचनात्मक हेत्वाभास (fallacy of composition) की है। तर्कशास्त्र का यह स्पष्ट और सामान्य नियम है कि तार्किक विधि के उत्तर-पक्ष में कोई ऐसा विचार या शब्द नहीं आना चाहिए जो पूर्व-पक्ष में न हो। मिल पूर्व-पक्ष में यह कहता है कि 'प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए सुख चाहता है' और इस तथ्य के आधार पर उत्तर-पक्ष में वह इस परिणाम पर पहुँच जाता है कि 'सर्वसामान्य सुख जनसमुदाय के लिए शुभ है।' उपयोगितावाद को तार्किक आधार देने की उत्कट अभिलाषा के कारण वह प्रत्येक व्यक्ति के सुख द्वारा जनसमुदाय के सुख को सिद्ध करने का भ्रान्त, हेत्वाभासपूर्ण प्रयास करता है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व है, उसके सुख का उसके लिए विशिष्ट अर्थ है। व्यक्तियों को समुदाय में परिणत नहीं कर सकते हैं। समुदाय व्यक्ति नहीं है। व्यक्तियों को जोड़ नहीं सकते हैं और न उनके सुखों को जोड़ सकते हैं। सुखों को जोड़ना उतना ही हास्यास्पद है जितना यह कहना कि कक्षा में दस विद्यार्थी हैं; प्रत्येक पाँच फीट लम्बा है अतः विद्यार्थियों की लम्बाई पचास फीट है। अथवा तर्क द्वारा व्यक्तिगत सुख से जनसमुदाय के सुख को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

मनोवैज्ञानिक प्रमाण : स्वार्थ से परमार्थ—मिल मनोविज्ञान की भी शरण लेता है। स्वार्थ और परमार्थ में सामंजस्य स्थापित करके मिल पारमार्थिक प्रवृत्तियों, आचरण और कर्म को समझाता है। वह मानता है कि मनुष्य

---

१. Utilitarianism, pp. 32-33.

स्वभावत: स्वार्थी है। उसका स्वार्थ—आत्मसुख की लालसा—उसे सुखप्रद कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए ही वह दूसरों से सहानुभूति रखता है। इस क्रिया को दोहराते रहने से कालक्रम में सहानुभूति उसके स्वभाव का अनिवार्य अंग बन जाती है। सहानुभूति मनुष्य की ज्ञान और अनुभव द्वारा उपार्जित विशेषता है। सुसंस्कृत, सुहृदय अथवा सहानुभूति-पूर्ण मनुष्य जनसमुदाय के सुख के लिए प्रयास करते हैं। 'विचार साहचर्य का नियम' यह बतलाता है कि प्रयत्नों की पुनरावृत्ति के कारण साधन और साध्य के बीच तादात्म्य स्थापित हो जाता है। वैयक्तिक सुख सामाजिक सुख से युक्त हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप मनुष्य की रुचि में परिवर्तन हो जाता है। जिन कर्मों को मनुष्य ने अभी तक अपने सुख के लिए साधन माना था, वे साध्य से बारम्बार युक्त होने के कारण उसी का स्थान प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार मनुष्य दूसरों के सुख में सुख मानने लगता है एवं स्वार्थ से परमार्थ की उत्पत्ति होती है। मिल यहाँ पर सहानुभूतिमूलक सुखवाद (sympathetic hedonism) का प्रतिपादन करता है। मिल यह भी मानता है कि प्रारम्भ में सद्‌गुण करते समय मनुष्य सुखप्रद परिणाम के बारे में सचेत रहता है। किन्तु बाद में पुनरावृत्ति के कारण सुख सद्‌गुण के साथ युक्त हो गया। मनुष्य को सद्‌गुण करने में तत्कालीन सुख मिलने लगा।

आन्तरिक आदेश : सजातीय भावना—सद्‌गुण ही साधन से साध्य का रूप प्राप्त कर लेता है। सद्‌गुण सहानुभूतिपूर्ण मनुष्यों की अभ्यासगत विशेषता है। उसके कारण ही वे अपने आचरण और कर्म द्वारा सामान्य सुख की वृद्धि करते हैं। मिल का परमार्थ स्वार्थ का ही एक रूप है। विचारों के साहचर्य से उत्पन्न हुई परमार्थ की भावना अमौलिक भावना है। मिल अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए केवल इस भावना की शरण लेकर ही सन्तुष्ट नहीं होता। वह उसे स्वाभाविकता का दृढ़ आधार देने का प्रयास कर 'आन्तरिक आदेश' द्वारा मनुष्यों को सामाजिक एकता के सूत्र में बाँधता है। बैंथम ने 'नैतिक आदेशों' को अनिवार्य और आवश्यक माना और उन्हीं के द्वारा सामाजिक आचरण को समझाया। मिल बैंथम के 'आदेशों' को 'बाह्य आदेश'

कहता है। मनुष्य दण्डित होने के भय से एवं आत्म-सुख के कारण आदेशों का पालन करता है। मिल कहता है कि आदेशों द्वारा मनुष्य के नैतिक आचरण को भली-भाँति नहीं समझा जा सकता। यह व्यक्ति के सामाजिक आचरण का गौण स्पष्टीकरण मात्र है। मनुष्य की प्रवृत्तियों का अध्ययन बतलाता है कि उसमें सजातीय भावना (fellow feeling) है, जिसे वह स्वाभाविक भावना भी कहता है। मिल का विश्वास है कि मनुष्य के सामाजिक आचरण के मूल में यही भावना है। इस प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति अपने तथा समाज के बीच अभिन्नता देखता है। उसका सुख सामाजिक सामंजस्य पर निर्भर होता है। मिल साथ ही यह भी मानता है कि अत्यन्त स्वार्थी व्यक्तियों के लिए उन्हीं का स्वार्थ सब-कुछ है। उनकी स्वार्थान्धता 'सजातीयता की भावना' को दबाकर नगण्य कर देती है। किन्तु सुसंस्कृत और सुविकसित व्यक्ति उसके बारे में पूर्ण रूप से सचेत रहता है। ऐसा व्यक्ति सामाजिक सुख में ही अपने सुख को निहित पाता है और उस भावना का आदेश ही 'आन्तरिक आदेश अथवा नैतिक आदेश' है। उसे मिल अन्तर्बोध (conscience) का आदेश भी कहता है। आन्तरिक आदेश सामाजिक कर्तव्य का मार्ग दिखाता है। वह उपयोगितावादी नैतिकता का मूल आधार है। सामाजिक कर्तव्य न करने पर वह व्यक्ति को आत्मग्लानि देता है और सर्व-सामान्य के सुख का उत्पादन करने पर ही व्यक्ति को अपना जीवन सुखी और सफल लगता है। मिल का आन्तरिक आदेश से अभिप्राय अन्तर्बोध द्वारा आरोपित सुख-दुःख से है। अन्तर्बोध के सुख (आत्मसुख) को प्राप्त करने के लिए ही सामाजिक चेतनाशील व्यक्ति नैतिक कर्म करता है। वह शुभ कर्म इसलिए नहीं करता कि वे अपने-आप में शुभ और नैतिक हैं बल्कि पश्चात्ताप और आत्मग्लानि से बचने के लिए ही वह इनकी ओर प्रेरित होता है। किन्तु जिनमें अन्तर्बोध की प्रेरणा मृतप्राय है वे बाह्य आदेश के कारण ही सर्व-सामान्य के सुख की परवाह करते हैं।

उपयोगितावाद : उच्च आदर्श का पोषक—मिल ने उपयोगितावाद को प्रचलित तथा व्यापक रूप देना चाहा। बैंथम के सिद्धान्त के विरुद्ध जो

आपत्तियाँ थीं उन्हें दूर कर उसने प्रचलित प्रथाओं और नियमों को उपयोगितावादी साँचे में ढालना चाहा। वह कहता है कि उपयोगितावाद का मापदण्ड जनता का सुख है—अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख का समुच्चय—न कि कर्ता का अधिकतम सुख है। उपयोगितावादी व्यक्ति सामाजिक दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर ही अपने तथा दूसरों के सुखों का मूल्यांकन करता है। अपने तथा अन्य के सुख के वितरण के बीच वह तटस्थ दर्शक की भाँति है। उसके निर्णय निष्पक्ष होते हैं। "नजारथ के ईसू के स्वर्ण-सिद्धान्त में हमें उपयोगितावादी नैतिकता की पूर्ण आत्मा मिलती है। जैसा व्यवहार तुम दूसरों से चाहते हो, दूसरों के लिए भी वैसा ही करना और अपने पड़ोसियों के प्रति अपनी ही तरह प्रेम रखना, यह उपयोगितावादी सदाचार के आदर्श की पूर्णता है।" उपयोगितावादी आत्मत्याग, वैराग्य तथा सत्यशीलता को शुभ मानता है, क्योंकि इनसे सर्वसामान्य के सुख की वृद्धि होती है। मिल ने वास्तव में यहाँ पर स्टोइक और ऍपिक्यूरियन विचारों का मिश्रण कर दिया है। एक ओर वह सुख को महत्त्व देता है और दूसरी ओर आत्मसंयम एवं सुख के प्रति उदासीनता को। स्टोइकों के प्रभाव के वश अथवा उपयोगितावाद को श्रेष्ठ सिद्धान्त सिद्ध करने की महत्त्वाकांक्षा के वश वह यहाँ तक कह देता है कि मनुष्य प्रायः अपने सुख के पूर्ण त्याग द्वारा ही दूसरों के सुख में सहायक होता है और उसकी यह भावना (आत्मचेतना) कि वह बिना सुख के रह सकता है उसे उस सुख की प्राप्ति कराती है जिसे पाना उसके लिए सम्भव है।

सुख की क्रमिक व्यवस्था : गुणात्मक भेद—बैंथम का कहना था कि 'सुख को चुनते समय परिमाण को तोल लेना चाहिए और सुख का समान परिमाण होने पर तुच्छ खेल और कविता समान रूप से शुभ हैं।' बैंथम के विरुद्ध आलोचकों ने यह कहा कि उपयोगितावाद को मान्य सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह स्थूल इन्द्रियवाद को जन्म देता है। इस कटु आलोचना से मिल उपयोगितावाद को मुक्त करने का प्रयास करता है। वह कहता है कि सुख की वांछनीयता परिमाण और गुण (quantity and quality) दोनों पर निर्भर है। सुखों में जातिगत या गुणात्मक भेद है। संस्कृत और श्रेष्ठ सुख

अधिक वांछनीय है और यह उपयोगितावाद के सिद्धान्त के अनुरूप है कि हम कुछ प्रकार के सुखों को अधिक वांछनीय या मूल्यवान मान लें। बैंथम के अनुसार काव्य द्वारा प्राप्त सुख और निकृष्ट खेल द्वारा प्राप्त सुख परिमाण में समान होने पर समान रूप से वांछनीय हैं। मिल कहता है कि सुख को मापने के लिए एक आयाम को मानना और आवश्यक है। सुख में गुणात्मक भेद भी होता है। यहाँ पर मिल का सिद्धान्त बैंथम के सिद्धान्त की तुलना में अधिक श्रेष्ठ हो जाता है। किन्तु इस श्रेष्ठता को वह तभी प्राप्त कर पाता है जब वह सुखवाद को छोड़ देता है।

मनुष्य निम्न प्राणियों एवं पशुओं की भाँति इन्द्रिय-सुख का इच्छुक नहीं है। वह उच्च एवं श्रेष्ठ सुख चाहता है। श्रेष्ठ सुख के लिए दुःखं को स्वीकार करता है। किन्तु प्रश्न यह है कि श्रेष्ठ सुख को कैसे निर्धारित किया जाय? उसका क्या मापदण्ड है? सुख की श्रेष्ठता को समझाने के लिए मिल 'योग्य न्यायाधीशों के निर्णय' तथा 'गौरव की भावना' का उदाहरण देता है। सुखवाद के मूल सिद्धान्त के अनुसार सुख की वांछनीयता उसके परिमाण और तीव्रता पर निर्भर है। किन्तु मिल 'योग्य न्यायाधीशों के निर्णय' को परम निर्णय अथवा परम मापदण्ड मानता है। उनके निर्णयों के विरुद्ध कुछ कहना सम्भव नहीं है। उन निर्णयों के अनुसार सुख का मूल्य उसकी उत्पादक वस्तु पर निर्भर है। अपने कारण की श्रेष्ठता या निम्नता के अनुरूप ही सुख वांछनीय या अवांछनीय है। 'योग्य न्यायाधीशों' से प्लेटो की भाँति मिल का अभिप्राय उन व्यापक अनुभव वाले व्यक्तियों से है जो अपनी आत्म-निरीक्षण की तीक्ष्ण शक्ति द्वारा सुखों का तुलनात्मक रूप से मूल्यांकन करते हैं। ऐसा व्यापक एवं सर्वांगीण अनुभव वाला व्यक्ति दार्शनिक चिन्तन और साधारणतम कर्म (ताश खेलना आदि) दोनों से प्राप्त सुख का अनुभव कर चुका है। इसके विपरीत उस मनुष्य का अनुभव, जिसने केवल ताश खेलने के सुख को प्राप्त किया है, सीमित है। व्यापक अनुभव से रहित होने के कारण उसका ज्ञान संकीर्ण और एकांगी है। वह दार्शनिक सुख एवं उच्च सुख का अनुभव नहीं कर पाता। अतः जब दोनों प्रकार के सुखों का अनुभव करने वाला मनुष्य

दार्शनिक सुख को चुनता है तब दार्शनिक सुख को ही मान्य मानना चाहिए। मिल ऐसे अनुभवी व्यक्तियों को ही सुख का मूल्य और उसकी वांछनीयता को निर्धारित करने का अधिकार देता है। वह कहता है कि यदि ऐसे योग्य व्यक्तियों की निर्णायक समिति से पूछा जाए तो वह अवश्य ही एकमत होकर श्रेष्ठ सुख को महत्त्व देगी; उस सुख को जो कि उच्च भावनाओं और प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट कर सकता है। मिल का विचार है कि कोई भी विद्वान, अनुभवी तथा आत्म-प्रबुद्ध व्यक्ति अपने जीवन को दुःखपूर्ण मानते हुए भी किसी मूर्ख व्यक्ति अथवा पशु के सुखी जीवन से अपने जीवन को बदलना न चाहेगा। यदि मिल के कथन को सत्य मान लें तो उसके सुखवाद का मापदण्ड सुख नहीं बल्कि निर्णायक समिति है। इसी प्रकार मनुष्य का ध्येय तीव्र एवं अधिक परिमाण से सुख का भोग नहीं, श्रेष्ठ सुख है। मिल का 'गुणात्मक भेद' सुख को एकमात्र शुभ नहीं मानता। वह उत्पादक के स्वरूप को महत्त्व देता है। सुख की वांछनीयता उसकी श्रेष्ठता पर निर्भर है, उस श्रेष्ठता अथवा गुण को निर्णायक समिति निर्धारित करती है। मिल के विरुद्ध अनायास ही यह प्रश्न उठता है—क्या प्रमाण है कि निर्णायक समिति के सब सदस्यों का निर्णय अभिन्न होगा? अधिकतर यह देखा गया है कि योग्य और मर्मग्राही आलोचकों का काव्य की श्रेष्ठता के बारे में एकमत नहीं होता है। सुखवाद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के सुख का मापदण्ड उसके सुख की तीव्रता है। उच्च प्रवृत्ति के मनुष्य के लिए उच्च सुख और निम्न प्रवृत्ति के व्यक्ति के लिए निम्न सुख अधिक तीव्र एवं वांछनीय है। यह कहना असुखवादी है कि उच्च सुख ही वांछनीय है। प्रत्येक मनुष्य की प्रवृत्ति के अनुरूप ही उसके सुख का स्वरूप होता है। निम्न श्रेणी के अर्थात् इन्द्रिय पर व्यक्तियों के सुख के चुनाव को मिल अनुभवहीनता और अज्ञान का चुनाव कहकर अपने विरुद्ध आक्षेपों से अपने को मुक्त करने का प्रयास करता है। किन्तु यह तर्क सुखवाद के क्षेत्रों में मान्य नहीं है। मिल के 'योग्य न्यायाधीशों' को ही सुख के मूल्यांकन करने का एकमात्र अधिकारी नहीं कहा जा सकता। यदि सुख एकमात्र ध्येय है तो निम्न प्रवृत्ति के व्यक्ति से अधिक तीव्र एवं अधिक परिमाण के सुख का त्याग करके कम तीव्र सुख

को चुनने के लिए वाध्य नहीं किया जा सकता। उनसे परिमाण का त्याग करके गुण स्वीकार करने को नहीं कहा जा सकता। गुणात्मक भेद को मानने के लिए उसे परिमाण में परिणत करना आवश्यक है। अथवा "यदि सुखवाद के सिद्धान्त के साथ यह भी स्वीकार करें कि भावनाओं में गुणात्मक भेद होता है और उस भेद को परिमाण में परिणत नहीं किया जा सकता तो यह सापेक्षतः सुख की उच्च और निम्न श्रेणियों को स्वीकार करना होगा जिसका कि अधिक या कम सुख की मान्यताओं से कोई सम्वन्ध नहीं है।"[१] "गुण सुखवादी मापदण्ड के वाहर है, सुखवादी मापदण्ड केवल परिमाण या राशि है।"[२] गुणात्मक भेद को स्वीकार करना सुखवाद का अप्रत्यक्ष रूप से त्यागकर एक नवीन मापदण्ड को मानना है। यह मापदण्ड गुण या श्रेष्ठता का मापदण्ड है, सुख का नहीं। मिल ने इस नवीन मापदण्ड को मानकर सुखवादी परिमाण को, अर्थात् वैंथम के 'नैतिक गणित' को, व्यर्थ कर दिया। सुखवाद को स्पष्ट रूप से मानते हुए भी उसे बौद्धिक रूप से निकृष्ट कह दिया। 'योग्य न्यायाधीशों के निर्णय' के साथ ही मिल 'गौरव के बोध' (sense of dignity) की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। यह मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। यह जिनमें प्रबल होता है उनका सुख मुख्यतः इसी पर निर्भर होता है। गौरव के बोध को सुख की इच्छा के रूप में नहीं समझाया जा सकता। यह वह चेतना है जो मनुष्य को वतलाती है कि वह श्रेष्ठ प्राणी है और उस श्रेष्ठता के अनुरूप उसकी इच्छाओं और सुख की भावना को संयमित करती है। यह मनुष्य की बौद्धिक आत्मा की पुकार है। बिना इसे सन्तुष्ट किए उसे जीवन में शान्ति और तृप्ति प्राप्त नहीं हो सकती। मनुष्य उन कर्मों को करना चाहता है जो 'मानव-गौरव' के योग्य और बौद्धिक आत्मा के लिए वांछनीय हैं। वह केवल सुख के लिए सुख नहीं चाहता है। सुख अपने-आप में उच्च या निम्न नहीं है। वह अपने-आप में गुणहीन है। मनुष्य की बौद्धिक माँग ही उसके गुण को निर्धारित करती है। बौद्धिक आत्मा की तृप्ति की पूर्णता अथवा अपूर्णता के अनुरूप ही वह

१. Muirhead.
२. Seth.

उच्च और निम्न है। अतः मनुष्यत्व के 'गौरव का बोध' मनुष्य की बौद्धिक श्रेष्ठता का सूचक है, न कि सुख की इच्छा का। बुद्धि इतनी प्रभावशाली और महान् है कि मनुष्य उसका मान रखने के लिए, बौद्धिक शान्ति की प्राप्ति के निमित्त इन्द्रिय-सुखों का त्याग करता है। मनुष्य के जीवन का ऐसा अध्ययन अथवा उसका बौद्धिक मूल्य-निरूपण सुखवाद को सह्य नहीं है। यह इन्द्रिय-परक सुखवाद को स्खलित कर देता है।

मिल की सफलता और असफलता—मिल ने उपयोगितावाद को 'शूकर-दर्शन' के आक्षेप से मुक्त करना चाहा। उसने सुख में गुणात्मक भेद माने। 'सुख का गुणात्मक भेद' निःसन्देह मिल के सिद्धान्त को श्रेष्ठता और नवीनता प्रदान करता है और साथ ही उसके सिद्धान्त को बैंथम के सिद्धान्त से भिन्न कर देता है। मिल का गुणात्मक भेद ऐंपिक्यूरस के सिद्धान्त की याद दिलाता है। तुलनात्मक दृष्टि से मिल का सिद्धान्त अधिक संयत और श्रेष्ठ है। ऐंपिक्यूरस के मानसिक अथवा बौद्धिक सुख का सिद्धान्त अपने-आप में श्रेष्ठ नहीं है। दीर्घकालीनता और तीव्रता (अधिक परिमाण) उसकी वांछनीयता के कारण हैं। मिल से पूर्व के सभी सुखवादियों (ऐंरिस्टिपस, ऐंपिक्यूरस, पैले, बैंथम आदि) ने सब प्रकार के सुखों को समान कहा है। सुख की वांछनीयता परिमाण पर निर्भर है। मिल परिमाणात्मक भेद के साथ ही गुणात्मक भेद को भी आवश्यक, न्यायसम्मत तथा सत्य मानता है। उसका गुणात्मक भेद का सिद्धान्त 'गौरव के बोध' पर निर्भर है, वह बौद्धिक मापदण्ड है। सुखवाद के अनुसार हम उसी बौद्धिक मापदण्ड को स्वीकार कर सकते हैं जो सुख की इच्छा के अधीन है। किन्तु मिल का मापदण्ड इन्द्रिय-आत्मा के ऊपर बौद्धिक आत्मा को स्थापित करता है। 'गौरव का बोध' एवं 'गुणात्मक भेद' उस बौद्धिक आत्मा की पुकार है जो 'पूर्णतावाद' का आवाहन करती है। मिल का गुणात्मक भेद सुखवाद का पूर्ण खण्डन करता है, पूर्णतावाद का जाने-अनजाने में समर्थन करता है।

सुखवाद का आदर्श वैयक्तिक सुख है, जो स्वार्थमूलक है। मिल ने उसे सामाजिक रूप दिया, जिस रूप में वह महान् अवश्य है, किन्तु सुखवाद

नहीं है। परमार्थ को सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य मानकर मिल उसे आत्म-सुख से सम्बद्ध करता है। वह सामाजिक रचना के विकास और संगठन के लिए वैयक्तिक और सामान्य सुख में पूर्ण संगति देखता है। किन्तु प्रश्न यह है कि ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचना कैसे सम्भव है ? मिल इस समस्या का समाधान आत्मगत तर्क और विश्वास के आधार पर करता है, जिससे दार्शनिक तथा बौद्धिक सन्तोष नहीं होता। मिल के अनुसार सद्गुण अनिवार्य और आवश्यक हैं। किन्तु उन सद्गुणों को मनुष्य की व्यावसायिक बुद्धि स्वीकार करती है, न कि सम्पूर्ण आत्मा। मिल द्वारा स्वीकृत परमार्थ वास्तविक परमार्थवाद नहीं है, वह अहं पर आधारित प्रच्छन्न स्वार्थवाद है। मनुष्य की मूल प्रवृत्ति स्वार्थी है। उसकी व्यावसायिक बुद्धि उससे सामाजिक आचरण, नैतिक आदेश और आत्म-त्याग को स्वीकार करने के लिए कहती है क्योंकि वे उसके स्वार्थसाधन के लिए कल्याणकर हैं। सम्भव है, मिल स्वयं भी यह समझता था कि स्वार्थ और परमार्थ का ऐसा समीकरण, जो विचारों के साहचर्य पर निर्भर है, अस्वाभाविक है और चिरस्थायी नहीं है। इसीलिए शायद मिल ने स्वार्थ और परमार्थ के सम्बन्ध को आन्तरिक एवं अनन्य रूप देने के लिए शैफ्ट्सबरी, हचीसन और ह्यूम की भाँति ही कहा कि मनुष्य में 'सामाजिक एकता' की भावना निहित है, उसका स्वभाव पूर्ण रूप से सामाजिक है, वह सदैव अपने को समाज का अंग मानता है और वैयक्तिक तथा सामाजिक सुख में संगति एवं सामंजस्य है। उसके अनुसार सुख का नैतिक मूल्य सामाजिक है और सामाजिक सुख ही नैतिकता का मापदण्ड है। सुख के आदर्श को पूर्ण रूप से सामाजिक बना देना ही मिल के सिद्धान्त की विशिष्टता और श्रेष्ठता है। इस विशिष्टता के कारण वह सुखवाद से दूर तो हट जाता है, साथ ही वह सरलता और स्पष्टतापूर्वक सामान्य सुख की धारणा को भी नहीं समझा पाता है। वह सामाजिक अंगांगिभाव (Organic relation) की धारणा पर पहुँचने पर भी नहीं पहुँच पाता। परम स्वार्थवाद को अपना लेने के कारण वह साधिकार एवं निश्चयात्मक रूप से यह नहीं कह पाता कि समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध अनन्य है।

नैतिक सुखवाद की आलोचना

मनोवैज्ञानिक सुखवाद से अधिक व्यापक : दोहरी कठिनाई—मनोवैज्ञानिक सुखवाद ने यह जानना चाहा कि जीवन का ध्येय क्या है ? शुभ क्या है ? इसी प्रश्न को नैतिक सुखवाद ने यह कहकर सम्मुख रखा कि व्यक्ति का क्या कर्तव्य है ? दोनों का प्रश्न मूलतः एक ही है। दोनों के उत्तर भी समान हैं और दोनों का लक्ष्य भी एकमात्र सुख ही है। किन्तु फिर भी उनके प्रतिपादन के ढंग में, उनकी प्रणाली और कर्तव्य की रूपरेखा में अन्तर है। उनमें प्राचीनता और अर्वाचीनता का भेद स्पष्ट है। नैतिक सुखवाद ने आशावाद और सुख के भावात्मक पक्ष को सम्मुख रखा है, उचित ज्ञान के द्वारा सुख की प्राप्ति को सम्भव बतलाया है। उसने अपने क्षेत्र को वैयक्तिक दृष्टिकोण तक ही सीमित नहीं रखा है वरन् उसे मानवतावादी बनाया है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद से इस भाँति आगे बढ़ने पर भी नैतिक सुखवाद अपने सिद्धान्त में सफल नहीं हो सका है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर अपने सिद्धान्त को आधारित करने के कारण उसने अपने सिर पर विपत्तियों का पहाड़ ले लिया है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद की मूलगत भूल—मनोवैज्ञानिक भ्रान्ति—के कारण वह उसी की तरह खण्डनीय और आधारहीन तो हो ही जाता है, उस पर वह विरोधी विचारधाराओं को मिलाने का भी व्यर्थ प्रयास करता है। इन्द्रियजन्य ध्येय को स्वीकार करने के पश्चात् वह उपयोगितावाद के सहारे व्यक्ति और समाज के प्रश्न को उठाता है; परम स्वार्थ के साथ परार्थ को मिलाना चाहता है; सद्‌गुण और व्यावसायिक बुद्धि में एकरूपता स्थापित करने की चेष्टा करता है।

स्वार्थ और परार्थ का विरोधपूर्ण सामंजस्य—मिल और बैंथम के सिद्धान्त में जो बात अत्यधिक खलती है वह है विचारों की असंगति। इसका कारण यह है कि उन्होंने मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर अपने सिद्धान्त को आधारित किया। मनोवैज्ञानिक सुखवाद की भ्रान्तियों से तो उनका सिद्धान्त क्रान्त हो ही जाता है, वह नयी विपत्तियों को भी मोल ले लेते हैं। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के

आधार पर 'अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख' को ध्येय नहीं माना जा सकता। सर्वसामान्य के सुख को या तो मूलगत नैतिक नियम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, या उसे पूर्ण रूप से अर्थहीन सिद्ध किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद का अन्त हॉब्स का परम स्वार्थवाद है। परम स्वार्थवाद नैतिक नियमों को आत्मगत मानता है, वस्तुगत नहीं। उपयोगितावादियों ने सहजज्ञानवादियों की भाँति नैतिक नियम को वस्तुगत सत्य के रूप में स्वीकार किया और कहा कि सर्वसामान्य का अधिकतम सुख ही परम वांछनीय ध्येय है और यही कर्मों को भी शासित करता है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर उस ध्येय को स्वीकार करने के लिए यह सिद्ध करना आवश्यक है कि वह कर्ता के अधिकतम सुख की वृद्धि करता है। सुखवाद अपने मूल रूप में स्वार्थमूलक और वैयक्तिक है। उपयोगितावादी कहते हैं कि प्रत्येक व्यवित की गणना एक है, प्रत्येक अपने लिए है। इस बात से वे यह प्रमाणित नहीं कर सकते कि प्रत्येक सबके लिए है। उपयोगितावादी परमार्थवाद अथवा सार्वभौमिक सुखवाद की स्थापना के लिए जिस निष्पक्षता की आवश्यकता है वह सहजज्ञानवाद द्वारा ही उसे प्राप्त हो सकती है। परमार्थ को भावनाओं पर आधारित नहीं कर सकते। भावनाएँ एक ओर तो आत्मगत और स्वार्थी होती हैं और दूसरी ओर परमार्थी तथा सहानुभूतिमूलक। इन दो विरोधी प्रवृत्तियों में बिना बुद्धि की सहायता के सामंजस्य स्थापित करना असम्भव है। अनुभव यह बतलाता है कि बुद्धि से अनिर्देशित भावनाएँ व्यक्ति को सामाजिक बनाने के बदले वैयक्तिक बनाती हैं। मिल स्वार्थ से परमार्थ पर पहुँचने के लिए भावनाओं की सहायता लेता है। तार्किक प्रमाण, एकता की भावना तथा सहानुभूति द्वारा अपने सिद्धान्त को स्थापित करता है। उसके प्रयास यह सिद्ध नहीं कर पाते कि परमार्थ स्वार्थ के लिए हितकर है। भावना द्वारा वह निष्पक्षता भी सम्भव नहीं है जो सुख का वितरण करने के लिए आवश्यक है। उपयोगितावादियों ने अहंतावादी स्वार्थवाद का प्रतिपादन किया है जो नैतिक दृष्टि से थोथा है। स्वार्थ से परमार्थ की उपज असम्भव है। मिल 'गौरव के बोध' की शरण लेता है और अप्रच्छन्न रूप से सहजज्ञानवादियों की कृत्य बुद्धि (practical reason) को

मानता है। यह सुखवाद का विरोध करना है।

नैतिक कर्तव्य तथा सद्गुण के लिए स्थान नहीं है—नैतिक सुखवादियों ने मनोवैज्ञानिक सुखवाद को मूलगत सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करने के कारण यह माना कि मनुष्य के स्वभाव का नियम सुख की खोज करना है। अतः यह नैतिक आदेश कि 'तुम्हें सुख खोजना चाहिए' अर्थशून्य हो जाता है। यह वैसा ही है जैसा कि गिरते पत्थर से कहना कि 'तुम्हें गिरना चाहिए'। बैंथम स्पष्ट रूप से कहता है कि सुख-दुःख ही औचित्य और अनौचित्य के मापदण्ड को निर्धारित करते हैं। प्राकृतिक घटनाओं की भाँति मानव-कार्य-कलापों को 'कार्य और कारण' के अन्तर्गत समझ लेने पर मनुष्य भी अपने जीवन में उसी प्रकार अपने निर्दिष्ट ध्येय को प्राप्त कर सकता है जिस प्रकार वनस्पतियाँ, वृक्ष, पशु-पक्षी आदि अबौद्धिक और निर्जीव प्राणी प्राप्त करते हैं। वे सचेतन रूप से प्रयास नहीं करते, प्राकृतिक नियम उन्हें अपने-आप ध्येय की प्राप्ति करा देते हैं। किन्तु इस विरोध के होने पर भी सुखवादियों ने कर्तव्य के सापेक्ष और व्यावहारिक महत्त्व को समझाने का प्रयास किया। उसकी उत्पत्ति और आवश्यकता को समझाया। बैंथम के अनुसार चार बाह्य आदेश हैं जिनके कारण मनुष्य कर्तव्य करने के लिए बाधित होता है। मिल, स्पैंसर और वेन (Bain) ने आन्तरिक आदेश को प्रमुखता दी। कर्मों की उपयोगिता का अन्तर्बोध ही आदेश देता है, जो उनके अनुसार आन्तरिक आदेश है। स्पैंसर ने उसे यह कहकर समझाया कि विकास के क्रम में मनुष्य उस नियम को अपना लेता है अथवा उसका स्वेच्छा से पालन करता है जो प्रारम्भ में उसे वातावरण, परिस्थिति एवं समाज द्वारा दिया गया था अर्थात् बाह्य नियम कालक्रम में आन्तरिक नियम प्रतीत होता है। सुखवाद इस प्रकार कर्तव्य के मूल कारण को नहीं समझ सकता है। उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर वह कर्तव्य को न्यायसम्मत तथा शाश्वत नहीं ठहरा सकता है। कर्तव्य एक व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति करता है। वह अपने-आप में मूल्यरहित है। जिस भावना ने कर्तव्य की धारणा को जन्म दिया है वह आत्मगत और परिवर्तनशील है। वह कर्तव्य को उस परम आदेश के रूप में आरोपित नहीं

कर सकती जो वस्तुगत और सार्वभौम है। सुखवाद के अनुसार कर्मों का प्रेरक कर्तव्य का विचार नहीं है। यहाँ तक कि यदि किसी अन्य प्रेरणा से प्रेरित होकर कर्म किये जाएँ और उसका कर्तव्य की भावना से विरोध नहीं है तो वह कर्म उचित है। "वह व्यक्ति, जो दूसरों को डूबने से बचाता है, नैतिक रूप से उचित कर्म करता है। उसका ध्येय कर्तव्य करना है अथवा उस कर्म के लिए पुरस्कृत होना, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है।" सुखवादी सिद्धान्त मानव-चेतना के सम्मुख एक अत्यन्त तुच्छ आदर्श रखता है। वह यह न कहकर कि मनुष्य का क्या कर्तव्य है और वह संस्कृति और सभ्यता के किस गौरव-शिखर तक पहुँच सकता है, यह वतलाता है कि स्वार्थपूर्ण ध्येय की पूर्ति के लिए व्यावसायिक बुद्धि किस चाणक्य-नीति को अपनाती है। उसके अनुसार कर्तव्य लाभप्रद साधनों का सूचक है। व्यावसायिक बुद्धि का नाम सद्गुण है। नैतिकता आत्मस्वार्थ का प्रतिनिधित्व करती है। नैतिक चेतना सुख की वह भावना है जो सदैव लाभप्रद और उपयोगी नियमों को चुनती है। शुभ और अशुभ का भेद सापेक्ष है। व्यावसायिक बुद्धि की योग्यता और अयोग्यता ही शुभ-अशुभ को निर्धारित करती है। नैतिकता का तत्त्वार्थ यह है कि शुभ और अशुभ का भेद सिद्धान्त का भेद है। सुखवाद नैतिकता को समझाने के वदले उस प्रश्न से ही कतरा जाता है। वह मनुष्य की स्वस्थ नैतिक चेतना को नहीं समझा पाता। यह सत्य है कि योग्य प्रबुद्ध व्यक्तियों ने उसे सिद्ध करने का प्रयास किया, किन्तु फिर भी यह सिद्धान्त अपने वास्तविक रूप में सरल शुद्ध सद्विचारों को मर्मांतक पीड़ा पहुँचाता है।

सुखवादी गणना असम्भव—बैंथम ने 'नैतिक गणित' को स्वीकार करके यह समझाया कि अशुभ कर्म नैतिक गणित की भूल के सूचक हैं। उसका यह विश्वास था कि सुख को तौल सकते हैं। उसका निश्चित और समान रूप से प्रत्येक में वितरण किया जा सकता है। उपयोगितावदियों के अनुसार सुख उस भावनात्मक मुद्रा के समान है जिसकी गणना की जा सकती है और जिसका अंशों एवं भागों में वितरण सम्भव है, अर्थात् उनके अनुसार सुख का मूल्य निरपेक्ष और व्यति की रुचि से स्वतन्त्र है। उनकी यह 'नैतिक गणना' भ्रान्तिपूर्ण है।

सुख उन रुपयों-पैसों की भाँति नहीं है जिनका कि हिसाब रखा जा सकता है, जिनकी कि निरपेक्ष गणना सम्भव है। सुख भावनामात्र है। यह भावना सापेक्ष और आत्मगत है। इसका कोई वस्तुपरक आधार नहीं है। यह विभिन्न मानसिक और भौतिक स्थितियों की सूचक है और परिस्थिति, मनोदशा तथा स्वभाव पर निर्भर है। एक ही वस्तु एक ही व्यक्ति के लिए दो भिन्न परिस्थितियों के अनुरूप सुखप्रद और दुःखप्रद हो सकती है। सुख का अपनी उत्पादक वस्तु से तथा व्यक्ति की रुचि से अनिवार्य सम्बन्ध है। सुख को जोड़ नहीं सकते हैं। उसका परिमाणात्मक मूल्य आँकना अव्यावहारिक है। मिल ने गुणात्मक भेद को मानकर एक नई कठिनाई उत्पन्न कर दी। गुणों की तुलना राशियों से करना तब तक संगत नहीं है जब तक कि किसी भाँति उनको राशियों में परिणत न किया जा सके। मिल गुण और राशि दोनों को ही मानता है, किन्तु बालू के ढेर की तुलना सोने के कण से करना सम्भव नहीं है। गुण के साथ ही परिमाण या राशि को महत्त्व देना अव्यावहारिक और अवास्तविक है। सर्वोत्तम गुण की इच्छा सुख की इच्छा नहीं है। यह अप्रत्यक्ष रूप से नये मापदण्ड को मानना है।

१२
सुखवाद (परिशेष)

सहजज्ञानवादी उपयोगितावाद

सिजविक—हेनरी सिजविक[१] ने सहजज्ञानवादी उपयोगितावाद[२] का प्रतिपादन किया। उन्होंने सहजविश्वास के आधार पर कुछ भी स्वीकार नहीं किया। प्रत्येक सत्य को स्वीकार करने के पूर्व अपनी गूढ़ और गहन विश्लेषण-शक्ति द्वारा उसके सब पक्षों को समझने का प्रयास किया। यही कारण है कि मिल से प्रभावित होने पर भी उन्होंने उसे पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया वरन् मिल के उपयोगितावाद का सहजज्ञानवाद के साथ समन्वय किया।

नैतिक सिद्धान्त का लक्ष्य—सिजविक के अनुसार नैतिक सिद्धान्त उस बौद्धिक प्रणाली को अपनाता है जिसके द्वारा यह निर्धारित किया जाता है कि प्रत्येक मनुष्य को क्या करना चाहिए अथवा वह कौन-सा शुभ है जिसे मनुष्य स्वेच्छाकृत कर्मों द्वारा प्राप्त कर सकता है। नैतिक आदर्श काल्पनिक नहीं, वास्तविक जीवन पर आधारित है। 'नैतिक चाहिए' का स्वरूप 'क्या है' पर निर्भर है। उसके लिए जीवन की वास्तविक घटनाओं का अध्ययन आवश्यक है। इसी से ज्ञात हो सकता है कि मनुष्य की सम्भावनाएँ और सीमाएँ क्या हैं; वह किस ध्येय की प्राप्ति करना चाहता है; उसकी प्राप्ति के लिए किस साधन का उपयोग किया जा सकता है; कौन-सा आचरण शुभ है, इत्यादि। आचरण के औचित्य और अनौचित्य के बारे में जो नैतिक नियम और बौद्धिक निदेश

---

१. Henry Sidgwick, 1838-1900.

२. Intuitional utilitarianism.

(precept) मिलते हैं उनकी सत्यता की खोज और जाँच करनी चाहिए। संक्षेप में नैतिक आदर्श की स्थापना के लिए मानव-जीवन एवं मानव-स्वभाव का सर्वाङ्गीण ज्ञान अनिवार्य है। उसी ध्येय को 'आदर्श' मान सकते हैं जा प्रयास द्वारा प्राप्त हो सकता है और उसी नियम को नैतिक कह सकते हैं जो इस दृष्टि (व्यावहारिक) से उपयोगी हो।

आलोचनात्मक पक्ष : सहजज्ञानवाद और सुखवाद का समन्वय—सिजविक अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन मिल, कांट और बटलर के सिद्धान्तों की विशेषताओं और दुर्बलताओं को दिखाते हुए करता है। उसकी नैतिक आदर्श की व्याख्या सुखवाद (उपयोगितावाद) और सहजज्ञानवाद में समन्वय की अपेक्षा रखती है। सिजविक उस सिद्धान्त को सहजज्ञानवाद कहता है जिसके अनुसार वह आचरण शुभ है जो कर्तव्य के उन निदेशों के अनुरूप है जिनकी निरपेक्ष अनिवार्यता (unconditionally binding) सहजज्ञान द्वारा सिद्ध होती है। इस सिद्धान्त के आधार पर परमशुभ की धारणा उचित आचरण को निर्धारित करनें के लिए अनिवार्य रूप से महत्त्व नहीं रखती। उसकी महत्ता इस पर निर्भर है कि उचित आचरण ही मनुष्य का परमशुभ है। वह चरित्र की पूर्णता है। सिजविक यह मानता है कि सहजज्ञानवाद कर्तव्यरत आचरण (वह कर्म जो कर्तव्य के निदेशों के अनुरूप हो) को महत्त्व देता है, न कि परम-शुभ को। वह इस तथ्य को व्यापक रूप देता है कि परमशुभ की पूर्णधारणा अथवा मानव-कल्याण, कर्तव्य और सुख दोनों की भावना का समावेश करता है। कर्म करने के लिए जब व्यक्ति प्रेरित होता है तो केवल उसके सम्मुख नैतिक विचार ही नहीं रहता, किन्तु उसकी इच्छाएँ और प्रवृत्तियाँ भी उसे कर्मरत करती हैं। सिजविक मानव-जीवन के व्यापक अध्ययन की दुहाई देकर स्वार्थ और परमार्थ, सुखवाद और सहजज्ञानवाद में सामंजस्य स्थापित करता है। स्थूल दृष्टि से लगता है कि ये दोनों दो भिन्न दृष्टिकोण हैं, पर वास्तव में परमशुभ की धारणा इन दोनों के विना अपूर्ण है। "मुझे सहजज्ञानवाद और उपयोगितावाद में कोई विरोध नहीं दीखा···मुझे ऐसा लगा कि मिल और बैंथम के उपयोगितावाद को एक आधार की आवश्यकता है और यह आधार उसे

केवल मूलगत सहजज्ञानवाद से प्राप्त हो सकता है। दूसरी ओर जब मैंने सामान्य बुद्धि-सुलभ नैतिकता (morality of common sense) का यथा-शक्ति पूर्ण निरीक्षण किया तो मुझे उन नियमों के अतिरिक्त अन्य कोई स्पष्ट और स्वतःसिद्ध नियम नहीं मिले जिनकी कि उपयोगितावाद के साथ पूर्ण संगति हो।"[१] सिजविक यह समझाने का प्रयास करता है कि उपयोगितावाद और सहजज्ञानवाद एक-दूसरे से अलग होकर, अपने-आप में अपूर्ण हैं। इस अपूर्णता को समझाने एवं दोनों के समन्वय की स्थापना करने के लिए वे मिल, कांट और बटलर के सिद्धान्त के आंशिक सत्यों को लक्षित करते हैं। उन्होंने यह स्वीकार करते हुए कि सुख ही एकमात्र ध्येय है, सुखवादियों के विरुद्ध घोषित किया कि मनुष्य स्वभाववश सदैव सुख की खोज नहीं करता। मनुष्य को सुख की खोज करनी चाहिए, यह विवेक-सम्मत है। इस प्रकार उन्होंने सुखवाद को मनोवैज्ञानिक आधार के बदले बौद्धिक आधार दिया। अथवा मनोवैज्ञानिक सुखवाद का खण्डन कर नैतिक सुखवाद एवं उपयोगितावाद को स्वीकार किया। मिल ने सैद्धान्तिक रूप से सुखवादी मनोविज्ञान को उचित बतलाया; किन्तु जब वह व्यावहारिक पक्ष पर पहुंचा तो उसने सामाजिक आचरण (परार्थ) को महत्त्व दिया। सहानुभूति द्वारा कर्तव्य और आत्म-स्वार्थ में ऐक्य स्थापित किया। सिजविक व्यापक सहानुभूतिपूर्ण कर्मों की महत्ता को स्वीकार करते हैं। किन्तु मिल के विरुद्ध कहते हैं कि विरले ही व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जो अपने परिवार और प्रिय जनों के आगे मानव-समाज की चिन्ता करेंगे। मिल सुख की इच्छा का विचार-साहचर्य द्वारा 'सद्गुण के प्रति निःस्वार्थ प्रेम' में परिवर्तन मान लेता है। मिल ने जिस प्रकार कर्तव्य और स्वार्थ के विरोध को दूर किया उसे सिजविक दार्शनिक रूप से सन्तोषप्रद नहीं मानता। सिजविक कहता है कि मिल ने मनोवैज्ञानिक सुखवाद (प्रत्येक व्यक्ति अपना सुख खोजता है) और नैतिक सुखवाद (प्रत्येक व्यक्ति को जन-सामान्य का सुख खोजना चाहिए) दोनों को ही स्वीकार कर एक आकर्षक किन्तु असंगतिपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उपर्युक्त दोनों 'वाद'

---

१. Sidgwick : The Methods of Ethics Preface, pp. XX-XXI.

परस्पर-विरोधी हैं। एक आत्मसुख का पोषक है तो दूसरा आत्मत्याग का (विशेषकर जिस रूप को मिल ने स्वीकार किया है)। स्वार्थ और परमार्थ के प्रश्न को बैंथम सांसारिक अनुभव के नाम पर सुलझाता है और मिल आत्मत्याग के गुणगान द्वारा अथवा गौरव-बोध और विचार-सहयोग द्वारा। यह समाधान सिजविक से अनुसार अत्यन्त छिछला, अपर्याप्त और महत्त्वहीन है। कर्मों को समझने के लिए केवल अनुभव ही पर्याप्त नहीं है। उसे सामान्यबोध (common sense) से संयुक्त करना भी अनिवार्य है। अकेला अनुभव अथवा प्रयोगज्ञान अकसर ठीक नहीं होता है। उसे उचित और निश्चित ज्ञान की ओर ले जाने के लिए सामान्य बोध की कसौटी पर कसना होता है। अनुभव-मात्र पर आधारित सुखवादी गणना व्यर्थ है। उपयोगितावाद की असंगतियों और असामंजस्य को दूर करने के लिए सिजविक उसे नैतिक सहजज्ञान से सम्बद्ध करते हैं। सहजज्ञान की खोज में वे कांट के नैतिक दर्शन से प्रभावित होकर उसके मूलगत नीतिवाक्य (उस सिद्धान्त के अनुसार कर्म करो जिसके बारे में तुम यह भी इच्छा कर सको कि वह एक सार्वभौम नियम बन जाए) की सत्यता और महत्त्व को स्वीकार कर लेते हैं। उनके अनुसार यह एक ऐसा नीतिवाक्य है जिसका कि बुद्धि अनुमोदन करती है। प्रश्न यह उठता है कि इसके आधार पर वास्तविक जीवन में जो स्वार्थ और कर्तव्य के बीच द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है उसे कैसे सुलझाया जा सकता है? इसमें सन्देह नहीं कि विश्व के दृष्टिकोण से अल्प सुख की तुलना में अधिक सुख विवेक-सम्मत है, चाहे अल्प सुख व्यक्ति का सुख क्यों न हो। किन्तु विवेक यह भी बतलाता है कि व्यक्ति को अपने सुख का वरण करना चाहिए। अर्थात् आत्म-त्याग और आत्म-स्नेह दोनों ही विचारसंगत हैं। इस निष्कर्ष पर पहुंचने के साथ ही सिजविक बटलर, कांट और मिल से दूर पहुंच जाते हैं। अपने उस कथन की पुष्टि करने के अभिप्राय से वे बटलर के सिद्धान्त पर पुनर्विचार कर उस परिणाम पर पहुंचते हैं कि बटलर के अन्तर्बोध में उनका सिद्धान्त ध्वनित होता है। बटलर के अनुसार चिन्तन, मनन एवं अन्तरावलोकन बतलाता है कि अन्तर्बोध का आदेश परम आदेश है। सिजविक अन्तर्बोध के आदेश को बुद्धि का आदेश

कहकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि वे अन्तर्बोध, उपयोगितावाद और विचार-संगत बौद्धिक आत्म-प्रेम (Rational self-love) में सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं। वे बटलर के सिद्धान्त से उन अंशों को खोजते हैं जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से आत्म-प्रेम का अनुमोदन करें। बटलर एक स्थल पर कहते हैं, "स्वार्थ, मेरा अपना सुख, स्पष्ट कर्तव्य है।" उसे ही बटलर वौद्धिक आत्म-प्रेम कहते हैं। किन्तु वे आत्म-प्रेम तथा अन्तर्बोध में विरोध मानते हैं और कहते हैं कि वह 'शासनकर्त्री शक्ति का द्वैत' (Dualism of Governing Faculty) है। सिजविक उसे 'व्यावहारिक बुद्धि का द्वैत' (Dualism of the Practical Reason) कहते हैं। उनके अनुसार वही आदेश मानने योग्य है जो वौद्धिक है। बटलर से प्रभावित होकर वे कहते हैं कि मनुष्य के कर्म उन नि:स्वार्थ (disinterested) तथा अन्य-सम्बन्धी (extra-regarding) प्रवृत्तियों से भी प्रेरित होते हैं जिनका वैयक्तिक सुख से कोई सम्बन्ध नहीं। यहाँ पर वे वास्तव में मिल के सिद्धान्त के मनोवैज्ञानिक आधार को छोड़ देते हैं। वे मनोवैज्ञानिक सुखवाद को दोषपूर्ण वतलाकर यह कहते हैं कि यदि सुख के प्रति आवेग अत्यन्त प्रवल है तो वह अपने ध्येय को प्राप्त नहीं कर सकता। उनके अनुसार सुख इच्छा का स्वाभाविक विषय नहीं है, वह उचित विषय है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद आपस में विरोधपूर्ण हैं। यदि मनोवैज्ञानिक सुखवाद यह कहता है कि मेरे लिए अपने अधिकतम सुख के अतिरिक्त किसी अन्य विषय को लक्ष्य (जैसे अधिकतम संख्या का सुख) वनाना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असम्भव है तो उस असम्भव विषय को कर्तव्य वतलाना भ्रान्तिपूर्ण है। वही कर्म नैतिक कर्तव्य के अन्तर्गत आ सकते हैं जिनको करना व्यक्ति के लिए सम्भव है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद वह सिद्धान्त है जो अन्य सब विरोधी नैतिक सिद्धान्तों का खण्डन करता है। अत: उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह कहना कि 'अपने अधिकतम सुख की खोज करना व्यक्ति का कर्तव्य है' तभी युक्तिसंगत हो सकता है जबकि उसके लिए मनोवैज्ञानिक रूप से अन्य विषयों की खोज करना भी सम्भव हो, अन्यथा उपर्युक्त कथन व्यर्थ है। कर्तव्य के स्वरूप को समझाने के लिए यह समझाना

आवश्यक है कि एकमात्र सुख की प्रेरणा से व्यक्ति कर्म नहीं करता। प्रेरणाएँ कई हैं। उचित प्रेरणा (कर्तव्य) का अन्य प्रेरणाओं से विरोध होने पर भी व्यक्ति उसे चुनता है, उसके अनुकूल कर्म करता है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद नैतिक स्वार्थ-सुखवाद (हॉब्स) की स्थापना तक नहीं कर सकता। यदि प्रत्येक क्षण व्यक्ति अधिक सुख की चिन्ता करे तो वह अपने ही अधिकतम सुख का नाश करेगा। सुख-प्राप्ति की तीव्र इच्छा के कारण वह उस सुख से संयुक्त परिणामों को नहीं समझ पायेगा और शीघ्रता के कारण उस तात्कालिक सुख का वरण कर लेगा जो कि क्षणिक और निकट है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद को त्याज्य घोषित करके तथा नैतिक सुखवाद को मानते हुए सिजविक सहजज्ञान-वादी उपयोगितावाद की स्थापना करते हैं। वे इस मनोवैज्ञानिक सत्य को मानते हैं कि मनुष्य के कर्म निःस्वार्थ प्रवृत्तियों द्वारा भी प्रेरित होते हैं। उदाहरणार्थ, परोपकार (benevolence) निःस्वार्थ प्रवृत्ति है। मनुष्य में दूसरों के सुख के लिए कर्म करने की इच्छा है। उसको सन्तुष्ट करने के लिए वह अपने स्वार्थ का निराकरण करना अपना कर्तव्य मानता है। मनुष्य में उचित और विवेक-सम्मत कर्म करने की इच्छा होती है। यह इच्छा बटलर के अन्तर्बोध के आदेश अथवा कांट के नैतिक नियम के प्रति आदर की धारणा के समान है। इस सत्य का ज्ञान सिजविक के सिद्धान्त को बटलर के सिद्धान्त से युक्त कर देता है। मूलगत नैतिक सहजज्ञान सामान्य सुख की वृद्धि को सर्वोच्च आदर्श के रूप में समझा सकता है। उसे अनुभव के आधार पर नहीं समझाया जा सकता। हेनरी मूर[1] और क्लार्क[2] के सिद्धान्त में सिजविक को यह स्वतःसिद्ध वाक्य मिला कि "बौद्धिक प्राणी सार्वभौम सुख को लक्ष्य मानने के लिए बाध्य है।" किन्तु प्रश्न यह है कि सहजज्ञान के नियमों के विधान को कैसे समझा जा सकता है? वह कैसे बोधगम्य होता है? सर्वसामान्य की चेतना द्वारा प्राप्त अन्तर्बोध को स्वीकार करना दार्शनिक दृष्टि में उचित नहीं है। सहजज्ञान के विधान को अन्तर्बोध नहीं समझा जा सकता है। उसको

१. Henry More.
२. Clarke.

समझने के लिए यह आवश्यक है कि सामान्यवोध की नैतिकता के नियम की तुलना द्वारा तथा बौधिक चिन्तन द्वारा संगतिपूर्ण विधान वना लिया जाय। उन नियमों को स्वीकृत कर लिया जाय जो स्पष्ट, संगतिपूर्ण और अधिकांश व्यक्तियों द्वारा स्वीकृत हों। इस प्रकार सामान्यबोध की नैतिकता के निष्पक्ष परीक्षण द्वारा उसे ज्ञात हुआ कि सामान्यवोध की नैतिकता उन नियमों का निर्माण करती है जो सामान्य सुख की वृद्धि करते हैं। ऐसे सहज निर्णय अनायास ही यह सिद्ध करते हैं कि मानस में कुछ परम नैतिक सत्य हैं। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपयोगितावाद और सहजज्ञानवाद में विरोध नहीं है किन्तु स्वार्थ और कर्तव्य में अवश्य विरोध है। उस विरोध को यह मानकर दूर किया जा सकता है कि विश्व का विधान नैतिक है (कांट और बटलर) और स्वार्थ तथा परमार्थ दोनों के ही लिए विधान में समान स्थान है।

बौद्धिक उपयोगितावाद : दार्शनिक सहजज्ञानवाद—सुखवादियों ने परम-शुभ के स्वरूप को समझाने का प्रयास किया। उसको भावना के रूप में समझाया। उनके अनुसार जीवन का चरम ध्येय बौद्धिक या विवेक-सम्मत नहीं है, वह इन्द्रियशुभ है। वह शुभ चाहे व्यक्ति का हो अथवा समाज का, अपने मूल रूप में वह भावनात्मक है। मिल और बैंथम ने स्वार्थ और परमार्थ में सामंजस्य स्थापित करना चाहा। विकासवादियों ने सहानुभूति और विकास के नियम द्वारा उस कठिनाई को हल करना चाहा। सिजविक यह कहते हैं कि भावना द्वारा उस द्वन्द्व को दूर नहीं किया जा सकता। बुद्धि द्वारा ही उस विरोध की निवृत्ति हो सकती है। वे उपयोगितावाद को बौद्धिक आधार देकर स्वार्थ और परमार्थ के विरोध को दूर करते हैं। बुद्धि व्यवस्थापक तत्त्व (regulative principle) है। वह शुभ का वितरण करती है। पूर्व के उपयोगितावादियों की भाँति सिजविक ने सहानुभूति, विचार-साहचर्य आदि की शरण लेकर मनोवैज्ञानिक प्रमाण नहीं दिए, किन्तु तार्किक प्रमाण दिए। वे प्रमाण कहाँ तक सफल हैं इसे सिजविक के सिद्धान्त का अध्ययन ही बतलायेगा। मिल और बैंथम के सिद्धान्त की तुलना में सिजविक का सिद्धान्त बौद्धिक उपयोगितावाद

(Rational Utilitarianism) का पोषक है। उपयोगितावाद को बौद्धिक आधार देने के प्रयास में उन्होंने उसे सहजज्ञानवाद से संयुक्त किया।

सुख ही परमशुभ है—दार्शनिक सहजज्ञानवादी उपयोगितावाद के आधार पर सिजविक यह मानता है कि वांछनीय चेतना (Desirable consciousness) ही परमशुभ है। वांछनीय चेतना के द्वारा वह सामान्य शुभ या सामान्य सुख को महत्त्व देता है। अपने उस कथन की पुष्टि में वह कहता है कि यदि शान्तिपूर्वक विचार करें तो मालूम होगा कि उन आदर्शों का मूल्य, जिन्हें अधिकांश व्यक्ति महत्त्व देते हैं, सापेक्ष है। उन्हें महत्त्व इसलिए नहीं दिया जाता कि वे अपने-आपमें शुभ हैं वरन् इसलिए कि वे भावजीवी प्राणी (Sentient being) के सुख का किसी-न-किसी रूप में उत्पादन करते हैं। अधिकतर यह समझा जाता है कि चेतना की कुछ स्थितियाँ—सत्य का बोध, सौन्दर्य की भावना, स्वतन्त्रता या सद्‌गुण की प्राप्ति का संकल्प—अपने-आप में वांछनीय है, किन्तु वास्तविकता यह है कि ज्ञान, सौन्दर्य, सद्‌गुण, सत्य, स्वतन्त्रता आदि सुख की प्राप्ति के लिए साधनमात्र है। वह अपने-आप में वांछनीय नहीं है।

सार्वभौम सुख अनन्त भावजीवी प्राणियों की वांछनीय चेतना या भावना को अपनी व्यापकता, महत्ता और स्थिरता के कारण अनायास ही आकृष्ट करता है। अपनी विशालता के कारण वह कल्पना को पूर्ण तृप्त करता है। उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सार्वभौम सुख वैयक्तिक सुख का निराकरण करता है। बुद्धि बताती है कि व्यक्ति—जो विश्व का एक अंग होते हुए भी अपना निजत्व रखता है—का अपना सुख उसका चरम ध्येय है। साथ ही वह अनन्त भावजीवियों के सुख का निराकरण नहीं कर सकता है क्योंकि विश्व में वही एकमात्र भावजीवी नहीं है। अतः उसके लिए वास्तविक रूप से विवेकसम्मत यह है कि वह अपने सुख का दूसरों के अधिकतम सुख के लिए त्याग करे। जीवन का ध्येय एक ही है और वह सुख है। किन्तु बुद्धि बतलाती है कि उस सुख को वैयक्तिक दृष्टिकोण और समष्टि के दृष्टिकोण से समझना चाहिए। उन दोनों में भेद नहीं है। दोनों ही समान रूप से विवेकसम्मत हैं।

अत: सिजविक कहते हैं कि भावजीवियों के परमशुभ की व्यवस्थित संगतिपूर्ण व्याख्या यही कह कर दी जा सकती है कि सार्वभौम सुख ही सामान्य ध्येय है।

सुख-वितरण की समस्या : न्याय, आत्मप्रेम, परोपकारिता—जीवन का ध्येय भावनात्मक ध्येय एवं सुख है। सुख शुभ है। व्यक्तियों के शुभ का ज्ञान बतलाता है कि वह समष्टि का सार्वभौम शुभ (Total or Universal Good) है। व्यक्ति और उसके अनुभव उस शुभ के निर्माणात्मक अंग हैं। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह शुभ की परम संख्या तक वृद्धि करे। उसके लिए उन नियमों के पालन करने की आवश्यकता है जो अधिकतम परिमाण में सार्वभौम शुभ के उत्पादन में सहायक हों। सिजविक यहाँ पर उन नियमों की ओर से सावधान करते हैं जो कि सर्वसामान्य के बोध का समर्थन पाने के कारण प्राय: नैतिक लगते हैं। स्वत:सिद्ध नैतिक नियमों के विधान को समझने के लिए दार्शनिक सहजज्ञान आवश्यक है। सिजविक कहते हैं कि जब अत्यन्त स्पष्ट और निश्चित सहजलब्ध नैतिक नियमों पर चिन्तन करता हूँ तब मुझे जितने स्पष्ट और निश्चित रेखागणित या गणित के स्वत:सिद्ध वाक्य लगते हैं उतने ही स्पष्ट और निश्चित; नि:स्संदेह, यह भी लगता है कि मेरे लिए यह उचित और बौद्धिक है कि मैं दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करूँ जैसा कि मैं समान परिस्थिति में सोचता हूँ कि मेरे प्रति होना चाहिए, और मुझे वही करना चाहिए जो सार्वभौम शुभ या सुख का उत्पादन करे। यह सिजविक को न्याय या समानता का स्वत:सिद्ध सिद्धान्त (The axiom of Justice or Equality) देता है। न्याय का अर्थ केवल नियम के अनुसार कर्म करना नहीं है। वह उससे भी व्यापक तथा समानता का पोषक है। न्याय अन्ध-समानता में विश्वास नहीं करता। उसकी समानता निष्पक्षता की सूचक है। न्याय का सिद्धान्त बताता है कि व्यक्ति समान हैं और एक ही वर्ग की समग्रता के अंग हैं। व्यक्ति का सम्पूर्ण शुभ उस वर्ग की समग्रता के शुभ को प्रस्तुत करता है। न्याय बताता है कि व्यक्ति अथवा जाति के सम्पूर्ण सुख अथवा अधिकतम सुख को अपना लक्ष्य बनाना चहिए तथा जीवन के सब क्षणों को समान महत्त्व देना चाहिए। सिजविक में दूसरा नीतिवाक्य बौद्धिक आत्मप्रेम या व्यावहारिक

विवेक (Rational Self-love or Prudence) का मिलता है। इसके अनुसार व्यक्ति को अपने शुभ को ध्येय वानना चाहिए। व्यक्ति को अपने चेतन जीवन में सव ग्रंगों को निष्पक्ष रूप से समान महत्त्व देना चाहिए। आगामी प्रत्येक क्षण को उतना ही महत्त्व देना चाहिए जितना कि वह वर्तमान को देता है। क्षुद्र वर्तमान सुख को भविष्य के अधिक सुख के वदले नहीं चुनंना चाहिए और न निश्चित वर्तमान सुख को अनिश्चित भविष्य के सुख के लिए ही छोड़ना चाहिए। सुख को चुनते समय भली-भाँति हित-अहित को समझ लेना चाहिए। अपने जीवन के कार्य-कलापों को निष्पक्ष रूप से समझना, अपना सुख चुनते समय वर्तमान और भविष्य के सुखों को वरावर मूल्यवान् मानना यह बौद्धिक आत्म-प्रेम का सन्देश है। यदि सिरेनैक्स के सिद्धान्त को स्वीकार करें तो भावना वर्तमान जीवन को ही सव-कुछ मानती है, किन्तु सिजविक के अनुसार जीवन में वुद्धि के स्थान को नहीं भूलना चाहिए। वुद्धि ही जीवन में सुख का उचित वितरण करती है। व्यक्ति को समस्त जीवन के सुख अथवा पूर्ण शुभ की खोज करनी चाहिए। जव हम व्यक्ति के पूर्ण शुभ के वारे में सोचते हैं तो हमें तीसरा नीतिवाक्य मिलता है। यह बौद्धिक परोपकारिता का स्वतःसिद्ध कथन (The axiom of Rational Benevolence) है। व्यक्तियों के शुभ की तुलना और उनका जोड़ 'सार्वभौम शुभ' की धारणा को देता है। समग्रता और उसके अंशों का सम्वन्ध यह वतलाता है कि विश्व के दृष्टिकोण से किसी एक व्यक्ति का सुख वैसा ही है जैसा कि किसी अन्य व्यक्ति का। अन्य व्यक्तियों की तुलना में किसी व्यक्ति के सुख को तभी महत्त्व दे सकते हैं जवकि उससे अधिक सुख प्राप्त होने के असाधारण कारण हों। वुद्धि वतलाती है कि व्यक्ति के जीवन का ध्येय उसका अपना ही सुख नहीं है वरन् सामान्य सुख है। वुद्धि स्वार्थ और परमार्थ को युक्त करती है। सिजविक मिल की भाँति उपयोगितावाद का मनोवैज्ञानिक प्रमाण नहीं देते, तार्किक प्रमाण देते हैं। वुद्धि के लिए प्रत्येक व्यक्ति भावजीवी है। प्रत्येक को सुख भोगने का अधिकार है। वुद्धि के सम्मुख 'मेरा-तेरा' का भेद नहीं है। प्रत्येक सार्वभौम शुभ का अंग है। उसके सुख का उतना ही महत्त्व है जितना कि किसी दूसरे अंग का। वैयक्तिक और

सामाजिक सुख दोनों की समान रूप से वृद्धि की आवश्यकता है। वुद्धि वतलाती है कि व्यक्ति का सुख उसके लिए प्रमुख रूप से शुभ है। इससे यह उपलक्षित होता है कि दूसरों का शुभ भी समान महत्त्व का है।

सहजज्ञानवादी उपयोगितावाद के साथ सुखवाद की आलोचना

सिजविक के सिद्धान्त का मूल्य—सिजविक के सिद्धान्त में नैतिक निष्ठा मिलती है। वे मुक्त हृदय से सच्चे नैतिक नियमों को समझाने के लिए उद्यत हैं, जिनके लिए उन्होंने गम्भीर आलोचनात्मक पद्धति को अपनाया है। उत्तर-प्रत्युत्तर द्वारा नैतिक प्रश्नों की गहराई और व्यापकता दोनों को ही समझना चाहा है। विभिन्न सिद्धान्तों का परीक्षण करके उन्होंने नैतिक सत्य को समझने की चेष्टा की है। अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय एक ओर तो वे कांट के निष्पक्षता (समानता) के सिद्धान्त से प्रभावित हुए हैं, दूसरी ओर बटलर के आत्मप्रेम और तीसरी ओर उपयोगितावाद से। इन तत्त्वों को एकता के साँचे में ढालने के लिए उन्होंने सामान्यबोध को सहजज्ञानवाद की कसौटी पर कसा। महद् दार्शनिक चिन्तन की तूलिका को इस मिश्रित रंग में डुबोकर उन्होंने जिस नैतिक सत्य का चित्र वनाया है वह अपनी सर्वग्राही प्रवृत्ति के कारण अपना सन्तुलन खो बैठा है। इसमें संदेह नहीं कि सिजविक का सिद्धान्त पूर्ववर्ती नैतिक सिद्धान्तों से अधिक व्यवस्थित, व्यापक तथा गूढ़ है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि जिस गम्भीर सतर्कता के साथ तथा नैतिक पूर्वग्रहों से मुक्त होकर, वे अपने दर्शन का प्रारम्भ करते हैं और उसके विभिन्न विषयों और सूक्ष्मतम पहलुओं को उठाते हैं, अन्त में वे अपने विचारों के पारस्पपिक विरोधों के कारण पाठकों को उतना ही निराश भी कर देते हैं।

स्वार्थ-परमार्थ का अनमेल मिलाप—दार्शनिक सहजज्ञानवाद को मानने के कारण वे यह स्वीकार करते हैं कि नैतिकता का आधार बौद्धिक या अनुभव-निरपेक्ष निर्णय है। जहाँ तक व्यक्ति के नैतिक कर्म की प्रेरणा का सम्वन्ध है, सिजविक 'सहजज्ञानवादी' या 'वुद्धिवादी' हैं। वे सुखवादी वहीं तक हैं जहाँ तक कि

उनकी परम या सार्वभौम शुभ के स्वरूप की धारणा का प्रश्न है और तदनुसार ही उनके नैतिक मापदण्ड का दृष्टिकोण है।[1] वास्तव में उनका सिद्धान्त बुद्धिवाद और सुखवाद अथवा सहजज्ञानवाद और उपयोगितावाद का असंगतिपूर्ण मेल है। वह इन दोनों के विरोध को दूर नहीं कर पाया। सुखवाद और बुद्धिवाद की तार्किक अनुरूपता को सिद्ध करने के प्रयास में सिजविक असफल रहे। उनके सिद्धान्त की मूल कठिनाई का तब पता चलता है जब कर्तव्य की बौद्धिक धारणा (परमार्थ) और मनुष्य के वास्तविक शुभ (स्वार्थ) के सामंजस्य की व्यावहारिक कठिनाई उत्पन्न होती है। 'व्यावहारिक विवेक का द्वैत' स्वार्थ और परमार्थ के वृत्त में घूमता है। सुखवाद को मानने पर परोपकारिता के उच्च आदर्श को प्राप्त करना समतल भूमि में चक्कर लगाकर पर्वतशिखर पर आरूढ़ होने के समान असम्भव है।

सुख और आनन्द—सुखवादियों ने नैतिक ध्येय को सुख (Pleasure) और आनन्द (Happiness) शब्दों के द्वारा समझाया है। इन्हें वे पर्यायवाची मानते हैं। अरस्तू ने इस पर अच्छी तरह प्रकाश डाला है कि सुख और आनन्द एक नहीं हैं। उसने कहा कि इसमें मतभेद नहीं कि ध्येय आनन्द है; किन्तु आनन्द की परिभाषा में अवश्य मतभेद है। कुछ लोगों ने आनन्द की व्याख्या सुख के अर्थ में की है जो अनुचित है। सुख वह भावना है जो विशिष्ट इच्छाओं, सहजप्रवृत्तियों तथा आवेगों की सन्तुष्टि के साथ रहता है। "आनन्द वह भावना है जो उस बोध के साथ आता है जो कि क्षणिक इन्द्रिय-सुखों की पूर्ति के अतिरिक्त उनको सन्तुष्ट न कर सकने की असफलता अथवा अस्वीकृति के दु:ख के साथ होते हुए भी साधारणत: आत्मा की समग्रता की पूर्ति करता है।"[2] सब इच्छाओं की सामंजस्यपूर्ण प्राप्ति ही आनन्द है। वह आत्म-प्राप्ति (Self-realisation) की स्थिति है। इसे ही ग्रीन आत्म-सन्तोष (Self-satisfaction) की स्थिति कहता है। उसे प्राप्त करने के लिए व्यक्ति अधिकतम परिमाण के सुख के प्रति उदासीन होकर असह्य कष्ट उठाता है। आनन्द अपने

१. Rashdall—The Theory of Good & Evil, Vol. I, p. 53.
२. म्योरहेड, पृ० १०६.

आप में कल्याण (welfare) का सूचक है। यह कल्याण भावजीवी का कल्याण नहीं, सम्पूर्ण आत्मा का कल्याण है। सुखवादियों के अनुसार सुख भावनाओं और इच्छाओं की तृप्ति का सूचक है। इस अर्थ में वह क्षणिक और सापेक्ष है। उसका सम्बन्ध विशिष्ट कर्म से है। आनन्द समग्र सक्रिय आत्मा (Total active self) का कल्याण है। वह नित्य और सार्वभौम है। उसका ध्येय केवल भावनात्मक सुख नहीं, किन्तु बौद्धिक सुख भी है। वह सम्पूर्ण आत्मा एवं उस कर्मरत संकल्प-शक्ति का कल्याण है जो बुद्धि और भावना का योग है।

जीवन का ध्येय आत्मसन्तोष या आत्मकल्याण है। वह सुखद अवश्य है, किन्तु सुख नहीं है। सिजविक ने अन्य सुखवादियों की भाँति सुखद और सुख को एक ही ले लिया। वे मिल की उस भूल से अपने को मुक्त नहीं कर पाये जिसके कारण वह कहता है कि 'शुभ सुखद है इसलिए वह सुख है।' सिजविक अथवा अन्य सुखवादियों के विरुद्ध प्रश्न यह उठता है कि क्या सुख ही एकमात्र वांछनीय ध्येय है? क्या वस्तुओं का मूल्य इस पर निर्भर है कि वे सुख के उत्पादन में कितनी सहायक हैं? मनुष्य का वास्तविक स्वरूप क्या है? उस शुभ का क्या स्वरूप है जिसे प्राप्त करना उसके लिए उचित है? प्राचीन सुखवाद ने जीवन के ध्येय को समझना चाहा किन्तु अर्वाचीन सुखवाद ने उस ध्येय को स्वीकार करते हुए कर्तव्य के प्रश्न को भी उठाया। मूलतः दोनों का प्रश्न एक ही है। दोनों ने जानना चाहा कि जीवन में सुख का क्या स्थान है। वास्तव में चरम ध्येय का प्रश्न आत्मा का प्रश्न है। उस आत्मा का क्या स्वरूप है जिसकी पूर्णता और कल्याण के लिए प्रयास किया जाता है? शुभ का क्या स्वरूप है—बौद्धिक या भावनात्मक? सुखवादियों ने मनुष्य को भावजीवी मानते हुए सुख को शुभ कहा है। उन्होंने विभिन्न नियमों की, कर्मों के औचित्य-अनौचित्य की, कर्तव्य-अधिकार एवं मानव-जीवन के सम्पूर्ण कार्यकलापों की व्याख्या इसी आधार पर की है। इसमें संदेह नहीं कि परम ध्येय की ऐसी स्पष्ट स्वाभाविक व्याख्या प्रथम दृष्टि में आकर्षक लगती है। यही कारण है कि कई प्रबुद्ध विचारकों—पैले, बैंथम, मिल, स्पेंसर, सिजविक आदि—का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने सुख को पूर्ण

आधिपत्य देना चाहा। किन्तु आत्मा के भ्रान्तिपूर्ण मनोवैज्ञानिक ज्ञान को अपनाने के कारण एवं उसके गूढ़ दार्शनिक रूप को नहीं समझ सकने के कारण उनका सिद्धान्त खण्डनीय और असिद्ध हो गया। मिल और सिजविक के सिद्धान्त की असंगतियाँ उसका स्पष्ट प्रमाण हैं। सिजविक ने उसे बौद्धिक आधार देने का प्रयास किया किन्तु वह असफल रहे। वह उन भूलों से अपने को मुक्त नहीं कर पाये जो मूलगत सुखवाद ने की हैं। आत्मा सुखप्रद अनुभवों का समुदाय नहीं है। स्वार्थ और परमार्थ में व्यापक दृष्टि से कोई विरोध नहीं है। आत्मा का ही पूर्ण रूप विश्वात्मा है। आत्मा के सत्य-स्वरूप का ज्ञान पूर्णतावाद की स्थापना करता है। वह सुखवाद की संकीर्ण दीवार को तोड़ विश्ववाद में प्रवेश करता है। उसके अनुसार जीवन का ध्येय आत्म-पूर्णता है। आत्म-पूर्णता विश्वात्मा की प्राप्ति है। पूर्णतावादियों ने इस सत्य को माना है। आत्मा के सत्य स्वरूप को न समझ सकने के कारण ही सुखवादी व्यक्ति और समाज के अभिन्न सम्बन्ध को नहीं समझ पाये। उन्होंने स्वतः एक काल्पनिक रोग उत्पन्न किया और फिर उसका उपचार खोजना चाहा। सुखवाद के पोषक जितने भी विचारक हैं उन्होंने सबसे भयंकर भूल श्रेय (Good) और प्रेय (Pleasure) के सम्बन्ध में की है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रेय प्रेय अवश्य है किन्तु प्रेय श्रेय नहीं है। श्रेय प्रेय होने पर भी प्रेय से ऊँचा है। इन्द्रिय-सुख मात्र प्रेय के आधीन है। श्रेय प्रेय से अधिक उच्च और व्यापक है। वह परम शुभ है।

१३

विकासवादी सुखवाद : सामान्य परिचय

विकास की प्राकृतिक और आदर्शवादी व्याख्या—विकासवाद यह मानता है कि विकास उन्नति की एक क्रमिक श्रृंखला है, जिसमें आरम्भ, पद्धतिक्रम और अन्त मिलता है। विकसित होती हुई वस्तु का एक विशेष स्थिति से आरम्भ होता है। फिर वह विकास की अनेक जटिल स्थितियों से गुजरती है और इस भाँति अपनी अन्तिम स्थिति को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ती है। विकास का आरम्भ अतीत के गर्भ में छिपा हुआ है, अन्तिम स्थिति भविष्य में अदृश्य है, केवल पद्धतिक्रम (मध्य की स्थिति) को ही समझा जा सकता है। जीवन में सर्वत्र विकास मिलता है। वह एक विश्वव्यापी नियम है। नैतिक जीवन में भी विकास का क्रम मिलता है जिसे हम दो प्रकार से समझा सकते हैं; एक प्राकृतिक और दूसरा आदर्शवादी। डार्विन, स्पेंसर और उसके अनुयायियों ने विकास को प्राकृतिक ढंग से समझाना चाहा, इसके लिए उन्होंने ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया और नीतिशास्त्र को पूर्ण रूप से वैज्ञानिक आधार देने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि नैतिक जीवन को मानव-जाति के प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में ही समझ सकते हैं। नैतिक मान्यताएँ प्राकृतिक घटनाओं की भाँति पूर्व की घटनाओं से कार्य-कारण रूप से सम्बन्धित हैं। इसके विपरीत हीगल, ग्रीन, ब्रैडले, बोसेंके आदि ने कहा कि नैतिक जीवन को ध्येय या नैतिक आदर्श द्वारा समझाया जा सकता है। उन्होंने नीतिशास्त्र को आदर्श विधायक विज्ञान माना, उसे यथार्थ विज्ञान का रूप नहीं दिया।

नीतिशास्त्र को डार्विन की देन—उन्नीसवीं शताब्दी में लमार्क[1] तथा डार्विन[2] ने जीवयोनियों की उत्पत्ति को विकास द्वारा समझाया। डार्विन जड़वादी विचारक था, उसकी जीवशास्त्र में रुचि थी। जैव सिद्धान्तों को समझने के लिए उसने खोज की और उन प्राणिशास्त्रीय अनुसन्धानों को दो पुस्तकों के रूप में संकलित किया। उसने उन पुस्तकों[3] में जैव प्रश्नों की समीक्षात्मक विवेचना की और जानना चाहा कि जीवयोनियों में जो परिवर्तन मिलता है उसे कैसे समझा जा सकता है। उनके जन्म और वृद्धि को कौन नियम नियन्त्रित करते हैं। इन प्रश्नों के समाधान के रूप में ही उसने विकासवाद को वैज्ञानिक रूप से प्रमाणित किया। डार्विन ने विकास का प्रयोग बढ़ने या वृद्धि के अर्थ में किया। यह वृद्धि नवीन सृष्टि नहीं है, अकारण कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। वह उत्पत्ति का ही अनिवार्य परिणाम है। सरल आकारों की जटिल आकारों में परिणति ही विकास है। उदाहरणार्थ, अंकुर की वृक्ष के रूप में परिणति विकास है। डार्विन ने यह समझाया कि जीवयोनियों में परिवर्तन होते रहते हैं। वे स्थिर और अपरिवर्तनशील नहीं हैं। बहुत-सारी जीवयोनियाँ, जो आज भिन्न लगती हैं, वे एक ही मूल से उत्पन्न हुई हैं। उनके पूर्वज एक ही थे। आज जीवन्त जीवयोनियों के तथा वृक्षों, पशु-पक्षियों, मनुष्यों के रूप में जो आकार-प्रकार मिलते हैं वे प्रारम्भ के कम विकसित आकारों के जीवों का ही जटिल रूप हैं। क्रमविकास इन्हें एकरूपता (homogeneous) से अनेकरूपता (heterogeneous) की ओर ले जाता है। पहले न तो इतने अधिक वर्ग थे और न उनका रूप ही इतना जटिल था। वर्षों का जैव इतिहास बताता है कि मनुष्य का जनक मनुष्य नहीं है, वह क्रमशः एक प्रकार के बन्दर से विकसित हुआ है। उसकी एक जीवयोनि से दूसरी जीवयोनि में क्रमपरिणति हुई है। इतिहास यह भी बतलाता है कि विकास एक विश्वव्यापी नियम है। प्रश्न यह है कि विकास का नियम क्या है ? सरल

१. Lamark.
२. Charles Darwin, 1809-1882.
३. The Descent of Man (1861) The origin of species (1859).

आकार जटिल आकारों में कैसे परिणत होते हैं ? जीवयोनियों में इस परिवर्तन को कैसे समझाया जा सकता है ? डार्विन ने अपने विकासवाद में भौतिक परिस्थितियों और प्राकृतिक नियमों को महत्त्व दिया। वह जीवशास्त्री था। उसका उत्तर जड़वादी उत्तर था। उसने तत्त्वदर्शकों अथवा धार्मिक विचारकों की भांति ईश्वर, परमतत्त्व, जीवनी-शक्ति और विश्व-प्रयोजन को महत्त्व नहीं दिया। उसने प्राकृतिक नियमों का निरीक्षण तथा वृक्ष, पशु-पक्षियों के जीवन का अध्ययन करके उसके आधार पर क्रम-विकास को समझाया। डार्विन ने विकास के क्रम को 'प्राकृतिक चयन', जीवन-संघर्ष, परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन, योग्यतम की विजय और आनुवंशिकता द्वारा समझाया। उसका कहना है कि जीवयोनियों में परिवर्तन होते रहते हैं। उसका कारण यह है कि जीवित रहने के लिए उन्हें परिस्थितियों से संघर्ष करना पड़ता है। प्रत्येक प्राणी को जीवित रहने के लिए अपने परिवेश तथा अन्य प्राणियों के साथ संघर्ष करना पड़ता है। इसमें वही जीव बच पाते हैं जो वातावरण के अनुरूप अपने को बदल सकते हैं। 'अनुकूल परिवर्तन वाली जीवयोनियाँ सुरक्षित रहती हैं और प्रतिकूल वाली नष्ट हो जाती हैं।' अनुकूल परिवर्तन वाली योग्यतम जीवयोनियाँ जीवन-संघर्ष में जीवित रहती हैं और परिवर्तनों द्वारा नयी जातियों को भी उत्पन्न करती हैं। डार्विन वंशपरम्परा के शरीर-शास्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्त को मानता है। वह जातियों के गुण, स्वरूप और स्वभाव को निर्धारित करने के लिए आनुवंशिकता की सहायता लेता है। आनुवंशिकता के कारण ही पिता के जीवन-रक्षण के लिए उपयोगी अवयव और योग्यताएँ बच्चों में स्वतः प्रेषित हो जाती हैं। माता-पिता के मानस में जो बदलाव आते हैं उन्हें सन्तति आनुवंशिकता के रूप में ग्रहण करती है। इस भाँति वह सिद्ध करता है कि जीवन का विकास संघर्ष के रूप में होता है। प्राकृतिक चयन में योग्यतम जीवित रहते हैं और उन्हीं की वृद्धि होती है। वास्तव में देखा जाए तो इस सिद्धान्त का नीतिशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह प्राकृतिक नियम और घटनाओं का विश्लेषण कर उन पर तथ्यमूलक निर्णय देता है और दूसरी ओर नीतिशास्त्र जीवन के उद्देश्य को

समझाता है। उसके निर्णय मूल्यपरक होते हैं। नीतिशास्त्र की मान्यताओं का भूत से अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। उसका प्रत्यक्ष क्षेत्र वर्तमान और भविष्य है। फिर भी यह मानना होगा कि डार्विन के सिद्धान्त ने नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण में भारी परिवर्तन ला दिया। यह परिवर्तन कितने स्थायी मूल्य का है, इसका ज्ञान नैतिक विकासवाद का अध्ययन होगा।

विचारकों द्वारा विकासवाद की व्याख्या—डार्विन ने अपने विकासवाद द्वारा मुख्यतः यह बताया कि जीवयोनियों में परिवर्तन होता है। मनुष्य का मूलस्रोत प्रोटोप्लाज्म है और विकास के क्रम में जीव प्रोटोप्लाज्म की स्थिति से मनुष्य की स्थिति तक पहुँच गया है। यह तथ्य महान् उन्नति का सूचक है। मनुष्य की यह श्रेष्ठता यह सिद्ध करती है कि मनुष्य का विकास निम्न-स्थिति से उच्चस्थिति की ओर उन्नति के रूप में हुआ है—जैव विकास नैतिक विकास भी रहा है।[1] नीतिज्ञ—स्पेंसर, लैस्ली स्टीफेन, एलेग्ज़ेंडर आदि—डार्विन के ऐसे सिद्धान्त से अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्होंने विकासवाद का व्यापक प्रयोग करना चाहा और नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, संस्थाओं आदि की उत्पत्ति और उन्नति को उसके द्वारा समझाना चाहा। नैतिकता को उन्होंने विकास का परिणाम माना। स्पेंसर तो स्पष्ट रूप से कहता है कि 'मैं इसे नैतिक विज्ञान का कार्य मानता हूँ कि जीवन के नियमों और अस्तित्व की परिस्थितियों से यह निगमन किया जाय कि किस प्रकार के कर्म अनिवार्य रूप से सुख की उत्पत्ति करते हैं और किस प्रकार के कर्म दुःख की।' स्पेंसर तथा अन्य विकासवादी सुखवादियों ने अपने सिद्धान्त में जैव नियमों से नैतिक नियमों के निगमन पर इतना अधिक महत्त्व दिया है कि सिजविक ने उनके सिद्धान्तों को निगमनात्मक सुखवाद (Deductive Hedonism) कह दिया। विकासवादी सुखवादियों का यह विश्वास था कि नैतिक भावनाओं, निर्णयों, अभ्यासों, मान्यताओं और नियमों के उद्गम तथा उनकी प्रकृति और अभिप्राय को विकासवाद भली-भाँति समझा सकता है। इस विश्वास के आधार पर

१. Wheelright, pp. 112-114.

उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि विकासवाद नीतिशास्त्र को वैज्ञानिक और प्राकृतिक आधार दे सकेगा।

विकासवादी सुखवाद[1]

विकासवादी नीतिज्ञ : स्पेंसर—स्पेंसर[2] प्रथम विचारक था जिसने कि जैव विकासवाद का व्यवस्थित रूप से नीतिशास्त्र में प्रयोग किया। दर्शन के क्षेत्र में हीगल और कौंते ने विकासवाद के लिए स्थान बना दिया था किन्तु नीतिशास्त्र में विकासवाद के लिए स्थान बनाने का श्रेय स्पेंसर को ही है। स्पेंसर से प्रभावित होकर लैस्ली स्टीफेन और एलेग्ज़ैण्डर ने उसके मूलगत सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए तथा उससे थोड़ी भिन्नता रखते हुए नैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। तीनों ही यह मानते हैं कि परम ध्येय सुख है, नैतिक नियमों को समझने के लिए जीवशास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है और जैव नियमों द्वारा ही नैतिक नियमों का निगमन किया जा सकता है। अतः इनका सिद्धान्त विकासवादी सुखवाद के नाम से विख्यात है।

विकास की धारणा का नीति में प्रवेश : नैतिकता विश्व प्रकृति का अंग—पूर्वविचारकों के विपरीत स्पेंसर नीतिशास्त्र को सृष्टिविज्ञान (Cosmology) की शाखा मानता है। मानवता विस्तृत वैश्व विधान का अंगमात्र है, वह उन्हीं नियमों से संचालित है जिनसे विश्व संचालित है। मनुष्य का स्वतन्त्र रूप से विकास नहीं हुआ है। उसकी वर्तमान स्थिति विश्व-विकास का ही अनिवार्य परिणाम है। मनुष्य में विवेक के जन्म को एक आकस्मिक घटना या संयोग के रूप में नहीं समझना चाहिए। वह विकास की एक आवश्यक स्थिति है। सभ्यता, संस्कृति का विकास, नैतिक चेतना की जागृति आदि प्राकृतिक विकास के ही अंग हैं। यह वैसा ही है जैसा कि फूल का प्रस्फुटन या भ्रूण का विकास। मनुष्य में जो नैतिकता की भावना मिलती है वह उसका परिस्थितियों के साथ क्रमशः संयोजित होने का और जीवन के विकास का

---

१. Evolutionary Hedonism.

२. Herbert Spencer, 1820-1903.

परिणाम है। असंख्य पीढ़ियों द्वारा अर्जित ज्ञान और अनुभव को ही उसने अपने वंशानुगत गुणों के रूप में पाया है। उसके वास्तविक नैतिक स्वभाव को समझने के लिए उसके पूर्वजों के इतिहास का अध्ययन कर उनके और वातावरण के बीच के सम्बन्ध को समझना होगा तथा जानना होगा कि उन्होंने जीवन-संघर्ष के अनुभव से क्या सीखा है। उपयोगितावादियों ने सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की विकासहीन स्थिर व्याख्या की है। व्यक्तियों में उन्होंने जो परिवर्तन देखे हैं वे उनके अनुसार शिक्षा, परिस्थिति और जन्म के कारण हैं एवं आकस्मिक और व्यक्तिगत हैं। उन्होंने उनको उस विश्वव्यापी विकासजन्य परिवर्तन के रूप में नहीं समझा जो कि अनवरत रूप से विश्व में हो रहा है। मनुष्य-स्वभाव का जो अनुभव-सापेक्ष ज्ञान मिलता है, उसकी योग्यता के बारे में जितना पता है उसी के आधार पर नैतिक ध्येय (सुख) के स्वरूप और उसकी प्राप्ति तथा वितरण की रूपरेखा बनायी जा सकती है। विकासवादियों ने समझाया कि नैतिक जीवन विकास और उन्नति का जीवन है। नैतिक भावनाएँ परिवर्तित होती रहती हैं। नैतिक जीवन विश्व-विकास का ही अंग है। इसका भी आदि, मध्य और अन्त है। जीवन की महत्ता अन्तिम स्थिति की क्रमिक उपलब्धि में है। स्पेंसर का विश्वास था कि मनुष्य का विकास नीची स्थिति से ऊँची स्थिति की ओर उन्नति के रूप में हुआ है और वह अपने को धीरे-धीरे वातावरण के अनुरूप संयोजित कर रहा है। अन्तिम स्थिति पूर्ण सामंजस्य (Complete adjustment) की स्थिति होगी। नैतिक विकास के ध्येय को समझाने के साथ ही विकासवादियों ने व्यक्ति-समाज, स्वार्थ-परमार्थ एवं सुख-कर्तव्य के विरोध को जैव व्याख्या द्वारा दूर करने का प्रयास किया।

शुभ-अशुभ और सुख-दुःख के अर्थ—स्पेंसर का विश्वास था कि विकासवाद नैतिक समस्याओं को सुलझा सकता है। नीतिशास्त्र जिस ध्येय (सुख) के लिए प्रयास कर रहा है वह उसका प्रयोजन समझा सकता है। अथवा विकास द्वारा शुभ-अशुभ आचरण का अर्थ निर्धारित किया जा सकता है। स्पेंसर ने आचरण को यह कहकर समझाया कि वह कर्मों का ध्येयों के साथ सामंजस्य

है। जीवन-संघर्ष के क्रम में जीवयोनियाँ जीवन-संरक्षण के लिए आवश्यक विभिन्न ध्येयों के साथ अपने कर्मों को संयोजित करने का प्रयास करती हैं और यह क्रिया ही आचरण है। वही प्राणी जीवित रह सकता है जिसका कि प्रकृति या वातावरण के अनुकूल आचरण हो। जीवन का सार इस पर निर्भर है कि आन्तरिक सम्बन्धों का वाह्य सम्बन्धों से निरन्तर सामंजस्य हो। यह अंगी (Organism) का वातावरण के साथ संयोजित होने का अनवरत प्रयास है। सभी प्रकार के आचरण का अध्ययन वतलाता है कि आचरण दो प्रकार के हैं—(१) सामंजस्य स्थापित करने में सहायक, (२) उसमें असहायक। सामंजस्य की वृद्धि करने वाले आचरण शुभ हैं और उसका ह्रास करने वाले अशुभ। वह आचरण, जिसे शुभ के रूप में पुकारते हैं, सापेक्ष रूप से अधिक विकसित आचरण है और उस आचरण का नाम अशुभ है जो सापेक्ष रूप से कम विकसित है। निरपेक्ष रूप से शुभ आचरण वह है जो अंगी और वातावरण के वीच पूर्ण समत्व स्थापित करता है। ऐसा आचरण उस सुख को उत्पन्न करेगा जिसमें दुःख का मिश्रण नहीं है। प्राकृतिक विकास का जो आदर्श ध्येय है वही नैतिक दृष्टि से आचरण का मापदण्ड है। इससे यह पता चलता है कि जीवन का विकास और संरक्षण ही आचरण का सार्वभौम ध्येय है। अर्थात् जो आचरण जीवन के संरक्षण और विकास में सहायक है वह शुभ है। शुभ की ऐसी परिभाषा देकर स्पेंसर ने यह सिद्ध किया कि शुभ-अशुभ परम और शाश्वत नहीं हैं अथवा इनका रूप वस्तुगत और सार्वभौम नहीं है। शुभ ध्येय की पूर्ति के लिए साधन, सहायक और निमित्तमात्र है। ध्येय के सम्बन्ध में जीवशास्त्र से प्रमाण देकर वह कहता है कि पूर्ण सामंजस्य की स्थिति को प्राप्त करना ही ध्येय है। शुभ आचरण अंगी और वातावरण के वीच सामंजस्य स्थापित कर सुख का उत्पादन करता है। पूर्ण रूप से शुभ आचरण पूर्ण समत्व की स्थापना करने वाला आचरण है, जो विकास की अन्तिम स्थिति का सूचक है। विकासक्रम के सब आचरण लगभग आंशिक रूप से शुभ और आंशिक रूप से अशुभ हैं। सापेक्ष रूप से वह आचरण शुभ है जो अन्ततः दुःख से अधिक सुख देता है। उदाहरणार्थ, शल्यचिकित्सा के दुःख और सुरापान के सुख को यदि उनके परिणाम के सम्बन्ध

में देखें तो शल्य-चिकित्सा सुरापान से अधिक शुभ है। इसी प्रकार अच्छा भोजन करना, विवाहित होना, सन्तति का संवर्धन करना अपनी अपूर्णताओं के बावजूद शुभ और लाभप्रद हैं। इस प्रकार सुखवादियों की भाँति स्पेंसर भी शुभ कर्म को सुखप्रद परिणाम से युक्त करता है। पूर्ण विकसित समाज में सुख और स्वास्थ्य परस्पर सम्बन्धित हैं। सुख जीवनवृद्धि का सूचक है, दुःख ह्रास का। प्रश्न यह है कि सुख शुभ क्यों है? इसका उत्तर यह है कि वह व्यक्ति और वातावरण के बीच सामंजस्य का सूचक है। सुख प्राणशक्ति की वृद्धि और सबलता का परिणाम है। वह सामंजस्य का सूचक है। दुःख अंगी के वातावरण के साथ असामञ्जस्य का सूचक है। इसमें अंगी को जीवन-धारण की आशा कम होती है। जीवशास्त्र और अनुभव बतलाता है कि सुखप्रद जीवन शुभ है। यह जीवन-संरक्षण में सहायक है। सुख के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की इच्छा करना अपने विनाश की इच्छा करना है।

सन्निकट ध्येय और परम ध्येय : नैतिक मापदण्ड—स्पेंसर ने सुखवादियों के साथ यह स्वीकार किया कि नैतिक ध्येय सुख है। किन्तु जीवशास्त्री होने के नाते यह भी मानता है कि प्राकृतिक ध्येय शारीरिक स्वास्थ्य है। ये दोनों ही विरोधी कथन हैं। इस विरोध को दूर करने के लिए वह अपने सिद्धान्त को सन्निकट ध्येय और परम ध्येय की धारणा से युक्त करता है। वह कहता है, परम ध्येय सुख है; किन्तु सन्निकट अथवा तात्कालिक ध्येय शारीरिक स्वास्थ्य है। परम ध्येय की प्राप्ति भली-भाँति तभी सम्भव है जब उसे भूले रहें और अपना सम्पूर्ण ध्यान उन परिस्थितियों पर केन्द्रित करें जिनसे वह प्राप्त होता है। इस आधार पर स्पेंसर सुख को परम ध्येय मानते हुए शारीरिक स्वास्थ्य को महत्त्व देता है। जीवशास्त्र बतला सकता है कि कौनसे कर्म सुख का उत्पादन करते हैं और कौनसे कर्म दुःख का। जीवशास्त्र के आधार पर आचरण के उन नियमों का प्रतिपादन कर लेना चाहिए जिनका सुख-दुःख से प्रत्यक्ष रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। स्पेंसर बेंथम के साथ स्वीकार करता है कि नैतिक मान्यताओं का मूल्यांकन करने के लिए वस्तुगत मापदण्ड की खोज करनी चाहिए। किन्तु वह उसके विरोध में कहता है कि सुख को मापदण्ड

नहीं माना जा सकता क्योंकि वह भावनामात्र एवं आत्मगत है। वह वस्तुगत नहीं, उसे तौल नहीं सकते। नैतिक मान्यताओं की आधारशिला शारीरिक जीवन (Physical life) है। जीवशास्त्री होने के कारण स्पेंसर को शारीरिक स्वास्थ्य की चिन्ता थी। अत: उसने शारीरिक जीवन को नैतिक मापदण्ड माना। बैंथम के विरुद्ध वह कहता है कि व्यक्ति का कर्तव्य 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' नहीं है, किन्तु मानव-समाज के जीवन की रक्षा करना है। शुभ आचरण वह नहीं जो केवल वैयक्तिक जीवन को ही महत्त्व देता है बल्कि वह जो समाज के सम्पूर्ण जीवन को ध्यान में रखता है। स्पेंसर के सिद्धान्त में परमस्वार्थवाद के लिए स्थान नहीं है। विकासवाद बताता है कि आत्मत्याग और आत्मसंरक्षण दोनों ही प्राचीन हैं। शुभ आचरण वह है जो अपने और दूसरों के जीवन की उन्नति में समान रूप से सहायक है। प्रश्न उठता है कि जीवन को कैसे नाप सकते हैं? स्पेंसर कहता है कि जीवन को उसकी लम्बाई और चौड़ाई से नाप सकते हैं। जीवन की लम्बाई से उसका अभिप्राय दीर्घ-स्थायी जीवन से है, जो अधिकतम संख्या के दीर्घायु का सूचक है। चौड़ाई से अभिप्राय उन विभिन्न व्यापारों से है जिन्हें सम्पादित करने की उच्च (अधिक विकसित) पशु योग्यता रखता है। मानव-जीवन की जटिलता तथा विस्तार का अध्ययन करने से पता चलता है कि व्यक्ति की अभिरुचियों तथा इच्छाओं की विकासजन्य वृद्धि के कारण समाजगत सामंजस्य दुरूह होता जा रहा है। किन्तु इस दुरूहता के साथ उसकी सफलतापूर्वक संयोजित होने की योग्यता और शक्तियाँ क्रमश: बढ़ती जा रही हैं। जब यह योग्यता अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेगी तब व्यक्ति और वातावरण के बीच पूर्ण समत्व स्थापित हो जायगा। इस वृद्धि को प्राप्त होती हुई सामंजस्य की शक्ति को ही स्पेंसर चौड़ाई कहता है। उसके अनुसार कर्म और आचरण के औचित्य-अनौचित्य को निर्धारित करने के लिए यह जानना आवश्यक नहीं कि उनका परिणाम सुखप्रद है या दु:खप्रद ; किन्तु उसके लिए यह जानना आवश्यक है कि वे जीवन के परिमाण की वृद्धि में कितने सहायक हैं। स्पेंसर के अनुसार जीवन के परिमाण की लम्बाई-चौड़ाई को प्राप्त करना ही ध्येय है। वह कहता है कि वही आचरण

एकमात्र शुभ है जो जीवन के संरक्षण में सहायक है। उसके अनुसार नैतिक उद्देश्य के लिए यह मान लेना अनिवार्य है कि जो कर्म जीवन-परिमाण के अधिक-से-अधिक संरक्षण में सहायक होते हैं और जो अधिक-से-अधिक परिमाण में अनुकूल या आनन्दकर भावनाओं को देते हैं उनका आपस में सामंजस्य है।

स्वार्थ और परमार्थ—मिल ने वैयक्तिक और सामाजिक रुचियों की एकता को सिद्ध करने का प्रयास किया किन्तु उसका प्रयास स्वप्न बनकर रह गया। स्पेंसर ने यह समझाने की चेष्टा की कि प्राकृतिक नियमों तथा वैश्व विकास द्वारा उस पूर्णता की स्थिति की क्रमशः स्थापना हो जायगी जिसमें कि रुचियों की एकता अपने-आप प्राप्त हो सकेगी। यह अवश्य है कि इस दूरस्थ आदर्श को प्राप्त करने के लिए अविराम उद्यम करने की आवश्यकता है। इसे मानवता को अपना ध्येय बनाना होगा। वैसे, चाहे व्यक्ति चाहें अथवा न चाहें, चाहे वे प्रयास करें या न करें, ऐसे श्रेष्ठ एवं शुभ समाज की स्थापना प्राकृतिक नियम और क्रमविकास का अनिवार्य परिणाम है। ऐसे पूर्ण विकसित समाज में स्वार्थ-परमार्थ का विरोध मिट जायगा। नैतिक कर्तव्य करने में जो बाध्यता अनुभव होती है वह नहीं रहेगी। स्वार्थ और परमार्थ का विरोध परम और चिरस्थायी नहीं है। जहाँ तक अपूर्ण तथा अर्ध-विकसित समाज का प्रश्न है, स्वार्थ और परमार्थ दोनों का ही मूल्य है। जब हम विकसित होते हुए मानव-जीवन का अध्ययन करते हैं तब मालूम पड़ता है कि आत्मत्याग आत्मसंरक्षण के समान ही मौलिक है। सर्वत्र स्वार्थ के साथ परमार्थ का विकास हुआ है। जीवन के अभ्युदय के समय से स्वार्थ और परमार्थ एक-दूसरे पर निर्भर रहे हैं। स्वार्थ और परमार्थ को यदि एक-दूसरे से अलग करके देखें तो मालूम होगा कि स्वार्थ प्रकृति का प्रथम नियम है। आत्मसंरक्षण प्रथम कर्तव्य है और आत्मप्रेम सर्वश्रेष्ठ गुण है। यदि आत्मसंरक्षण की प्रवृत्ति नहीं होती तो परमार्थ अर्थशून्य हो जाता। बिना आत्मसंरक्षण की प्रवृत्ति के कोई भी नहीं बचता। नैतिक और जैव दृष्टि से स्वार्थ परमार्थ के पहले है, क्योंकि व्यक्ति ही सुख का परम आधार है। जहाँ तक उसकी विशिष्ट योग्यताओं और शक्तियों के प्रयोग का प्रश्न है वे केवल व्यक्ति के सुख का ही उत्पादन नहीं करतीं बल्कि उसके चारों ओर के

वातावरण का भी निर्माण करती हैं। सामाजिक परिस्थितियों द्वारा मान्य सीमाओं के अन्दर यदि व्यक्ति अपने सुख को खोजता है तो वह अधिकतम सामान्य सुख की प्राप्ति की प्रथम आवश्यकता है। यदि माँ-बाप सन्तति को अपनी मूल्यवान् देन देना चाहते हैं (उन्हें दृढ़ अंगों वाला, स्वास्थ्य और प्रसन्न प्रकृति वाला बनाना चाहते हैं) तो उनके लिए अपने सुख और स्वास्थ्य की चिन्ता करना आवश्यक है। यह भी सत्य है कि अच्छे स्वास्थ्य और प्रसन्नचित्त वाला व्यक्ति उन लोगों पर भी सुखप्रद प्रभाव डालता है जिनके सम्पर्क में वह आता है। स्वार्थ परमार्थ का विरोधी नहीं, सहायक है। परम परमार्थ हानिप्रद है। यदि परमार्थ द्वारा केवल दूसरों के स्वार्थ की वृद्धि हो तो ऐसे परम परमार्थी व्यक्ति की जीवन-शक्ति का ह्रास हो जायगा। प्राकृतिक चयन में उसका विनाश अवश्यम्भावी है। जो प्रवृत्तियाँ आत्मसंरक्षण में सहायक नहीं होतीं वे विकास के क्रम में नष्ट हो जाती हैं। इस भाँति स्वार्थ, परमार्थ, दोनों ही विशिष्ट सीमा तक जीवयोनियों के संरक्षण के लिए आवश्यक हैं। अतः शुद्ध स्वार्थ और शुद्ध परमार्थ दोनों ही नीतिविरुद्ध और मिथ्या हैं। अथवा 'आत्मा के लिए जियो' और 'दूसरों के लिए जियो', दोनों ही सूत्र-वाक्य हानिप्रद और अनुचित हैं। दोनों ही समान रूप से आत्मघातक हैं। व्यक्ति को अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख की खोज नहीं करनी चाहिए बल्कि इन दोनों के बीच पूर्ण समझौता स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए। विकास का क्रम बतलाता है कि ऐसा समझौता धीरे-धीरे स्थापित हो रहा है। प्राकृतिक विकास आंशिक रूप से सहानुभूति की वृद्धि और आंशिक रूप से सामाजिक परिस्थितियों के एकीकरण द्वारा अनवरत रूप से स्वार्थ और परमार्थ की माँगों में अधिकाधिक अनुकूलता ला रहा है। प्राकृतिक चयन और विश्व-विकास वैयक्तिक और सार्वभौम अभिरुचि में पूर्ण तादात्म्य स्थापित करेगा। इस भाँति प्राकृतिक नीतिशास्त्र नैतिकता और कर्तव्य में सामंजस्य स्थापित करता है और कहता है कि यद्यपि मनुष्य को ऐसी नैतिक आदर्श स्थिति की स्थापना के लिए प्रयास करना चाहिए तथापि वह वास्तव में प्राकृतिक नियमों द्वारा ही स्थापित होगी। ऐसी विकसित स्थिति में व्यक्तियों को आत्मत्याग

और परमार्थ का सहज आनन्द आकर्षित करेगा। प्रत्येक व्यक्ति आत्मसुख को भूलकर आत्मत्याग के लिए तत्पर हो जायगा। उसके परमार्थी कर्म उतने ही स्वाभाविक और अनायास रूप से सम्पन्न होंगे जितने कि सहजप्रेरित, संवेदन-जनित कर्म होते हैं। आत्मत्याग में व्यक्ति को प्रसन्नता मिलेगी। दूसरों के सुख-दु:ख के साथ वह अपने सुख-दु:ख को युक्त कर लेगा। परमार्थ द्वारा वह स्वार्थ-सुख का आनन्द उठायेगा।

नैतिक चेतना की उत्पत्ति—स्पेंसर नैतिक चेतना के मूलगत लक्षण को किसी एक या बहुभावनाओं द्वारा किन्हीं अन्य भावनाओं के नियन्त्रण में देखता है। विकसित और परिवर्तित होता हुआ आचरण यह बतलाता है कि जीवन के उत्तम संरक्षण के लिए आदिम, सरल और प्रस्तुत (presentative) करने वाली भावनाओं का, बाद में, विकसित जटिल (संयुक्त) प्रतिनिधि (representative) भावनाओं द्वारा नियन्त्रण आवश्यक है। स्पेंसर यह मानता है कि चेतना के परमतत्त्व भावनाएँ और संवेदनाएँ हैं। भावनाएँ या तो वर्तमान से अथवा तात्कालिक संवेदनाओं से सम्बन्धित हो सकती हैं, या वे आदर्श (प्रतिनिधि) भावनाएँ हो सकती हैं जिनका कि भविष्य से सम्बन्ध है, जैसे—आशा, भय आदि। विकास-क्रम में तात्कालिक सरल संवेदनाएँ (वर्तमान से सम्बन्धित भावनाएँ) जटिल विचारों या भविष्य से सम्बन्धित प्रतिनिधि भावनाओं पर आधृत बन जाती हैं। ये विकसित जटिल भावनाएँ प्रधानता प्राप्त कर भविष्य के बारे में बोध देती हैं। विकास बताता है कि भविष्य (दूरस्थ शुभ) के बारे में सोचने की शक्ति जीवन के संरक्षण में सहायक होती है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक और जैव दृष्टिकोणों में परस्पर संगति मिलती है। ये जटिल और विकसित भावनाएँ ही आचरण और उसके बीच सामंजस्य स्थापित करने में सहायक होती हैं। सरल भावनाओं को जटिल भावनाओं द्वारा नियन्त्रित करने के लिए स्पेंसर तीन प्रकार के नियन्त्रणों की चर्चा करता है—राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक। ये नैतिक नियम के जन्म के लिए प्रारम्भिक भूमि प्रस्तुत करते हैं। इन नियन्त्रणों के ही भीतर नैतिक नियन्त्रण विकसित होता है और इन्हीं के द्वारा नैतिक कर्तव्य या बाध्यता के स्थायी भाव (sentiment)

की उत्पत्ति होती है। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक नियन्त्रणों से पैदा होने के कारण कर्तव्य की भावना में आदेश और बाध्यता के तत्त्व वर्तमान रहते हैं। किन्तु वे चिरस्थायी नहीं हैं। इसका कारण यह है कि व्यक्ति और समाज के बीच अपूर्ण सामंजस्य है। व्यक्ति और समाज के अधिकाधिक सामंजस्य के साथ तथा नैतिक चिन्तन की उन्नति के साथ नैतिक बाध्यता की भावना लुप्त हो जायगी। उचित कर्म को व्यक्ति सरल आत्मसन्तोष की भावना के साथ करेंगे, नैतिक कर्म अभ्यासजन्य कर्म हो जाएँगे। जिस प्रकार अब संवेदनाएँ मनुष्य को परिचालित करती हैं उसी प्रकार नैतिक स्थायी भाव भी पर्याप्त और सहज रूप से मानव-कर्मों का संचालन करेंगे। वास्तव में बाध्यता और कर्तव्य की भावना के मूल में समाज और व्यक्ति की विरोधी रुचियाँ हैं। विकास बतलाता है कि यह विरोध परम नहीं है। विकास की अन्तिम स्थिति में इनके बीच पूर्ण समत्व स्थापित हो जायगा। ऐसी पूर्ण समत्व की स्थिति में अपने-आप ही बाध्यता की भावना दूर हो जायगी। नैतिक आचरण प्राकृतिक आचरण है। विकास व्यक्तियों को उस स्थिति में पहुँचा देगा जहाँ उन्हें आत्म-त्याग में आनन्द मिलेगा।

नैतिक नियम अनुभव-निरपेक्ष नहीं हैं—उपयोगितावादियों के विरुद्ध स्पेंसर कहता है कि नैतिक नियम सुख-दुःख के अनुभवों पर आधारित अनुमानों का सामान्यीकरण मात्र नहीं हैं। इन परमार्थी प्रवृत्तियों को 'विचार-सहयोग' द्वारा नहीं, 'प्राकृतिक चयन' और विश्व-विकास द्वारा ही समझाया जा सकता है; अथवा नैतिक नियम अपने मूल रूप में उद्भूत सत्य है। इनका जैव और समाजशास्त्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप निर्माण हुआ है। उचित नैतिक नियमों का प्रतिपादन करने के लिए भी जीवशास्त्र और समाजशास्त्र से सहायता लेनी चाहिये। उनके नियमों से नैतिक नियमों का निगमन करना चाहिये। नैतिक नियमों की उत्पत्ति बतलाती है कि वे अनुभव-सापेक्ष नियम हैं। धीरे-धीरे विकास-क्रम में ये अनुभव-सापेक्ष नियम ही अनुभव-निरपेक्ष नियमों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। विगत जीवन का इतिहास बतलाता है कि विकास-क्रम में सरल और निम्न आदर्श की भावनाएँ अधिक जटिल उच्चादर्शों की भावनाओं

द्वारा नियन्त्रित होती आ रही हैं। बर्बर सभ्यता के युग में मनुष्य की प्रवृत्तियाँ भौतिक आवश्यकताओं तथा भय (जीवन-संरक्षण की प्रवृत्ति) से नियन्त्रित हुईं। धीरे-धीरे झुण्ड, समाज, जाति, धर्म, राजनीति आदि के नियमों ने इन्हें शासित किया। जीवन-संघर्ष में नए गुणों का प्रादुर्भाव हुआ। व्यक्ति तथा जाति के जीवन के संरक्षण के लिए उपयोगी और सहायक गुण ही नैतिक मान्यताओं, उच्च भावनाओं, सहानुभूति, आत्मत्याग आदि के रूप में मिलते हैं। जीव-रचना (अंगी) को वातावरण के साथ संयोजित करने वाला आचरण जिन व्यक्तियों का अभ्यास बन जाता है वही प्राकृतिक चयन में जीवित रहते हैं। पिता जिन गुणों को अभ्यासगत विशेषताओं के रूप में पाता है उन गुणों को उसकी सन्तति स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में पाती है। वंशानुगत होने के कारण वे गुण स्वाभाविक, सहजप्रेरित एवं सहजात विचारों (अनुभव-निरपेक्ष) का रूप प्राप्त कर लेते हैं। अपने मूलगत रूप में वे अनुभव-सापेक्ष तथा असंख्य पीढ़ियों द्वारा अर्जित अनुभवों के परिणाम हैं। जो कुछ भी आज व्यक्ति है, उसका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, कलात्मक, नैतिक व्यक्तित्व उसे दाय रूप में प्राप्त हुआ है। पैतृक सम्पत्ति के रूप में पाने के कारण उसके विचार अनुभव-निरपेक्ष लगते हैं। पूर्वजों के अनुभवों ने जिन गुणों को उपयोगी और अनिवाय (व्यक्ति अथवा जाति के जीवन के लिए) पाया उन्हीं को उनकी आगामी पीढ़ी ने मौलिक नैतिक सद्गुणों के रूप में पाया। नैतिक सहज-ज्ञान वंशानुगत गुण है। उपयोगितावादियों के विरुद्ध स्पेंसर कहता है कि नैतिक आदेश, उदाहरणार्थ 'चोरी नहीं करना चाहिए', 'झूठ नहीं बोलना चाहिए', आदि, इसलिए उचित नहीं हैं कि वे सुखप्रद हैं किन्तु इसलिए कि वे सामाजिक जीव-रचना के जीवन का संरक्षण करते हैं। स्पेंसर जब विशिष्ट व्यावहारिक नियमों की व्याख्या पर पहुँचता है तब वह अपने समय के लगभग सभी प्रचलित नियमों को स्वीकार कर लेता है—यथा, सच बोलना चाहिए, झूठ नहीं बोलना चाहिए, चोरी नहीं करना चाहिए, अश्लील पुस्तकें नहीं पढ़नी चाहिए आदि। इसका कारण यह है कि वह कट्टरपन्थी स्वभाव का था।

समाज की व्याख्या—विकासवादियों से पूर्व के विचारकों ने व्यक्ति और

समाज के सम्बन्ध को समझाना चाहा। इस सम्बन्ध को बाह्य मान लेने के कारण अथवा स्वार्थ और परमार्थ में विरोध मान लेने के कारण वे नैतिक धारणाओं के आदि कारण को नहीं समझा सके। हॉब्स ने कहा कि व्यक्ति के स्वार्थ और उसकी आवश्यकताओं ने उसे सामाजिक जीवन बिताने के लिए बाध्य किया। सामाजिक आचरण के मूल में स्वार्थ है। ह्यूम और ऐडम स्मिथ ने कहा कि सहानुभूति या परस्पर की भावना ने ही नैतिकता की धारणा को जन्म दिया है। वह सामान्य भावना है। नैतिकता का उद्‌गम हृदय की सामान्य भावना है। नैतिक गुण वह गुण है जो समाज के लिए हितकर है। मिल और बैंथम ने 'अधिकतम संख्या के लिए अधिकतम सुख' को नैतिक ध्येय बतलाया। एक बार यह स्वीकार कर लेने पर कि व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से भिन्न हैं, सामाजिक आचरण को समझाना असम्भव हो जाता है। उपयोगितावादियों ने समाज को व्यक्तियों के उस समुदाय के रूप में देखा जिसमें वैसी ही यान्त्रिक संगति है जैसी कि अणु-परमाणुओं से संगठित जड़ पदार्थ में। किन्तु जब यह प्रश्न उठाया जाता है कि समाज के आत्मचेतन अणुओं ने अपने को एक-दूसरे से कैसे युक्त किया तो उपयोगितावादियों का स्पष्टीकरण काल्पनिक स्पष्टीकरण-मात्र रह जाता है। इस अणुवादी धारणा के बदले नृतत्वशास्त्र ने जीव-रचना एवं अंगी (organism) की धारणा दी है। उसने यह समझाया है कि मनुष्य और समाज का सम्बन्ध अनन्य है। यह जीव-रचना का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध बाह्य नहीं है। सामाजिक जीव-रचना का विकास हो रहा है। यह विकास एकता और विभिन्नता से सम्बद्ध एक अविभाजित पद्धतिक्रम है जहाँ कि समाज का विधान अथवा उसकी बनावट अधिक जटिल होती जा रही है और व्यक्ति एक-दूसरे पर अधिकाधिक निर्भर होते जा रहे हैं। मनुष्य की इच्छाओं और आकांक्षाओं की वृद्धि के साथ सामंजस्य अत्यन्त कठिन और दुरूह होता जा रहा है। इस दुरूहता के साथ ही वह युगपत् रूप से, दिन-प्रतिदिन, वातावरण पर अधिकाधिक निर्भर होता जा रहा है। विकास यह भी बतलाता है कि उसका पद्धतिक्रम अपूर्ण सामंजस्य से पूर्ण सामंजस्य की ओर है। सीधी, सरल

भावनाओं से क्रम-विकास द्वारा अत्यन्त जटिल भावनाओं तक पहुँचना अर्थात् पूर्ण विकसित नैतिक भावनाओं का विकास ही इसका ध्येय है। भावनाओं की पूर्ण विकसित स्थिति में वाध्यता की भावना, कर्तव्य की चेतना सहज-प्रवृत्ति का रूप ग्रहण कर लेती है। यह नैतिक पूर्णता (moral perfection) की स्थिति है। नैतिकता का विकास मनुष्य और वातावरण के बीच पूर्ण सामंजस्य स्थापित कर देगा। नैतिकता 'वह रूप है जिसे सार्वभौम आचरण अपने विकास की अन्तिम स्थितियों में प्राप्त करता है।' नैतिक पूर्णता की स्थिति में व्यक्ति और वातावरण के बीच पूर्ण सामंजस्य स्थापित हो जाएगा तथा जीवन-संरक्षण के लिए व्यापक और स्वस्थ वातावरण उपस्थित हो जाएगा।

सापेक्ष और निरपेक्ष नीतिशास्त्र—स्पेंसर ने पूर्ण सामंजस्य और अपूर्ण सामंजस्य की स्थितियों के आधार पर दो प्रकार के नीतिशास्त्रों को माना है। विकास के पद्धतिक्रम में मध्य की स्थिति अपूर्ण सामंजस्य की स्थिति है। इसमें दुःखरहित सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस स्थिति के लिए आचरण के नियमों का प्रतिपादन सापेक्ष नीतिशास्त्र (relative ethics) करता है। वास्तव में यह स्थूल और अनुभवात्मक रूप से निर्धारित करता है कि निरपेक्ष नीतिशास्त्र (absolute ethics) के नियमों को मानव-प्राणियों की वर्तमान स्थिति से कैसे सम्बद्ध किया जा सकता है। जहाँ तक निरपेक्ष नीतिशास्त्र प्रश्न है, उसके नियम उस पूर्ण विकसित समाज के लिए हैं जो कि स्थायी सन्तुलन (stable equilibrium) प्राप्त कर चुका है। इस समाज का मानव-पूर्ण रूप से संयोजित मानव है। यहाँ न तो दुःख के लिए स्थान है और न किसी प्रकार के विरोध के लिए। ऐसा आचरण, जिसका परिणाम अमिश्रित एवं शुद्ध सुख है, पूर्ण रूप से उचित है। उचित आचरण वाला व्यक्ति सहानुभूतिमूलक कर्मों और नैतिक कर्तव्य को स्वाभाविक तथा अनायास रूप से करेगा। वह सद्‌गुणों को आत्मसात् कर लेगा।

लैस्ली स्टीफेन

लैस्ली स्टीफेन[1] ने स्पेंसर के विकासात्मक सुखवाद को अपनी विशेषताएँ

१. Leslie Stephen.

रखते हुए अपनाया। इनकी सबसे प्रमुख विशेषता अथवा स्पेंसर के सिद्धान्त को महत्त्वपूर्ण देन समाज की जीव-रचना एवं अंगी (organism) की धारणा है। इसमें सन्देह नहीं कि स्पेंसर ने इस विचारधारा की नींव डाली, किन्तु उसकी नींव कच्ची और खोखली है। उसे इस धारणा का संस्थापक कहना उचित नहीं होगा। 'जीव-रचना' के प्रयोग द्वारा वह व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का व्यापक और यथार्थ चित्र नहीं खींचता, किन्तु उसे अधिकतर रुचिकर सादृश्य या रूपक के रूप में लेता है। स्टीफेन उसे निश्चित रूप से मुख्य नैतिक तत्त्व मानता है। उसका कहना है कि सत्य का पूर्ण दर्शन यह बतलाता है कि समाज समुदाय-मात्र नहीं है, जीव-रचना का विकास है। व्यक्ति और जाति का अध्ययन यह बतलाता है कि व्यक्ति एकाकी अणु की भाँति नहीं रह सकता। वह उसी भाँति समाज पर निर्भर है जैसे कि अवयव देह पर हैं। व्यक्ति को सदैव समाज के ही सम्बन्ध में समझ सकते हैं। उसकी इच्छाओं, आकांक्षाओं की तृप्ति समाज में ही सम्भव है। जो कुछ भी वह है, समाज के कारण है। समाज की पूर्व स्थिति से आनुवंशिकता के रूप में उसने अपनी मौलिक प्रवृत्तियों और स्वाभाविक प्रकृति को पाया है। उसका बौद्धिक और मानसिक व्यक्तित्व उसे समाज की देन है। उसके व्यक्तित्व का निर्माण सामाजिक संस्थाओं, भाषा, शिक्षा एवं वातावरण पर निर्भर है। अथवा समाज एक जीव-रचना की भाँति है जिस पर उसके व्यक्तिरूपी अवयव परस्पर निर्भर हैं; बिना समाज के वे नहीं रह सकते। वे समाज से संयोजित होने का निरन्तर प्रयास करते रहते हैं। सामाजिक तन्तु (social tissue) का क्रमशः अनेक प्रकार से सुधार हो रहा है ताकि उसके अवयव अधिक पूर्णता से संयोजित होकर जीव-रचना के विभिन्न व्यापारों को समष्टि रूप से परिपूर्ण कर सकें। सामाजिक रचना की गति का ध्येय सामाजिक 'प्रकार' (social 'type') का विकास है। अथवा उस प्रकार के समाज को उत्पन्न करना है जो कि सामाजिक जीवन में दिए हुए साधन और साध्य की अधिकतम कार्यक्षमता (efficiency) का प्रतिनिधि हो सके।

नैतिक ध्येय : स्वास्थ्य—समाज के स्वरूप को जैव रूप से समझने के

पश्चात् लैस्ली स्टीफेन कहता है कि जीवन के ध्येय का वैज्ञानिक मानदण्ड स्वास्थ्य है, सुख नहीं। स्पेंसर का कहना था कि जब वैयक्तिक जीवन लम्बाई और चौड़ाई में अधिकतम हो जाता है तब विकास अपनी सीमा को प्राप्त कर लेता है। किन्तु लैस्ली स्टीफेन, स्पेंसर तथा बैंथम और मिल एवं उपयोगितावादियों के विरुद्ध कहता है कि नैतिक ध्येय जीव-रचना अथवा सामाजिक तन्तु का स्वास्थ्य या कार्यक्षमता है। अतः सामाजिक विकास-क्रम की अन्तिम स्थिति को वह 'अभिवृद्धि', 'उन्नति', जीवन की 'अधिकतम परिपूर्णता' आदि विभिन्न शब्दों द्वारा समझाता है। उसके अनुसार सुख और स्वास्थ्य भिन्न नहीं हैं। वे एक-दूसरे के अनुरूप हैं। किन्तु फिर भी कर्मों के बाह्य (सुखप्रद अथवा दुःखप्रद) परिणाम से उनके औचित्य को नहीं आँका जा सकता। वही कर्म शुभ हैं जो सामाजिक स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद हैं। सामाजिक जीवन जीव-रचना का विकास है। कर्म के परिणाम का तभी भली-भाँति गुणगान किया जा सकता है जबकि वह उसकी मूलगत बनावट का उन्नयन और सुधार करे, न कि जब वह उसकी क्षणिक स्थिति को प्रभावित करे। सामान्यतः हानिकारक कर्म दुःखप्रद होते हैं और लाभकारक कर्म सुखप्रद। नैतिक नियम सामाजिक तन्तु के गुणों की व्याख्या है। वे सामाजिक कल्याण एवं स्वास्थ्य की स्थिति का वर्णन करते हैं। जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप ये नियम बदलते रहते हैं। नैतिक नियम वे नियम हैं जो जीवन की आवश्यकताओं को व्यक्त करते हैं। वही नियम शुभ है जो सामाजिक स्वास्थ्य के संरक्षण में सहायक है। विकास के साथ ही नैतिक नियम अधिक स्पष्ट होते जाएंगे और सामाजिक प्रकार अधिक व्यापक होता जाएगा। लैस्ली स्टीफेन यह समझाने का प्रयास करता है कि नैतिक नियम निरपेक्ष नहीं हैं। इनकी उत्पत्ति विकास के क्रम में हुई है। उसके अनुसार मानसिक दबाव ही नैतिकता को उत्पन्न करता है और उसकी रक्षा एवं पालन करता है। मनुष्य की चेतना में वही नैतिकता का प्रतिनिधि है। वह यह भी मानता है कि विकास के क्रम में एक प्रकार का आचरण ही नहीं बल्कि एक प्रकार का चरित्र भी विकसित होगा। विकास के क्रम में मनुष्य नैतिकता के बाह्य रूप 'यह

करो' से उसके आन्तरिक रूप 'यह बनो' में पहुँच जाएगा, अर्थात् नैतिक विकास के क्रम में बाह्य कर्तव्य बुद्धि से कार्य करने से वह अन्ततः कर्तव्यपूर्ण बन जाएगा।

अलेग्ज़ैण्डर

सामाजिक सन्तुलन—अलेग्ज़ैण्डर[1] वस्तुतः लैस्ली स्टीफेन के सिद्धान्त को मानता है। वह अपने सिद्धान्त को सामाजिक जीव-रचना या सामाजिक विधान की धारणा द्वारा समझाता है। उसके अनुसार शुभ और कुछ नहीं, वह केवल सन्तुलित समष्टि में संयोजन है। उसके अनुसार आचरण के औचित्य-अनौचित्य को एक विशिष्ट मानदण्ड द्वारा निर्धारित किया जाता है। इस मानदण्ड का ही नाम नैतिक आदर्श है। नैतिक आदर्श आचरण का सन्तुलित विधान है। यह विरोधी प्रवृत्तियों पर आधारित है और उनके बीच सन्तुलन स्थापित करता है। अतः परम शुभ आचरण का पूर्ण रूप से संयोजित शुभ एवं सामाजिक जीव-रचना का सन्तुलन है।

नैतिकता के क्षेत्र में प्राकृतिक चयन—अलेग्ज़ैण्डर ने नैतिक मान्यताओं और पशु-जीवन के विकास और उन्नति में प्राकृतिक चयन का सादृश्य पाया। उसने कहा कि नैतिक जीवन में प्राकृतिक चयन का क्रम मिलता है। लैस्ली स्टीफेन के साथ उसने स्वीकार किया कि प्राकृतिक चयन के कारण विकास के क्रम में आचरण का वह प्रकार सुरक्षित रह जाता है जो अधिकतम योग्य और पूर्ण रूप से सन्तुलित है। प्राकृतिक चयन वह पद्धतिक्रम है जिसके कारण विभिन्न जीवयोनियाँ प्रभुत्व के लिए संघर्ष करती हैं और जो विजयी होती हैं वे सापेक्षतः स्थायी हो जाती हैं। पशु-जीवन और नैतिक जीवन में प्रमुख भेद यह है कि नैतिकता का क्षेत्र मानस का क्षेत्र है, न कि पशुता का। पशु-जीवन में सबल और सशक्त का संघर्ष दुर्बल और निःशक्त के साथ होता है और नैतिक जीवन में आदर्शों या जीवन-प्रणालियों का संघर्ष मिलता है। प्राकृतिक चयन में वे प्रणालियाँ जीवित रहती हैं जो सामाजिक कल्याण की वाहक हैं।

---

१. Samuel Alexander.

यदि कोई समर्थ बुद्धिमान् व्यक्ति समाज के लिए कल्याणकारी विचारों का प्रतिपादन करता है—दास प्रथा, निर्दयता, अविनय, असमानता आदि के विरुद्ध आवाज उठाता है तो अन्य व्यक्ति उसकी कटु आलोचना करते हैं। फिर भी ऐसे व्यक्ति के विचार तथा जीवन-प्रणाली अपनी उच्चता के कारण अन्त में विजयी होती है।

आलोचना

नैतिकता का प्राकृतिक विज्ञान—विकासवादी सुखवादियों ने नैतिक मान्यताओं के उद्‌गम और विकास को समझना चाहा। नैतिकता को वैज्ञानिक आधार देने के प्रयास में उन्होंने उसे जीवशास्त्र से सम्बद्ध किया। नैतिक विकास को विश्व-विकास का अंग मानकर नैतिकता को समझने के लिए विकास के पद्धति-क्रम को समझना आवश्यक बतलाया। उनका सिद्धान्त वास्तव में प्रकृतिवाद है। नैतिक मान्यताओं के उचित मूल्य को समझाने के बदले वे केवल यह समझाने का प्रयास करते हैं कि नैतिक मान्यताओं की उत्पत्ति कैसे हुई और मानव-जाति के जीवन की वृद्धि या ह्रास में वे कहाँ तक सहायक हुई हैं। जहाँ तक प्राकृतिक घटनाओं का प्रश्न है, वे ध्येय (आदर्श) की ओर उदासीन हैं। नीतिशास्त्र आदर्शों को निर्धारित करता है। यह पता लगाता है कि आदर्श आचरण को कैसे प्रभावित कर सकते हैं। प्राकृतिक घटनाओं का सम्बन्ध 'क्या है' (वास्तविकता) से है और नीतिशास्त्र का सम्बन्ध 'क्या होना चाहिए' (आदर्श) से है। नीतिशास्त्र की ऐसी वैज्ञानिक व्याख्या ऐतिहासिक जिज्ञासा की तृप्ति है, न कि नैतिक जिज्ञासा की। नैतिक जिज्ञासा का समाधान तभी सम्भव है जबकि आचरण के औचित्य और अनौचित्य पर प्रकाश डाला जाय; यह बतलाया जाय कि क्यों किसी विशेष प्रकार के आचरण को शुभ कहते हैं। अलेग्ज़ेण्डर का सिद्धान्त इस ओर थोड़ा अग्रसर हुआ है। वह कहता है कि जीवन की वह प्रणाली अच्छी है जो समाज में सन्तुलन स्थापित करती है। जीवशास्त्र से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण वह इस प्रश्न के महत्तर पहलू को छोड़

देता है। वह यह नहीं बतलाता कि यह सन्तुलन महत्त्वपूर्ण क्यों है। नैतिक आदर्श के स्वरूप को समझाने के बदले विकासवादी कहते हैं कि विकास-क्रम में वे नियम रहते हैं जो जीवन के संरक्षण में सहायक हैं। ये नियम उचित क्यों हैं, मनुष्य का क्या कर्तव्य है, आत्म-चेतन प्राणी किस आदर्श को प्राप्त करना चाहता है, उसे आत्म-सन्तोष कैसे प्राप्त हो सकता है, इन सब प्रश्नों से विकासवादी उतने ही दूर हैं जितनी कि निम्न जीवयोनियाँ हैं। उन्होंने नैतिकता की ऐतिहासिक और वैज्ञानिक व्याख्या की। मनुष्य के बौद्धिक, आध्यात्मिक स्वभाव को भूलकर उसे जीवन का तटस्थ दर्शकमात्र मान लिया। उनके सिद्धान्त को प्राकृतिक सिद्धान्त कहना उचित होगा। नैतिकता की धारणा मूल्यपरक है, न कि वस्तुपरक। नीतिशास्त्र अनुभवात्मक और यथार्थ विज्ञान नहीं, इसका भूतकालीन घटनाओं अथवा नैतिकता के इतिहास से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है।

इसे सुखवाद कहना भ्रान्तिपूर्ण है—स्पेंसर सुख को परम ध्येय मानता है किन्तु साथ ही स्पष्ट रूप से कहता है कि सुख अपने-आप में मानदण्ड नहीं है। नैतिक दृष्टि से कर्मों के औचित्य-अनौचित्य का मानदण्ड शारीरिक स्वास्थ्य है। शारीरिक स्वास्थ्य एवं जाति का जीवन ही सन्निकट ध्येय है। ऐसी स्थिति में स्पेंसर के सिद्धान्त को सुखवाद कहना भ्रान्तिपूर्ण है। सन्निकट ध्येय और परम ध्येय के बीच स्पेंसर यह कह कर सामंजस्य स्थापित करता है कि नैतिक उद्देश्य के लिए यह मान लेना चाहिए कि अधिकतम परिमाण के जीवन का और अधिकतम परिमाण के सुख का उत्पादन करने वाले कर्मों में सामंजस्य है। उसकी उपर्युक्त मान्यता क्या अपने को सिद्ध करती है? उसका यह कथन, सम्भव है, इस विश्वास पर आधारित है कि आदर्श समाज (पूर्ण सामंजस्य की स्थिति) का निरपेक्ष नीतिशास्त्र उन आचरण के नियमों का प्रतिपादन करता है जो कि दुःखरहित पूर्ण सुख का उत्पादन करते हैं। ऐसे आशापूर्ण भविष्य से सम्बन्धित नियम वर्तमान स्थितियों का समाधान नहीं कर सकते, वे वास्तविक जगत् के लिए व्यावहारिक नियम नहीं दे सकते हैं। वे सुखप्रद और स्वास्थ्यप्रद कर्मों में एकत्व स्थापित नहीं कर सकते। सच तो यह है कि

सुख और दु:ख की मानसिक-कायिक खोज यह व्यावहारिक ज्ञान नहीं दे सकती कि किस परिस्थिति में सुख—विशेषकर उच्च सुख— प्राप्त हो सकता है। यह कहना कि वस्तु कब और किसे सुख दे सकती है, यह परिस्थिति— मानसिक और भौतिक—के व्यापक ज्ञान की अपेक्षा रखती है।

अनावश्यक आशावाद—स्पेंसर का विश्वास है कि विकास अपनी अन्तिम स्थिति में एक ऐसे आदर्श समाज को स्थापित कर देगा जहाँ कि दु:खरहित सुख होगा। उसके अनुसार जीवन-संरक्षण के लिए अनिवार्य नियम ही नैतिक नियम हैं और वे सुखप्रद भी हैं। पद्धतिक्रम की स्थिति अपूर्ण सामंजस्य की स्थिति है, इसमें पूर्ण सुख प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु पूर्ण सामंजस्य अवश्य ही पूर्ण सुख देगा। इस स्थिति में निरपेक्ष नीतिशास्त्र के नियम व्यावहारिक हो जायेंगे। मनुष्य उन परम नैतिक कर्मों को करने लगेंगे जो दु:खरहित सुख का उत्पादन करेंगे। किन्तु इस तथ्य को कैसे सिद्ध किया जा सकता है? स्पेंसर का यह कहना था कि विश्व का इतिहास बतलाता है कि विकास का क्रम अनिश्चित, असंगत, एकरूपता से निश्चित, वैचित्र्यपूर्ण संगतिमय अनेक-रूपता की उन्नति का क्रम है। जहाँ तक मानव-समाज का प्रश्न है ऐसे विकास की अन्तिम स्थिति दु:खरहित पूर्ण सामंजस्य की सूचक है। विकासवादियों के इस कथन के समान ही महत्त्वपूर्ण निराशावादियों का कथन भी मिलता है। वास्तविक अनुभव यह नहीं कह सकता कि उनके कथन की अवहेलना करना सम्भव है। अथवा इन कथनों में कि 'अज्ञान सुखप्रद है' और 'ज्ञान की वृद्धि, दु:ख की वृद्धि है'—जो आंशिक सत्य मिलता है, उससे मुँह मोड़ लेना सम्भव नहीं। स्पेंसर का विश्वास था कि जीवन की वृद्धि सुख की वृद्धि है। किन्तु क्या अधिक विकसित राष्ट्र और व्यक्ति अधिक सुखी हैं? इसमें सन्देह नहीं कि उनकी विभिन्न शक्तियाँ और योग्यताएँ बढ़ गयी हैं। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि उनकी सुख भोगने की शक्ति भी बढ़ गयी है। बल्कि इसके विपरीत यह देखा जाता है कि वे बौद्धिक और मानसिक अशान्ति से ग्रस्त हैं। वर्तमान जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

सामंजस्य—स्पेंसर ने कहा कि मानव-जाति अपूर्ण सामंजस्य से पूर्ण

सामंजस्य की ओर अग्रसर हो रही है। विकास की अन्तिम स्थिति पूर्ण सामंजस्य एवं स्थायी सन्तुलन की स्थिति होगी। क्या विकास स्थायी सन्तुलन को स्वीकार कर सकता है? क्या पूर्ण संयोजित व्यक्ति सम्भव है? विकास और पूर्ण सन्तुलन, ये दो विरोधी धारणाएँ हैं। विकास एक बहती हुई नदी के समान है जो अनेक नये कगारों रूपी इच्छाओं और भावनाओं को उत्पन्न करती रहती है। यदि स्थायी सन्तुलन रूपी सेतु की स्थापना कर भी दी जाय तो वह पुनः नवीन शक्तियों द्वारा विच्छिन्न हो जायगा। विकास परिवर्तनशील जीवन का सूचक है, स्थायी सन्तुलन स्थिर जीवन का तथा स्थिर जीवन मृत्यु का ही दूसरा नाम है। ऐसा पूर्ण सुख अथवा परम शान्ति मरघट में ही सम्भव है। मनुष्य में संयोजन उस अनिवार्य प्राकृतिक सम्बन्ध के रूप में प्रकट नहीं होता है जिसके लिए वह सचेत न रहे। मनुष्य में संयोजन प्राकृतिक स्थिति मात्र का सूचक नहीं है, वह अर्थगर्भित है। संयोजन को अर्थ मनुष्य का मानस देता है। उसके मानस में कुछ अप्राप्य ध्येय अथवा आदर्श हैं और उनकी प्राप्ति के लिए वह परिस्थिति के साथ विशिष्ट प्रकार से संयोजित होना चाहता है। वैज्ञानिक, दार्शनिक और चिन्तक अपने आदर्श के अनुरूप ही जगत् को देखना चाहते हैं। वे जगत् को अपने आदर्श से संयोजित करना चाहते हैं। आत्मचेतन प्राणी वातावरण और परिवेश में कमियाँ पाता है। वह उसे अपने मानसिक आदर्श के अनुरूप नहीं पाता है। कमियों को निर्धारित करने वाला मानदण्ड उसे वातावरण नहीं देता बल्कि उसका मानस देता है। मनुष्य के लिए सामंजस्य कोरा शब्द मात्र नहीं है। यह उसके आदर्श से संयुक्त होकर अर्थगर्भित हो जाता है। ऐसे सामंजस्य को समझने के लिए ध्येय या अन्त को समझना चाहिये, न कि उद्गम को। मनुष्य बौद्धिक और चिन्तनशील है। उसका अप्राप्य ध्येय उसके वास्तविक स्वभाव का प्रतिबिम्ब है। मानव-समाज का अध्ययन बतलाता है कि विकास व्यक्ति और वातावरण के बीच सामंजस्य स्थापित नहीं कर रहा है बल्कि आत्मचेतन स्वतन्त्र व्यक्ति अपने आदर्श के अनुरूप वातावरण को संयोजित कर रहे हैं। दृढ़ संकल्प और नैतिक अन्तर्ज्ञान वाले व्यक्तियों—ईसा, बुद्ध, गांधी—ने अपने व्यक्तित्व में अपने आदर्शों को मूर्तिमान् किया और

वातावरण को भी अपने आदर्शों के अनुरूप ढाला। नैतिकता यह जानना चाहती है कि समाज की कौन-सी स्थिति आदर्श स्थिति है। वह जीवशास्त्र की भाँति सामाजिक विकास के तथ्यात्मक वर्णन को ही सब-कुछ नहीं मान सकती। विकासवादी यह भूल गये कि नैतिकता अचेतन सामंजस्य से ऊपर है। वह उस सामंजस्य को समझना चाहती है जो कि समझ-बूझकर उच्चतम भविष्य के लिए स्वीकार किया जाता है। ऐसा सामंजस्य यान्त्रिक नहीं है, न वह प्राकृतिक विकास का अनिवार्य अंग ही है। इस सामंजस्य के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य चाहे अथवा न चाहे, प्राकृतिक विकासपूर्ण सामंजस्य की स्थिति को अपने-आप स्थापित कर देगा। विकासवादियों ने वातावरण को स्थिर स्थितियों का विधान मात्र माना है जिससे जीव-रचना अपने जीवन-संरक्षण के लिए संयोजित होती है। वे यह भूल गये कि मनुष्य तो मनुष्य ही है, निम्न प्राणियों और उनके वातावरण तक में यह पाया जाता है और वे दोनों ही एक-दूसरे पर निर्भर हैं। व्यक्ति ही समाज पर पूर्णतया निर्भर नहीं है, समाज भी व्यक्तियों पर निर्भर है। वास्तव में वही समाज जीवित रह सकता है जिसे व्यक्तियों का सक्रिय सहयोग प्राप्त है। जिस समाज के सदस्य समझ-बूझकर स्वेच्छा से अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं वही उन्नत और जीवित समाज है। मनुष्य और पशु के आचरण में यही प्रमुख भेद है कि पशु के कर्म बौद्धिक आत्मा द्वारा संचालित नहीं होते। मनुष्य समाज एवं प्रकृति के हाथ का खिलौना नहीं है। प्रकृति उसे कठपुतली की तरह नहीं नचा सकती। उसका प्रकृति के साथ अन्ध-सामंजस्य नहीं है। जब से उसमें ध्येय-निहित बुद्धि (purposive intelligence) का प्रादुर्भाव हुआ और पारस्परिक सहयोग की भावना एवं मानवता की भावना ने जन्म लिया तब से उसके सामंजस्य के दृष्टिकोण के क्षितिज में महान् अन्तर आ गया है। वह अब बाह्य जगत् को अपने आन्तरिक जगत्—आदर्शों और मान्यताओं के अनुरूप बनाना चाहता है। यदि यह मान लें कि ध्येय-निहित बुद्धि को प्रकृति ने जन्म दिया है तो यह भी स्पष्ट है कि प्रकृति का यह शिशु अब उसका स्वामी बन गया है। समाज केवल भौतिक सामंजस्य का सूचक नहीं है। वह आत्मचेतन प्राणी

के लिए वह स्थान है जहाँ उसे उच्च गुणों के उपार्जन के लिए सुविधा मिल सकती है। विकासवादी भूल जाते हैं कि मनुष्य स्वतन्त्र नैतिक प्राणी है। वह अपने वातावरण को स्वयं वना सकता है। जैव क्षेत्र के संवेदनशील जीव और नैतिक क्षेत्र के बुद्धिजीवी में अन्तर है। इस अन्तर के कारण मनुष्य-जीवन में शक्त और अशक्त का विरोध अल्प एवं नगण्य है। यहाँ निर्वल के ऊपर सवल की विजय नहीं है। मनुष्य की सब आवश्यकताओं को भौतिक एवं जैव नहीं कह सकते। जातियों के संघर्ष को कायिक समुदायों का संघर्ष मात्र नहीं कह सकते। यह, जैसा कि अलेग्जैण्डर ने माना है, उच्च और निम्न तथा नैतिक और सामाजिक विचारों का संघर्ष है।

सामाजिक जीव-रचना का रूपक सन्देहजनक है—विकासवादियों ने समाज और जीव-रचना में सादृश्य दिखलाकर यह बतलाया कि उनके पूर्व के सिद्धान्त नैतिक दृष्टि के साथ ही जैव दृष्टि से भी निर्वल और त्याज्य हैं। जिस आत्मा की तृप्ति के लिए उन्होंने प्रयास किया वह समाज से असम्वद्ध नहीं है। उसका और समाज का अनिवार्य और अनन्य सम्वन्ध है। सुखवाद के विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन यह वतला चुका है कि वे व्यक्ति और समाज के अनन्य सम्वन्ध को समझाने में असमर्थ रहे। इसी भाँति बुद्धिपरतावादियों (सिनिक्स, स्टोइक्स, कांट) का सिद्धान्त इस सम्वन्ध को नहीं समझ पाया। उन्होंने भी समाज को विरोधी शक्तियों की वाह्य-एकता के रूप में देखा। विकासवादियों ने यह समझाया कि व्यक्ति और समाज का सम्वन्ध संयोग मात्र नहीं है। वे आकस्मिक रूप से सम्वन्धित नहीं, अनन्य रूप से सम्बद्ध हैं। समाज को जीव-रचना (अंगी) कहकर उन्होंने यह समझाया कि व्यक्ति समाज पर निर्भर है। किन्तु इस वाक्य-खण्ड—जीव-रचना—की व्याख्या सन्देहजनक है। विकासवादियों ने स्वयं माना है कि समाज और जीव-रचना में समानता के साथ ही स्पष्ट भेद भी है। अतः जीव-रचना के रूपक को परम रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसे सादृश्य के रूप में ही स्वीकार करना होगा। जीव-रचना के अवयव स्वतन्त्र, आत्मनिर्भर जीवन नहीं विता सकते। समाज में व्यक्ति का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। उसके सुख-दुःख व्यक्तिगत और सापेक्ष हैं। सिजविक

ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि सुख-दुःख का अनुभव व्यक्ति करता है, न कि सामाजिक जीव-रचना। जैव जीव-रचना के अनुभव का केन्द्र एक ही होता है किन्तु समाज प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा चिन्तन तथा अनुभव करता है। उनकी बौद्धिक या सामाजिक आत्मा के रूप में ही उसका अस्तित्व है। व्यक्ति पारस्परिक रूप से एक-दूसरे पर निर्भर अवश्य हैं, किन्तु प्रत्येक का अपना निजत्व है। जीव-विधान या रचनाशास्त्र के अनुसार समान होने पर भी उनके कर्तव्य, कर्म एवं व्यापारों में भिन्नता है। जैव जीव-रचना और सामाजिक जीव-रचना में यहाँ पर स्पष्ट भेद है। जैव जीव-रचना के निर्माणात्मक अंग अथवा जीवाणु जीव-रचनाशास्त्रानुसार न तो एकरूप (समान) हैं और न उनके व्यापार ही समान हैं। जीवाणु जीव-रचना पर निर्भर हैं। उनका जीवन आत्मनिर्भर और स्वतन्त्र नहीं है। किन्तु व्यक्ति समाज पर निर्भर होते हुए भी स्वतन्त्र है। समाज उन आत्मप्रबुद्ध आत्माओं का संगठन है जिनके कर्म स्वेच्छाकृत हैं। वह वैयक्तिक अणुओं का यान्त्रिक समुदाय मात्र नहीं है। अतः जीव-रचना का रूपक समुचित सादृश्य नहीं है। इसे दूर तक नहीं ले जा सकते। जीव-रचना के रूपक को पूर्ण रूप से मान लेने पर व्यक्ति का निराकरण हो जाता है। इस अर्थ में शुभ एकमात्र सामाजिक है। किन्तु नीतिशास्त्र वैयक्तिक शुभ को भी मानता है। सुखवादी दृष्टिकोण से व्यक्ति समाज में खो नहीं जाता। उसका अपना व्यक्तित्व है, वह आत्मसुख की खोज करता है। वास्तव में नैतिक जीवन में स्वार्थ और परमार्थ दोनों के ही लिए समुचित स्थान है। वे एक-दूसरे को विलीन नहीं कर देते बल्कि एक महत्तर सत्य का अंग बन जाते हैं। वही उचित परमार्थ है जो स्वार्थ का समावेश करता है और वही उचित स्वार्थ है जो परमार्थ का समावेश करता है। प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति एक अहंता भी है। अहंता को नष्ट करना नैतिक जीवन को निर्मूल करना है। नैतिक जीवन का केन्द्र-बिन्दु अहंता के भीतर है। अहंता का ज्ञान ही परस्वार्थ का ज्ञान देता है। फिर भी विकासवादियों के 'जीव-रचना' के रूपक का महत्त्व है। यह समाज और व्यक्ति की वास्तविक पारस्परिक निर्भरता को बतलाता है।

सहजज्ञानवाद का विरोध : नैतिकता की उत्पत्ति—सहजज्ञानवादियों के अनुसार नैतिक प्रत्यय सहज, परम और निरपेक्ष होते हैं। विकासवादियों ने अन्तर्बोध को ऐतिहासिक पद्धति से समझाकर सहजज्ञानवादियों की आलोचना की। उन्होंने यह बतलाया कि अन्तर्बोध के निर्णय सहजात और अनुपार्जित नहीं होते हैं। वे सामाजिक जीव-रचना से सापेक्ष रूप से सम्बन्धित हैं और अपने समय के समाज की विकसित स्थिति को अभिव्यक्त करते हैं। वे परि-स्थिति-विशेष से सक्रिय रूप से सम्बद्ध हैं। नैतिक नियम सार्वभौम और अनिवार्य नहीं हैं। वे देश और काल की भिन्नता के अनुरूप भिन्न हैं। वास्तव में ज्ञान अनुभव-सापेक्ष है। जीवन-संघर्ष के क्रम में मनुष्य विभिन्न अनुभवों को प्राप्त करते हैं। मानव-जाति के लिए जो अनुभवजन्य ज्ञान है वही व्यक्ति के लिए अनुभव-निरपेक्ष हो जाता है। आनुवंशिकता द्वारा प्राप्त ज्ञान ही सहजात लगता है। आचरण के औचित्य और अनौचित्य का ज्ञान अनुभवजात ज्ञान है। सत्य बोलना, चोरी न करना, जाति के कल्याण की भावना आदि सहजात इस अर्थ में हैं कि मानव-जाति ने अनुभव से सीखा है कि ये जाति और व्यक्ति के संरक्षण में सहायक होते हैं। स्वयं-सिद्ध नैतिक सत्य अनुभव द्वारा अर्जित सत्य है। ये सापेक्ष और परिवर्तनशील हैं।

कर्तव्य की भावना; स्वार्थ-परमार्थ का प्रश्न—स्वार्थ और परमार्थ के प्रश्न को उपयोगितावादियों ने उठाया था और उन्होंने भावना द्वारा उन दोनों में सामंजस्य स्थापित करने का असम्भव प्रयत्न किया था। इस प्रश्न को विकासवादियों ने फिर से उठाया। स्पेंसर ने इनके विरोध के मूल में अपूर्ण सामंजस्य देखा। लैस्ली स्टीफेन स्पष्ट रूप से मानता है कि कर्तव्य और सुख में पूर्ण संगति नहीं है। कुछ पारमार्थिक कर्म दुःखप्रद भी हैं। पर साथ ही वह कहता है कि व्यक्ति का अपना सुख ही परम ध्येय नहीं है। उसके लिए यह अनिवार्य है कि जीवन की सामान्य परिस्थितियों के योग्य होने के लिए वह पारमार्थिक प्रवृत्तियों को अर्जित करे। सामाजिक जीव-रचना का सदस्य होने के कारण व्यक्ति समाज के सुख और कल्याण के लिए अपने सुख को भूल जाता है। स्पेंसर का सिद्धान्त लैस्ली स्टीफेन और अलेग्ज़ैण्डर की तुलना में

अधिक व्यक्तिवादी है। वह कहता है कि प्रत्यक्ष ध्येय आत्मसंरक्षण है और अप्रत्यक्ष ध्येय जाति-संरक्षण। किन्तु लैस्ली स्टीफेन और अलैग्जैण्डर सामाजिक स्वास्थ्य अथवा सामाजिक विधान की साम्यावस्था को ही परम शुभ मानते हैं। ऐसी स्थिति में सुखवाद (वैयक्तिक सुख) के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। वास्तव में विकासवादियों ने भी सुखवादियों की भाँति सुख-कर्तव्य, स्वार्थ-परमार्थ एवं शुभ और सद्‌गुण में विरोध मान लिया। सुखवादियों ने भावना द्वारा उनमें संगति स्थापित करनी चाही और विकासवादियों ने जैव विकास द्वारा इस कठिनाई को दूर करना चाहा। अपने इस प्रयास में उन्होंने नैतिक विकास को प्राकृतिक चयन द्वारा समझाया जिसके अनुसार योग्यतम की विजय ही विभिन्न नैतिक नियमों की जन्मदात्री बन जाती है एवं नैतिकता निर्नैतिकता से उत्पन्न होती है। वे यह भूल गए कि जैव और नैतिक नियमों में अनुरूपता नहीं है। जैव नियम योग्यतम की विजय एवं दुर्बल के दमन के सिद्धान्त के पोषक हैं। वे समर्थ तथा शक्तिशाली व्यक्तित्व की वृद्धि करते हैं, प्रभुत्वभाव तथा निर्मम आत्मभाव का समर्थन करते हैं। नैतिक विकास दुर्बल को आश्रय देता है। यह विकास, जैसा कि अलेग्ज़ैण्डर ने अंगीकार किया, क्षुद्र विचारों के ऊपर उच्च विचारों की विजय है। अलेग्ज़ैण्डर का यह कथन यह स्वीकार करने के समान है कि जैव धारणा नैतिक मूल्यों को नहीं समझा सकती। इसमें सन्देह नहीं कि नैतिक विकास आंशिक रूप से वातावरण और परिवेश पर निर्भर है। किन्तु प्रमुख रूप से वह शुभ संस्थाओं, शिक्षा, भाषा, स्वतन्त्र संकल्प और नैतिक अन्तर्ज्ञान पर निर्भर है। नैतिक आचरण सम्यक् ज्ञान की क्रमिक वृद्धि का सूचक है। वह प्राकृतिक चयन द्वारा निर्देशित न होकर विवेकसम्मत और स्वेच्छाकृत है। प्रकृति की अनुकूलता देखकर आचरण करने वाला व्यक्ति अवसरवादी है, न कि नैतिक। नैतिक मनुष्य सत्य के लिए अडिग होकर आचरण करता है। यही उसके लिए शोभन है। परिस्थिति के अनुकूल आचरण उच्च आचरण नहीं है, वह पशु-धरातल का सूचक है। ऐसा आचरण मनुष्य और राष्ट्र को उन्नत नहीं बना सकता।

नैतिक कठिनाई—विकासवाद एवं नैतिक मान्यताओं का प्राकृतिक इतिहास

विभिन्न जीव योनियों के जीवन के बारे में बोध देता है। वह बतलाता है कि जीवन-संघर्ष ने आचरण के किन रूपों को जन्म दिया है। नैतिक मान्यताओं, नियमों और प्रत्ययों के मूल में कौनसी भौतिक परिस्थितियाँ हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी ऐतिहासिक पद्धति का कुछ सीमा तक निराकरण नहीं किया जा सकता, किन्तु साथ ही इस सत्य को भी नहीं भुलाया जा सकता कि वह ज्ञान को तथ्यात्मक जगत् तक सीमित कर देता है। अत: पूर्ण रूप से उस पद्धति को अपनाना, मूल्य को भूलकर तथ्य को महत्त्व देना है। नैतिकता सामाजिक विकास के तथ्यात्मक वर्णन को महत्त्व नहीं देती। वह जानना चाहती है कि समाज की कौन-सी स्थिति आदर्श स्थिति है। नैतिक जीवन आदर्श से शासित है, न कि भूतकालीन घटनाओं और तथ्यों से। वह साभिप्राय जीवन है और हेतुवाद द्वारा समझाया जा सकता है। वह ध्येय एवं आदर्श द्वारा निर्देशित है। विकासवादियों ने उसे वैज्ञानिक रूप देने की आकांक्षा से जीवशास्त्र पर आधारित कर दिया और इस भाँति वास्तविकता से आदर्श की उत्पत्ति तथा निर्नैतिकता से नैतिकता के विकास को समझाना चाहा। विकास-क्रम का अन्धानुकरण करने में व्यक्ति के जीवन की सार्थकता नहीं है। व्यक्ति अथवा समाज की नैतिक प्रगति वैश्व क्रम का अनुकरण करने में नहीं है और न उससे मुँह मोड़ लेने में ही है; किन्तु उससे संघर्ष करने में है। विकासवाद यह नहीं समझा पाता कि जीवन का क्या अर्थ है। वह केवल यह कहता है कि जीवन-संरक्षण अनिवार्य है, जिसके लिए प्राकृतिक नियमों का अनुकरण भी अनिवार्य है। इसमें सन्देह नहीं कि कोई भी नीतिज्ञ उन नियमों की अवहेलना नहीं करेगा जो सामाजिक संरक्षण के लिए आवश्यक हैं। सच तो यह है कि बिना समाज के नैतिक नियम व्यर्थ हैं। किन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि क्या एकमात्र ध्येय संरक्षण ही है? क्या मानवता की स्थापनामात्र से सन्तोष प्राप्त हो सकता है? क्या उसके अस्तित्व एवं जीवन को अधिक वांछनीय बनाना ध्येय नहीं है? क्या जीवन की लम्बाई और चौड़ाई की वृद्धि से आत्म-सन्तोष मिल सकता है? नैतिक दृष्टि से ऐसा जीवन अपने-आप में वांछनीय नहीं है। बौद्धिक प्राणी अजगर का-सा जीवन नहीं बिता सकता। नैतिक ध्येय

गुणविहीन ध्येय नहीं है। नैतिक मान्यताएँ गुणात्मक भेद की अपेक्षा रखती हैं। कर्तव्य की भावना को विकासवादियों ने भौतिक नियमों के आधार पर समझाया। मनुष्य चाहे अथवा न चाहे, प्रकृति उसके आचरण को एक विशिष्ट रूप दे देगी, उसकी प्रकृति को एक विशिष्ट प्रकार का बना देगी। ऐसी स्थिति में मनुष्य के लिए नैतिक ध्येय की प्राप्ति का प्रयास करना मुख्य वस्तु नहीं है। स्वार्थ का परमार्थ में अनायास ही रूपान्तर हो जाता है और प्राकृतिक चयन कर्तव्य की भावना का प्रादुर्भाव कर देता है; ऐसे सिद्धान्तों को अपनाकर मनुष्य जीवन के प्रति, नैतिक एवं बौद्धिक मान्यताओं के प्रति वैसी ही भावना हो जायगी जैसी कि अन्य प्राकृतिक प्राणियों—पशु, वृक्ष, अचेतन वस्तुओं—की होती है। विकासवादी भूल गये कि मनुष्य और पशु में भेद है। मनुष्य उस ध्येय को देख और समझ सकता है जिसकी ओर प्रकृतिरूपी गाड़ी बढ़ रही है। दृढ़ संकल्प और प्रबल व्यक्तित्व वाला मनुष्य प्राकृतिक दिशा के विमुख भी जा सकता है। विकासवादियों का सिद्धान्त विचित्र है। वे नैतिक प्रत्ययों को प्राकृतिक चयन एवं जीवन-संघर्ष द्वारा समझाते हैं। उनके न्याय का सिद्धान्त तथा कर्तव्य की भावना इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। उन्होंने नैतिक सुखवाद के साथ उपयोगितावाद को संयुक्त करना चाहा एवं प्रकृतिवाद और सहजज्ञानवाद को एक मान लिया और नैतिक शुभ और प्राकृतिक शुभ तथा जैव शुभ में तादात्म्य देखा। उन्होंने स्वार्थ-परमार्थ, कर्तव्य और सुख में विरोध मानकर उसे दूर करना चाहा। आदर्शविधायक विज्ञान और यथार्थ-विज्ञान को समान रूप से समझना चाहा तथा स्वतन्त्र नैतिक प्राणी और अप्रबुद्ध प्राणियों को एक ही स्तर पर मान लिया।

१४

बुद्धिपरतावाद

सामान्य परिचय—बुद्धिपरतावाद वह सिद्धान्त है जो यह मानता है कि मनुष्य का मौलिक स्वरूप बौद्धिक है, भावनात्मक नहीं। इसका सुखवाद से प्रत्यक्ष विरोध है। यह उसके बिलकुल ही विपरीत है। इसके अनुसार जीवन का ध्येय बौद्धिक है, वह भावना से स्वतन्त्र है। सुख का निराकरण करते हुए बुद्धिपरतावाद कहता है कि सुख की प्रेरणा से किया हुआ कर्म अनैतिक है। बुद्धिपरतावाद ने इन्द्रियों के हनन को अनिवार्य बतलाते हुए बुद्धि की प्रधानता सिद्ध की है। यदि सुखवाद ने 'सुख सुख के लिए' कहा तो बुद्धिपरतावाद ने 'कर्तव्य कर्तव्य के लिए' कहा। सुखवादियों ने सुख, व्यावसायिक बुद्धि और लाभप्रद साधन को महत्त्व दिया और बुद्धिपरतावादियों ने कर्तव्य, सद्‌गुण और नियमोचित कर्म को। एक ने नैतिकता का सम्बन्ध कर्म के परिणाम (सुख-दुःख) से जोड़ा तो दूसरे ने प्रेरणा की पवित्रता से। यदि पूछा जाए कि उचित कर्म की क्या पहचान है, अथवा नैतिक नियम को कैसे समझा जा सकता है, तो बुद्धिपरतावादी कहेंगे कि उचित कर्म और नैतिक नियम को बुद्धि की सहायता से समझ सकते हैं। वास्तव में आचरण के लिए नियम बुद्धि देती है। बौद्धिक नियम के अनुसार कर्म करना ही नैतिक तथा उचित है। उचित को उचित के लिए ही करना चाहिए। सभी बुद्धिवादियों—हिरेक्लिटस से लेकर कांट तक—ने नैतिकता का परम मानदण्ड नियम को माना है। यह नियम बौद्धिक है। बुद्धि ही नैतिकता के परम मानदण्ड के रूप में नियम, विधि या आदेश देती है। उसके अनुरूप कर्म करना ही उचित है।

दो रूप—सुखवाद की भाँति बुद्धिपरतावाद का भी नीतिज्ञों ने भिन्न-भिन्न समय में प्रतिपादन किया। उसके दो रूप मिलते हैं : उग्र और नम्र। उसके उग्र रूप के समर्थक हैं सिनिक्स, स्टोइक्स और कांट। सहजज्ञानवादी एवं कडवर्थ, क्लार्क, शैफ्ट्वरी, हचीसन और बटलर उसके नम्र रूप को अपनाते हैं। उग्र विचारकों का कहना है कि शुद्ध बुद्धिमय जीवन बिताना चाहिए। इन्द्रियों का पूर्ण रूप से उन्मूलन कर देना चाहिए। नम्र विचारक यह कहते हैं कि इन्द्रियाँ जीवन का अंग हैं पर जीवन मूल रूप में बौद्धिक है। अतः बुद्धि द्वारा निर्देशित जीवन व्यतीत करना चाहिए। बुद्धिपरतावाद के दोनों ही पक्षों का अध्ययन बतलाता है कि सभी विचारकों ने बुद्धि को अत्यधिक महत्त्व दिया। बुद्धिपरतावाद निर्मम अनुशासनवादी (rigoristic) है। उसके अनुसार इन्द्रियों पर बुद्धि का कठोर नियन्त्रण होना चाहिए। बुद्धि ही एकच्छत्र साम्राज्ञी है। उसके राज्य में इन्द्रियों का या तो निष्कासन कर दिया जाता है, या उन्हें निष्क्रिय समर्पण की स्थिति में डाल दिया जाता है। कालक्रम के अनुसार यदि बुद्धिपरतावाद का विभाजन किया जाए तो प्राचीन काल में सिनिक्स और स्टोइक्स मिलते हैं और अर्वाचीन काल में कांट तथा सहजज्ञानवादी।

प्राचीन उग्र बुद्धिपरतावाद : सिनिक्स और स्टोइक्स

सिनिक्स : विद्वेषवाद—सुकरात की मृत्यु के पश्चात् एण्टिस्थीनीज़[1] ने एथेन्स की एक व्यायामशाला में एक पाठशाला खोली। यह पाठशाला सिनोसर्जेस[2] के नाम से प्रसिद्ध थी, जिसके कारण एण्टिस्थीनीज़ और उसके अनुयायियों को सिनिक्स[3] के नाम से पुकारा गया। सिनिक शब्द यूनानी भाषा के उस विशेषण से मिलता है जिसका अर्थ 'कुत्ते के समान' होता है। अतः सिनिक शब्द में श्लेष है। एण्टिस्थीनीज़ और विशेषकर उसके शिष्य

---

१. Antisthenes जन्म, ४३६ ई० पू०।

२. Cynosarges.

३. Cynics.

डायोजिनिस[1] के अशिष्ट और उद्दण्ड स्वभाव के कारण व्यंग्य में लोगों ने उसके पंथ के अनुयायियों को सिनिक अथवा कुत्ता कहा। सिनिक ने बौद्धिक स्वतन्त्रता के नाम पर कठोर वैराग्यवाद को अपनाया, सामाजिक मान्यताओं के प्रति विद्वेषात्मक भाव रखा, सामान्य सामाजिक मर्यादाओं की उपेक्षा की। अपनी इन विलक्षणताओं के कारण वह सिद्धान्त अत्यन्त अनाकर्षक और अप्रिय बन गया एवं निर्लज्जता और विद्वेष (सामाजिक सदाचार का तिरस्कार) के अर्थ में 'सिनिक' शब्द प्रचलित हो गया।

ध्येय : सद्गुण—मनुष्य बौद्धिक है। जीवन का परम ध्येय सद्गुण है। वह अपने-आप में परिपूर्ण है। सद्गुणी व्यक्ति को किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। अपने में सम्पूर्ण होना और आवश्यकताओं से ऊपर उठना ईश्वरीय गुण है। ऐसा व्यक्ति अपने चारों ओर के वातावरण और विभिन्न नियमों—सामाजिक, राजनीतिक आदि—से स्वतन्त्र है। वह आत्मनिर्भर है। उसका कल्याण उसी पर निर्भर है। सद्गुणयुक्त जीवन व्यतीत करने के लिए ज्ञान अनिवार्य है।

सुखवाद का खण्डन—सिनिक्स सुकरात के जीवन के उस पक्ष से प्रभावित हुए जो आत्मनिर्भरता और इच्छाओं से स्वतन्त्रता का सूचक है। इसी को उन्होंने अपने सिद्धान्त का मूल आधार माना। सुकरात का जीवन आत्म-संयम का जीवन था। वह परिस्थितियों से स्वतन्त्रता, पूर्ण आत्म-निर्भरता और आत्म-पर्याप्तता के आदर्शों का मूर्त रूप था। इन आदर्शों को सिनिक्स ने अपनाया और उन्हें अपनाने में वैराग्यवाद को स्वीकार कर लिया। उन्होंने सुखवाद की तीव्र आलोचना की। सुखवाद की असत्यता, अज्ञान एवं मूर्खता को समझाने के लिए इसके संस्थापक, एण्टिस्थीनीज़ ने यहाँ तक कहा कि 'सुख के वश में होने से अच्छा पागल हो जाना है।' उसके कथनानुसार मनुष्य को भावनाओं और इच्छाओं के अधीन नहीं रहना चाहिए। उसे इन्द्रियजित् या आत्मविजेता होना चाहिए। सुख पाप है, वह जीवन का ध्येय नहीं है।

---

१. Diogenes.

बुद्धि से शासित व्यक्ति को पाप, दोष, बुराई, दुर्गुण आदि छू भी नहीं सकते हैं। वह सद्गुणी है।

सिनिक जीवन—विद्वेषपूर्ण विवेक (Cynic wisdom) बौद्धिक आत्मा के स्वामित्व के उच्च स्वाभिमान का सूचक है। वह मानव-चेतना की परिस्थितियों के ऊपर पूर्ण विजय का ज्ञापक है। वह आत्म-आरोपित नियम के अतिरिक्त किसी अन्य नियम को नहीं मानता। ऐसा विवेकयुक्त व्यक्ति इच्छाओं की दासता के विश्व का राजा है। इस तथ्य को आधार मानते हुए जिन आचरण के नियमों को सिनिक्स ने स्वीकार किया वे अत्यन्त अभावात्मक और अव्यावहारिक हैं। आत्मा की पूर्णता आत्मवर्जन (Self-denial) में है। इच्छाओं को न्यूनतम कर देना चाहिए। प्रकृति के अनुरूप सरल और स्पष्ट जीवन बिताना चाहिये। प्राकृतिक आचरण के नाम पर उन्होंने लोकमत का तिरस्कार किया, सजातियों के प्रति घृणा प्रदर्शित की और रीति-रिवाज को उपेक्षा से देखा। एण्टिस्थीनीज़ का शिष्य डायोजिनिस अपने विचित्र आचरण, झक्कीपन और वेवकूफी के लिए विख्यात है। डायोजिनिस जब बहुत बूढ़ा हो चुका था और यूनान-भर में जब उसकी ख्याति फैल चुकी थी तब अलेग्ज़ैण्डर ने उसके बारे में सुना और वह उससे मिलने गया। वहाँ पहुँचकर उसने डायोजिनिस से पूछा कि क्या मैं आपके लिए कुछ कर सकता हूं ? डायोजिनिस, जो कि टब में बैठकर सूर्य-स्नान कर रहा था, बोला कि आप केवल धूप के सामने से हट जाएं। डायोजिनिस के जीवन के ऐसे उदाहरण नैतिक और सामाजिक जीवन की व्यर्थता के सूचक हैं। नीतिवाक्यों को व्यावहारिक रूप देने के लिए सिनिक्स ने निर्लज्जता, अशिष्टता और भद्देपन को स्वीकार किया। पायरो[1] के आचरण में एक विचित्र व्यक्तित्व मिलता है। उसे तर्कशास्त्र और विज्ञान से घृणा थी क्योंकि उसके अनुसार वे आत्मोन्नति में सहायक नहीं हैं। उसकी नैतिक धारणाएँ सन्देहवाद की पोषक हैं। उसके अनुसार सन्देह सद्गुण की प्राप्ति में सहायक है। यदि किसी प्रकार यह विश्वास हो जाए कि न शुभ है और न अशुभ, तो वस्तुओं के प्रति स्वतः ही विरक्ति उत्पन्न हो जाएगी।

१. Pyrrho.

पायरो मानता है कि विरक्ति ही इच्छाओं और वासनाओं से मुक्त करती है। यही विवेक है।

आलोचनात्मक परीक्षण : सुकरात से थोथा साम्य—सिनिक सिद्धान्त अपने प्रारम्भिक रूप में वैराग्यवादी था। इसका सारवाक्य था : सुख पाप है और दुःख शुभ है। इसके अनुगामियों ने अपने आचरण द्वारा इसे निर्लज्जता का बाना पहना दिया। इसके संस्थापक का कहना था कि वह सुकरात का अनुगामी है। पर एण्टिस्थीनीज़ को सुकरात का सच्चा शिष्य नहीं मान सकते। सुकरात के सिद्धान्त की महत्ता एण्टिस्थीनीज़ के हाथ में आते ही हीन और तुच्छ हो जाती है। दोनों के प्रमुख ध्येय में भेद है। सुकरात के मानव-कल्याण की धारणा एण्टिस्थीनीज़ द्वारा अहंतावाद और वैराग्यवाद में परिणत हो जाती है। उनकी आत्मनिर्भरता अपने सजातीयों के अपमान का साधनमात्र है। कला-सौन्दर्य-प्रेमी, सांसारिक सुख और ऐश्वर्य में लीन यूनानियों को सिनिक्स ने कठोर परिश्रम और कष्ट का सन्देश दिया। किन्तु वे इस सन्देश को स्वीकार नहीं कर पाये और उससे प्रभावित नहीं हो सके। अतः यह सिद्धान्त प्रचलित और लोकप्रिय नहीं हो सका।

विश्वनागरिकतावाद स्वार्थवाद है—सिनिक्स ने विश्वनागरिकतावाद (Cosmopolitanism) की नींव डाली। उनके अनुसार नियम ही नैतिकता का मानदण्ड है, यह नियम बुद्धि देती है और यह बौद्धिक नियम सार्वभौम है। सिनिक साधु केवल विवेकजन्य नियमों को अनिवार्य मानता है और उन्हीं के अनुरूप कर्म करता है। विवेकजन्य नियम सब बौद्धिक प्राणियों के लिए समान रूप से अनिवार्य हैं। यदि सब व्यक्ति विवेकी हो जाएँ तो राजनीतिक नियमों और राष्ट्रीय भेदों का कोई मूल्य नहीं रह जायगा। स्वामी-सेवक, स्त्री-पुरुष, एक राष्ट्र और दूसरे राष्ट्र आदि के भेद टूटकर विश्वराष्ट्र की स्थापना हो जायगी और सब एक ही सार्वभौम नियम (विवेकदृष्टि द्वारा दिए हुए) का पालन करेंगे। ऐसे नियम का पालन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति

स्वतन्त्र एवं आत्मनिर्भर है। किन्तु सिनिक्स का विश्वनागरिकतावाद व्यवहार में इस सिद्धान्त से वहुत दूर है। वह शुद्ध स्वार्थवाद को मानता है। 'विश्व का नागरिक' अपने आचरण में अपने सामाजिक सम्वन्ध को भूल जाता है। व्यक्तिगत आत्मनिर्भरता को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण वे विश्ववाद को नहीं समझा पाये। वह व्यक्ति, जो कि अपने सजातीयों से घृणा करता है, विश्व-ऐक्य अथवा विश्व-प्रेम के गीत कैसे गा सकता है?

अभावात्मक पक्ष प्रमुख है—सिनिक सिद्धान्त के दो रूप हैं: भावात्मक और अभावात्मक। इस सिद्धान्त के प्रारम्भिक विचारकों ने अपने समय की भावात्मक (यथार्थ) नैतिकता को स्वीकार किया। प्रचलित व्यावहारिक सद्गुणों—न्याय, संयम आदि—को अपने-आप में शुभ माना। सिनिक्स के अभावात्मक रूप की प्रचण्डता ने उनके सिद्धान्त के भावात्मक पक्ष को अप्रमुख बना दिया। फलतः जनता के सम्मुख उनके सिद्धान्त का प्रस्फुटन अभावात्मक रूप में हुआ। नैतिकता को स्पष्ट रूप से समझाने के वदले, नैतिक नियमों को पुष्ट अथवा दोषमुक्त करने के वदले वह विद्वेषी, अहंतावादी और असामाजिक हो गया। सिनिक्स का आत्मसंयम का सिद्धान्त कठोर वैराग्यवाद पर आधारित है। सद्गुण को जीवन का ध्येय वतलाते हुए सिनिक्स ने जीवन के अभावात्मक पक्ष को महत्त्व दिया। उनके अनुसार बौद्धिक व्यक्ति सुख-दुःख की भावना से अछूता है। उसे जीवन भर शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाने चाहिए। अकीर्ति, दरिद्रता और कठोर परिश्रम नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति में सहायक होते हैं। अनुराग, आसक्ति, भावना या तीव्र भावना पाप हैं, वे वीमारी के सदृश हैं, उनका दमन अनिवार्य होना चाहिए। सद्गुणी व्यक्ति आत्मनिर्भर व्यक्ति है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता को ही सब-कुछ मानने वाला यह सिद्धान्त सामाजिक कल्याण को भूलकर परम स्वार्थवाद को अपना लेता है।

अनेक दुर्बलताओं से युक्त: वैराग्यवाद की प्रथम अभिव्यक्ति—सिनिक सिद्धान्त प्रमुख रूप से अभावात्मक और विधिवत् (Formal) है। विधि-पालन को अथवा नियमानुवर्तिता को उसने विशेष महत्त्व दिया है। नियम का

पालन करना उचित है, पर साथ ही यह जानना भी आवश्यक है कि नियम का अन्तर्तथ्य (Content) क्या है ? नियम का क्या अर्थ और सार है तथा विवेक, सद्‌गुण और कल्याण से क्या अभिप्राय है ? सिनिक्स ने जीवन के अन्तर्तथ्य को समझाए बिना ही वैयक्तिक और सामाजिक शुभ की अभावात्मक और विधिवत् व्याख्या की है। ऐसी व्याख्या का व्यावहारिक और वास्तविक मूल्य सामाजिक दृष्टि से घृणित और हेय है। उनके सिद्धान्त ने जिस रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की है वह अनाकर्षक है। सिनिक सिद्धान्त के नाम के साथ प्रकृति के प्रति आकर्षण, लोकमत की उपेक्षा, वैयक्तिक प्रतिष्ठा की कमी तथा सजातीयों के प्रति घृणा प्रसिद्ध हो गए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जिन उच्च मान्यताओं को लेकर वे प्रारम्भ में चले, अन्त में उनका उतना ही कुत्सित रूप उन्होंने सम्मुख रखा। व्यवहार में सिनिक्स अत्यन्त असामाजिक और अव्यावहारिक हो गये। उन्होंने कलाशून्यता, रूढ़ि-विरोध, अहंता, विद्वेषभाव और कुत्सित व्यवहार को अपना लिया। किन्तु फिर भी उनके सिद्धान्त की नैतिक दर्शन को एक देन है। उसने सर्वप्रथम यूनानियों में उस प्रवृत्ति को दार्शनिक अभिव्यक्ति दी जो बुद्धिमय जीवन को ही बौद्धिक प्राणी के योग्य मानती है और इन्द्रियों को आत्मा के फँसाने के लिए फन्दा मानती है। सिनिक सिद्धान्त वैराग्यवाद का प्रथम और अत्यधिक उग्र रूप है।

स्टोइक्स—स्टोइक सिद्धान्त के प्रचारक ज़ीनो[१] ने अपना भाषण देने के लिए एथेन्स में एक पाठशाला खोली। इसके लिए उसने जिस बरसाती को किराये पर लिया वह रंगीन बरसाती[२] के नाम से पुकारी गई। स्टोइक (Stoic) शब्द स्टोए (Stoa) शब्द से उद्‌भूत किया गया है। ज़ीनो के शिष्य 'स्टोए के लोग' अथवा स्टोइक्स[३] कहलाये। इस सिद्धान्त का प्रचार कर इसको प्रसिद्धि क्रिसिपस[४] ने दी। क्रिसिपस ज़ीनो का शिष्य था।

---

१. Zeno. ३४०-२६५ ई० पू०।

२. Stoa Poikile.

३. Stoics.

४. Chrysippus २८०-२०६ ई० पू०।

स्टोइक्स ने सिनिक्र सिद्धान्त 'सद्गुण ही परम शुभ है' को संवर्धित और विकसित किया। वास्तव में सिनिक सिद्धान्त दो दिशाओं में विकसित हुआ। उसकी एक शाखा परम स्वार्थवाद की ओर बढ़ी और दूसरी स्टोइसिज़्म की ओर। स्टोइक्स ने आत्मनिर्भरता का अर्थ अविचल रूप से उन कर्तव्यों का पालन माना जो स्वभावतः व्यक्ति की सामाजिक और विश्वजनित स्थिति से उत्पन्न होते हैं। इन दोनों सिद्धान्तों के मूल में आत्मा के सन्दिग्ध अर्थ हैं। स्वार्थवादियों ने आत्मा को असम्बद्ध इकाई माना और स्टोइक्स ने उसकी सामाजिक एकता को महत्त्व दिया।

सद्गुण—सिनिक्स की भाँति स्टोइक्स ने भी सद्गुण को परम शुभ कहा है। सिनिक्स ने इस कथन के अभावात्मक पक्ष को ही समझाया। सद्गुण का अर्थ उन्होंने प्रचलित नियमों और लोकरीतियों को न मानना लिया। स्टोइक्स ने इसकी भावात्मक व्याख्या करते हुए कहा कि वह अपने-आप में संगतिपूर्ण तथा प्रकृति के अनुरूप जीवन है। सिनिक्स के अनुसार विवेकी व्यक्ति के लिए कुछ भी असामान्य नहीं है। उसे लोकरीतियों की परवाह नहीं करनी चाहिए और भौतिक आवश्यकताओं को न्यूनतम कर देना चाहिए। स्टोइक्स ने सिनिक्स के ऐसे दृष्टिकोण को दार्शनिक जीवन और सामाजिक जीवन के विभाजन द्वारा समझाया। उन्होंने यह बतलाया कि सिनिक्स का कथन दार्शनिक ध्येय और सामान्य एवं निम्न इच्छाओं के विरोध को समझाता है। आचरण की ऐसी रीति अनिवार्य रीति नहीं है, किन्तु वह यह इंगित करती है कि वैरागी साधु विशिष्ट परिस्थितियों में इस रीति को अपना सकता है। सिनिक्स का लोकरीतियों के प्रति विद्वेषात्मक भाव था। स्टोइक्स ने इसको कर्तव्य के यथार्थ नियमों में परिवर्तित कर दिया। उनका कहना था कि विश्व जीवन्त बौद्धिक पूर्णता (living rational whole) है और मानव-आचरण उसका सूक्ष्म दर्शन है। विवेक का अर्थ प्रकृति की अगाध चेतना के साथ संगति है। 'जो कुछ भी प्राकृतिक है वह शुभ है', मनुष्य को केवल प्रकृति के अनुरूप रहना चाहिए। स्टोइक्स दो प्रकार के जीवन मानते हैं—प्रकृति के अनुसार और बुद्धि के अनुसार। दोनों ही परस्पर निर्भर हैं। दोनों एक-दूसरे के

अनुकूल हैं। प्रकृति के अनुसार जीवन इन्द्रियपरक जीवन है। वह मनुष्य और पशु का सामान्य जीवन है। उसमें व्यवस्था और नियम है। उसके कर्म अनायास और सहज प्रेरित हैं। वह अपने-आप में न शुभ है, न अशुभ। किन्तु यदि यह पूछा जाए कि आचरण पर नैतिक निर्णय कैसे देते हैं, अथवा जीवन में नैतिकता को कैसे आरोपित किया जा सकता है तो स्टोइक्स कहते हैं कि जब प्राकृतिक जीवन का निर्देशन स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति और बुद्धि करती है तब उनके द्वारा संचालित आचरण शुभ कहलाता है। अथवा स्टोइक्स के अनुसार प्रकृति के अनुरूप जीवन अंधप्रवृत्तियों और आवेगों का सूचक नहीं है बल्कि वह स्वतन्त्र संकल्प और बुद्धि के अनुरूप जीवन है।

भावहीनता (एपेथी) या सुख-दुःख के प्रति विरक्ति को आदर्श मानकर स्टोइक्स ने कहा कि साधु एक विकारशून्य वैरागी (Impassive sage) है। उसका विवेक निम्न प्रवृत्तियों की ओर से उदासीन है। वास्तव में, सभी जीवित प्राणियों की मूल प्रवृत्ति सुख की ओर नहीं, आत्मसंरक्षण की ओर होती है। विवेकी व्यक्ति यह जानता है कि तीव्र वासना और भावना अस्वाभाविक और अबौद्धिक है। वे मानस की अबौद्धिक और अस्वाभाविक विकृति हैं। शुभ के स्वरूप का अज्ञान ही वासना को उत्पन्न करता है। वासना आत्मा का रोग है। मनुष्य को वासनाओं के प्रति विरक्ति का भाव रखना चाहिए। उसे विवेक द्वारा भावनाओं पर नियन्त्रण रखना चाहिए।

व्यावहारिक नैतिकता : ज्ञान, सद्गुण, शुभ-अशुभ—सुकरात के अनुसार सद्गुण एक ही है और वह ज्ञान है। इस कथन की व्याख्या करते हुए स्टोइक्स ने कहा कि ज्ञान सद्गुण है। वह शुभ और सक्रिय है और वह व्यावहारिक चेतना देता है। ज्ञानी अवश्य ही शुभ कर्म करता है। मनुष्य की आत्मा आत्मचेतन सक्रिय विवेक है इसलिए वह विवेक द्वारा सद्गुणों को समझकर उन्हीं के अनुरूप कर्म करता है। जहाँ तक सद्गुणों का प्रश्न है उनमें ऐक्य है। वे अपृथक् हैं। इसका कारण यह है कि वे एक ही बुद्धि के परिणाम हैं जो कि कर्मों द्वारा अभिव्यक्ति पा रही है। वे वास्तव में ज्ञान की व्यावहारिक चेतना के प्रकार हैं। व्यावहारिक विवेक बतलाता है कि कौन कर्म शुभ हैं,

कौन अशुभ हैं और कौन उदासीन हैं (न शुभ और न अशुभ)। जहाँ तक शुभ-अशुभ का प्रश्न है, या तो वस्तुएँ शुभ ही होती हैं और या अशुभ ही, उनमें मात्राओं का भेद नहीं है। मूर्खता, अन्याय, कायरता, असंयम अशुभ हैं। वे स्वभावतः हानिप्रद हैं, अपने-आप में अवांछनीय हैं। व्यावहारिक विवेक, संयम, पराक्रम और न्याय शुभ हैं। ये सद्‌गुण हैं। स्टोइक्स के अनुसार मनुष्य विश्व का नागरिक है। उसका मानवता के लिए कर्तव्य है। स्टोइक्स का यह विश्वास था कि विवेकी व्यक्ति सद्‌गुणों के अनुसार कर्म कर सकता है और जो व्यक्ति एक सद्‌गुण का ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह सभी सद्‌गुणों का ज्ञान प्राप्त कर लेगा। अतः जिसके पास एक शुभ गुण है उसके पास सभी शुभ गुण होते हैं। विवेक द्वारा कर्मों को संचालित करने वाला व्यक्ति दुर्गुणों से मुक्त होता है।

भावहीनता की स्थिति—स्टोइक्स के अनुसार भावहीनता की स्थिति को साधु ही प्राप्त कर सकता है। वास्तव में यह स्थिति साधु के स्वभाव को प्रकट करती है। स्टोइक्स का कहना है कि भावशून्य साधु प्रकृति के अनुसार कार्य करता है। उसके जीवन और जनसाधारण के जीवन में महान् अन्तर है। उसका जीवन आध्यात्मिक और कल्याणप्रद है। बिना अन्य साधुओं का भला किये साधु अपनी उँगली तक नहीं उठा सकता। वह स्वतन्त्र होने पर भी भावनाओं और वासनाओं के वश में नहीं है। वह विकारशून्य वैरागी है। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि साधु को जनसाधारण की भाँति शारीरिक और मानसिक कष्ट नहीं होता। वह भूख-प्यास, रोग आदि के प्रति सचेत होते हुए भी उनकी ओर से विरक्त है। उसे मालूम है कि जीवन का ध्येय सद्‌गुण है। वह वास्तविक शुभ की प्राप्ति करना चाहता है। आत्मा के आनन्द का अनुभव करना चाहता है। आत्मा का आनन्द प्राप्त करने वाला साधु सचमुच ही भावनारहित नहीं है। अतः 'भावशून्य' के यथाशब्द अर्थ नहीं लेने चाहिये। साधु केवल उन वासनाओं से पराङ्‌मुख है जो सामान्य मानस को प्रभावित करती है। उसके कर्म उसकी वास्तविक एवं बौद्धिक आत्मा द्वारा संचालित होते हैं।

विश्वनागरिकतावाद—सिनिक सिद्धान्त ने बौद्धिक श्रेष्ठता के गुणगान करने में अपने सिद्धान्त को दुरात्मवादी बना दिया। उन्होंने सुकरात के कथन 'ज्ञान सद्‌गुण है' की व्याख्या करने के क्रम में प्रचलित रीति-रिवाजों की निन्दा की, समाज के प्रति विद्वेषात्मक भाव रखा। फलस्वरूप सिनिक्स का वाह्य रूप अत्यन्त कुटिल और निषेधात्मक हो गया। विश्वनागरिकतावाद मानने पर भी वे उसकी स्थापना नहीं कर पाये। उनके इस अधूरे प्रयास को स्टोइक्स ने पूरा किया। सिनिक्स का व्यक्तिवाद उनके सिद्धान्त में महान् नागरिकतावाद—विश्व नागरिकतावाद—में परिणत हो जाता है। उन्होंने लोकरीतियों, रूढ़ियों, रीति-रिवाजों, प्रचलित मान्यताओं में सत्य की खोज की और कहा कि न्याय, मित्रता, सहानुभूति की भावना आदि श्रेष्ठ हैं। वौद्धिक होने के नाते व्यक्ति विश्व का नागरिक है। उसका कर्तव्य मानवता के नियमों का पालन करना है।

आलोचना

व्यक्तिवाद—स्टोइक्स यह मानते हैं कि ज्ञान सद्‌गुण या शुभ के स्वरूप को समझाता है। वह बताता है, 'प्रकृति के अनुसार कर्म करो', 'विकारशून्य वैरागी बनो', 'विश्वप्रेमवाद को अपनाओ', साथ ही स्टोइक्स ने अपने समय की भावात्मक नैतिकता को स्वीकार करके कर्तव्य को महत्त्व दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि कर्तव्य को महत्त्व देकर उन्होंने अपने सिद्धान्त को सिनिक्स के वैयक्तिक और अभावात्मक नियम-निष्टता से मुक्त कर लिया। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि अपने इस प्रयास में वे पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाए। इसका कारण यह है कि उन्होंने सिनिक्स के उस आदर्श की पुन:स्थापना करनी चाही जिसके अनुसार आत्म-निर्भरता और आत्म-पर्याप्तता का जीवन ही आदर्श जीवन है।

जीवन की सारहीनता—स्टोइक्स ने सद्‌गुण को जीवन का ध्येय माना है। सद्‌गुण ही कल्याण है और वह प्रकृति के अनुरूप रहने से प्राप्त होता है। प्रकृति के अनुरूप रहना शुद्ध बुद्धिमय जीवन व्यतीत करना है। प्रत्येक

व्यक्ति में कुछ सरल, स्वाभाविक धारणाएँ होती हैं। ये धारणाएँ सब मनुष्यों में समान रूप से वर्तमान हैं। जब मनुष्य इन्हें समझकर इनके अनुरूप कर्म करता है तो वास्तव में वह अपने स्वाभाविक यथार्थ रूप का अनुसरण करता है। वस्तुओं का आन्तरिक स्वभाव बौद्धिक है। बौद्धिक विधान के अनुरूप कर्म करना ही उचित है। सार्वभौम लोग'स (बुद्धि) विश्व में तथा व्यक्तियों में, जो कि विश्व के अंग हैं, अभिव्यक्त होता है। बौद्धिक मनुष्य सार्वभौम बुद्धि का सहभागी है। उसे बुद्धि द्वारा निर्देशित जीवन बिताना चाहिए। स्टोइक्स के ऐसे सिद्धान्त में स्वाभाविक इन्द्रिय जीवन के लिए कोई स्थान नहीं है। बौद्धिक और अबौद्धिक तत्त्वों की संगति असम्भव है। भावना आत्मा की शत्रु है। यह उसे बाह्य जगत् से बाँधती है। बुद्धि आत्मा को उससे मुक्त करती है जो अनात्मा है, जो छायामात्र, भ्रमपूर्ण और असत्य हैं। यदि आत्मा को जीवित रखना है तो भावना को रत्ती भर भी स्थान नहीं देना चाहिए। ऐसे सिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता है, इसमें सन्देह नहीं है। दुःख के असह्य क्षणों में विरक्ति का भाव एक सबल संबल की भाँति है। वह व्यक्ति की मानसिक स्थिति को अपसामान्य होने से बचाता है, उसकी सहनशक्ति को सुदृढ़ बनाता है। किन्तु फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि भावनाहीन जीवन नीरस और निष्प्राण है। यह उस कर्तव्य की प्रभुता को भी छीन लेता है जो कि स्टोइक सिद्धान्त का प्राण है। बिना शासन और प्रजा के राजा व्यर्थ है। बिना भावना के बुद्धि मरघट के उस प्रदीप के समान है जिसका प्रकाश मृतकों के लिए है। भावनाशून्य जीवन में बुद्धि पंगु है। भावनाओं के विनाश के साथ ही वह निष्क्रिय हो जाती है। भावनाओं को कर्तव्य के मार्ग पर आरूढ़ करना बुद्धि का काम है।

कर्तव्य का सम्प्रदाय—स्टोइक्स ने, सिनिक सिद्धान्त के प्रतिकूल, विश्व में कर्तव्य का एक संगतिपूर्ण विधान देखा। कर्तव्य से उनका अभिप्राय उन कर्मों से नहीं है जिन्हें करने के लिए परिस्थितियाँ बाधित करती हैं बल्कि वे, जो विवेकसम्मत हैं। नैतिक और सांसारिक दृष्टि में भेद है। नैतिक दृष्टि से व्यावहारिक शुभ परम शुभ है। विवेकशील व्यक्ति विश्व-प्रेमी होता है। वह

सर्वत्र सार्वभौम विवेक की अभिव्यक्ति देखता है। वह पर-कल्याण को समझता है। न्याय, विश्व-प्रेम और मित्रता की भावना प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को मूल्यता प्रदान करती है। स्टोइक्स वास्तव में कर्तव्य के सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। कर्तव्यनिष्ठ होना ही धार्मिक होना है। मनुष्य को न्यायप्रिय होना चाहिए। उसे अन्याय से विमुख करने के लिए भगवान् का भय दिखाना उचित नहीं है। उसमें अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। स्टोइक्स का धर्म नैतिक विश्वास पर आधारित है। उन्होंने प्रचलित नैतिकता तथा नैतिक सिद्धान्तों को प्रभावित किया। सर्वप्रथम उन्होंने कर्तव्य के अधिकार और प्रभुत्व की धारणा को व्यवस्थित रूप दिया। बाद में कांट ने इस धारणा को भली-भाँति समझाया और अपने सिद्धान्त को इस पर आधारित किया।

सुख का स्थान—ऍपिक्यूरस के सिद्धान्त के विरुद्ध स्टोइक्स ने यह सिद्ध किया कि सब इच्छाएँ सुख के लिए नहीं होती हैं। इस सत्य को समझने पर भी उन्होंने एक अन्य भूल की। इस मनोवैज्ञानिक सत्य पर अपने नैतिक सिद्धान्त को आधारित कर उन्होंने कहा कि सुख शुभ नहीं है, उसको आचरण का ध्येय नहीं मानना चाहिए। किन्तु यह कहना उचित नहीं है। सुख कल्याण का अनिवार्य अंग है क्योंकि वह ध्येय की इच्छा में निहित है।

महानता—स्टोइसिज्म के प्रादुर्भाव के समय यूनान के राष्ट्रीय जीवन का पतन हो चुका था। उस समय के नागरिक और राजनीतिक जीवन में स्वतन्त्रता और मानव-गौरव के बोध के लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। लोगों का ध्यान जीवन के आन्तरिक सत्य की ओर आकर्षित हुआ। उन्होंने सर्वत्र सार्वभौम बुद्धि की अभिव्यक्ति ही देखी। बुद्धि ही मनुष्य को मनुष्य से युक्त करती है, सबको एकता के सूत्र में बाँधती है; साथ ही वह प्रत्येक व्यक्ति को मनुष्य का गौरव देती है। इस भाँति उन्होंने यह समझाया कि सब मनुष्य समान हैं। उन्होंने दास और स्वतन्त्र नागरिक को समानता के सूत्र में बाँध दिया। समानता की धारणा ने विश्व नागरिकतावाद अथवा विश्व-बन्धुत्व को जन्म दिया तथा पारस्परिक निर्भरता और कर्तव्य की पारमार्थिक भावनाओं को उत्पन्न किया। कुछ लोगों के अनुसार यह श्रेय ईसाई धर्म को

मिलना चाहिए। किन्तु ईसाई धर्म की उक्तियाँ भावुक और रहस्यात्मक हैं। प्रारम्भिक ईसाइयों ने तो दास प्रथा का मानव-संस्था के रूप में विरोध तक नहीं किया। स्टोइसिज़्म ने चिन्तन-प्रधान और व्यावहारिक दृष्टिकोण को अपनाकर अपने सिद्धान्त को प्रभावोत्पादक और सक्रिय बनाया। मनुष्य के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को महत्त्व देकर स्टोइसिज़्म ने पहली बार कानूनी अधिकारों के सिद्धान्त को एक सुरक्षित आधार दिया। आगे चलकर अधिकार और कर्तव्य के व्यापक तथा व्यवस्थित नियम बने जिन्होने रोमन कानून के नाम से प्रसिद्धि पाई। सच तो यह है कि स्टोइसिज़्म यूनानी जगत् को प्रभावित नहीं कर पाया। उसका प्रभाव रोमन और ईसाई जगत् पर पड़ा और आधुनिक जगत् को उसने ईसाई धर्म के माध्यम से प्रभावित किया।

१५

बुद्धिपरतावाद (परिशेष)

अर्वाचीन उग्र बुद्धिपरतावाद—कांट

जीवन में नियमनिष्ठता का प्राधान्य—इमैनुअल कांट[१] के दर्शन में बुद्धिपरतावाद का चरम उत्कर्ष मिलता है। यह जर्मन दार्शनिक थे। इनका लगभग सम्पूर्ण जीवन कोनिग्सवर्ग[२] में व्यतीत हुआ। प्रारम्भ में वह अपने नगर के विद्यार्थी थे और फिर वाद में शिक्षक, लेखक तथा दार्शनिक बने। धार्मिक वातावरण में पलने के कारण कांट ने शान्त, नियमनिष्ठ तथा कर्तव्यपरायण जीवन को अनायास ही अपना लिया। अपने प्रदेश के तात्कालिक राष्ट्रीय और सामाजिक परिवेश के प्रभाववश भी उन्होंने नियमनिष्ठ और आत्मनिर्भर जीवन को स्वीकार किया। उनका जीवन नियमानुर्वतिता का जीवन था और उनका चरित्र नियमनिष्ठ का चरित्र। उनका नैतिक दर्शन कर्तव्य नियम का दर्शन है। वास्तव में वह नियमितता के प्रेमी थे; आयु की वृद्धि के साथ उनमें नियमितता की भी वृद्धि होती गई। दार्शनिक कांट के वाह्य जीवन का रूप यान्त्रिक था, सब-कुछ निश्चित और निर्धारित था। सबेरे उठने से लेकर रात को सोने तक उनके प्रत्येक कर्म—कॉफ़ी पीना, लिखना, भाषण देना, खाना-पीना, घूमना आदि—विधिवत् होते थे। उनके बारे में यह प्रसिद्ध है कि ठीक साढ़े चार बजे—चाहे कैसा ही मौसम हो—जब वह घूमने के लिए निकलते थे तब लोग उनका प्रसन्नवदन अभिवादन करते हुए अपनी घड़ियाँ मिलाते थे।

---

१. Immanuel Kant 1724-1804.

२. Prussia, Konigsberg.

नैतिक अनुभव—कांट की नैतिकता में दृढ़ श्रद्धा थी। उन्होंने नैतिकता को अपने तत्त्वदर्शन से संयुक्त किया। उनका विश्वास था कि नैतिक अनुभव के द्वारा ही मनुष्य अनुभवात्मक आत्मा (Empirical self) से ऊपर उठकर परात्पर आत्मा (Trascendental self) को प्राप्त कर सकता है और दृष्यमान् जगत् से परे परमार्थ के साथ सम्वन्ध स्थापित कर सकता है। इच्छाओं और भावनाओं के जगत् में रमने वाली आत्मा अनुभवात्मक आत्मा है। वह वस्तु-जगत् का सदस्य है। परात्पर आत्मा परमार्थ सत्ता की सदस्य है। कांट के सम्मुख मनुष्य के दो रूप हैं—नैतिक आदर्शस्वरूप व्यक्ति और अनुभवात्मक व्यक्तित्व का अभिलाषी व्यक्ति। पहला व्यक्ति ही दूसरे व्यक्ति का आदर्श तथा मूल रूप है। अतः अनुभवात्मक व्यक्ति को आदर्श व्यक्ति का आदर करना चाहिए।

मनुष्य स्वशासित है—कांट का कहना था कि मनुष्य स्वशासित (Autonomous) है। उसके कर्म आत्म-नियमित हो सकते हैं। आत्म-नियन्त्रित होना मनुष्य की स्वभावगत विशेषता तथा विशिष्ट अधिकार है। पशु एवं निम्न प्राणियों और मनुष्य में मुख्य भेद यही है। पशु परतन्त्र है। वह वाह्य संवेदनों से शासित है। मनुष्य दो धरातलों का प्राणी है। एक ओर तो वह संवेदनशील प्राणी (Sentient being) तथा सजीव सृष्टि का साझेदार है और जीवन के प्रति संवेदनशील है जिसके कर्मों को सुख और दुःख की भावनाएँ परिचालित करती हैं और इच्छाओं की तृप्ति एवं सुख ही जिसके कर्मों का स्वाभाविक प्रेरक है; दूसरी ओर वह वौद्धिक प्राणी है और अपने बौद्धिक संकल्प (Rational will) द्वारा वह सार्वभौम बुद्धि का पालन करता है। यही उसमें तथा निम्न प्राणियों में मुख्य अन्तर है। प्रकृति में प्रत्येक वस्तु नियमों के अनुरूप कर्म करती है। मनुष्य में इतनी शक्ति है कि वह नियम की धारणाओं एवं सिद्धान्तों को समझकर उनके अनुरूप कर्म कर सकता है। उसमें संकल्प है और यही वह शक्ति है जो आदेश देती है। नैतिक कर्तव्य की चेतना स्वतन्त्रता की चेतना के साथ अविच्छिन्न रूप से मिली हुई है। संकल्प करने वाली आत्मा स्वतन्त्र है, वह परात्पर आत्मा है। नैतिक चेतना मनुष्य को यह

दृढ़ विश्वास दिलाती है कि वह स्वतन्त्र है। उसे इस सत्य का बोध कराती है कि उसे वही करना चाहिए जो कि उचित है अथवा उसे इच्छा के मार्ग में नहीं चलना चाहिए। नैतिक चेतना बतलाती है कि यदि व्यक्ति किसी कर्म को उचित समझता है तो वह उस कर्म को करने की शक्ति भी रखता है। बौद्धिक प्राणी जब नैतिक नियम का पालन करता है तब कहा जाता है कि वह आन्तरिक नियम का पालन कर रहा है; अपने बौद्धिक और सत्य स्वरूप के अनुरूप कर्म कर रहा है। बौद्धिक प्राणियों के कर्म सुख-दुःख की भावनाओं, बाह्य शक्तियों एवं अबौद्धिक आत्मा द्वारा यान्त्रिक रूप से निर्धारित नहीं होते। उन्हें बौद्धिक या सत्य आत्मा का सिद्धान्त निर्धारित करता है। इस अर्थ में मनुष्य की स्वतन्त्रता आत्म-आरोपित नियम का पालन करने पर निर्भर है। बुद्धि के आदेश की अवज्ञा करना मनुष्य के लिए उचित नहीं है। यह अपने स्वरूप का—अपनी बौद्धिक आत्मा का—निराकरण करना है। अपनी इस श्रेष्ठता के कारण वह बुद्धि के उच्च नियमों से शासित है, न कि इन्द्रियपरक जीवन के नियमों से। यदि वह शुद्ध बुद्धि होता तो उसका जीवन संघर्षहीन होता। दो भिन्न धरातलों से संयुक्त होने के कारण उसमें आन्तरिक द्वन्द्व होता है। भावनाएँ उसे अपनी ओर खींचती हैं और संकल्प अपने निरपेक्ष आदेश को आरोपित करता है। बौद्धिक होने के कारण उसे चाहिये कि केवल बौद्धिक आदेश का पालन करे। बौद्धिक आदेश का पालन करना ही आत्म-आरोपित नियम का पालन करना है। यही मनुष्य की स्वतन्त्रता है।

स्वशासित जीवन में भावना के लिए स्थान नहीं है; सुखवाद अनैतिक है—कांट उन सभी सिद्धान्तों को सुखवाद के अन्तर्गत मान लेता है जो इच्छाओं की तृप्ति को कर्म का प्रेरक मानते हैं। इन सिद्धान्तों ने बुद्धि के साध्य रूप को नहीं समझा है और बाह्य शक्तियों से शासित जीवन को स्वीकार कर बुद्धि को इच्छाओं के ध्येयों की प्राप्ति के लिए साधनमात्र माना है। बुद्धि अपने-आप में सक्रिय है, इस तथ्य से सुखवाद अनभिज्ञ है। उसने सुख को आदर्श मानकर इच्छाओं की तृप्ति को ध्येय मान लिया है और क्षणिक इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति का आदेश दिया है। कांट

के अनुसार विशिष्ट इच्छाओं की पूर्ति द्वारा सुख प्राप्त करने के लिए वैधानिक आदेशों (Technical imperatives) का प्रतिपादन किया जा सकता है। ये निश्चित और निरपेक्ष आदेश (definite and categorical imperative) नहीं हैं। इसका कारण यह है कि सुख का विषय परिवर्तनशील है तथा इच्छाएँ और प्रवृत्तियाँ आत्मगत और वैयक्तिक हैं। बौद्धिक जीवन ही मनुष्य के लिए आदर्श जीवन है। जीवन का ध्येय सुख नहीं, सद्गुण है। कर्म को सुख की समस्त धारणाओं से मुक्त कर देना चाहिये।

बौद्धिक नियम ही नैतिक नियम है। नैतिक नियम उस सिद्धान्त को स्थापित करता है जिसमें कि अपवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। वह आदेश देता है, न कि सम्मति। उसका आदेश निरपेक्ष है और आदेश का निरपेक्ष रूप बतलाता है कि कर्म के परिणाम पर ध्यान नहीं देना चाहिये। नैतिकता का यथार्थतः परिणाम से कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्मों का परिणाम उन्हें नैतिक मूल्य नहीं देता है। सिद्धान्त के अनुरूप किया हुआ कर्म ही उचित है। सच्चे रूप में मानवीय अथवा शुभ होने के लिए कर्म की उत्पत्ति आदेश के प्रति श्रद्धा से ही होनी चाहिये। यदि कर्म किसी निम्न प्रेरणा से लेशमात्र भी युक्त हो गया तो वह अनैतिक हो जायेगा। कर्म का शुभत्व उसके आन्तरिक बौद्धिक रूप पर निर्भर है।

नैतिक आदेश-निरपेक्ष आदेश—कांट की नैतिकता में दृढ़ श्रद्धा थी। वह तर्क द्वारा उसे सिद्ध नहीं करता है और न वह यही मानता है कि अनुभव उसके सिद्धान्त को समझा सकता है। वह एक दार्शनिक स्तर पर सदाचार के नियमों का प्रतिपादन करता है। उसका कहना है कि कर्तव्य का आधार मनुष्य की संवेदनशील प्रकृति नहीं है, परात्पर आत्मा ही नैतिक अनुभूति के मूल में है। जब व्यक्ति नैतिक संकल्प के अनुरूप कर्म करता है तब वह अपना सम्बन्ध परमार्थ सत्ता के साथ स्थापित कर लेता है। दृश्यमान् जगत् की वस्तुओं के विश्लेषण द्वारा नैतिक कर्तव्य के स्वरूप को नहीं समझा सकते हैं। विश्व की विभिन्न परिस्थितियाँ, परिवेश, वातावरण, समाज आदि का ज्ञान, नैतिकता के मूल सिद्धान्त को नहीं समझा सकता। जिस प्रकार बुद्धि की धारणाओं को

इन्द्रियजन्य विषयों में नहीं ढूँढ़ सकते हैं उसी प्रकार कर्तव्य का स्वरूप इस पर निर्भर नहीं है कि मनुष्य विशिष्ट वस्तु की इच्छा करता है अथवा उसमें किसी विशिष्ट कर्म करने की प्रवृत्ति है। मनुष्य का मानसिक व्यक्तित्व (psychological personality) कर्तव्य को नहीं समझा सकता। कर्तव्य का सम्बन्ध अनुभवात्मक आत्मा से भिन्न परात्पर आत्मा से है। नैतिकता व्यावहारिक बुद्धि की उपज है। वह अनुभव-निरपेक्ष है। शुद्ध नैतिकता मनोविज्ञान पर आधारित नहीं है यद्यपि उसका प्रयोग मनोविज्ञान में कर सकते हैं। नैतिक नियमों को आरोपित करने के लिए मानव-स्वभाव का ज्ञान और विश्व का अनुभव-सापेक्ष ज्ञान आवश्यक है। किन्तु जहाँ तक केवल नैतिक ज्ञान का प्रश्न है, यह अनुभव-निरपेक्ष है। नैतिक बुद्धि ही मनुष्य को उसके निरपेक्ष एवं एकांतिक कर्तव्य (unconditional duty) का ज्ञान देती है। उसके नियम अनुभव-निरपेक्ष हैं। उसका आदेश परम आदेश (categorical imperative) है। इस आदेश की व्युत्पत्ति व्यक्ति के संकल्प से बाहर अन्य किसी ध्येय के विचार से सम्भव नहीं है। बाह्य ध्येय अनुभव पर निर्भर है। अतः वह केवल सांकेतिक आदेश (hypothetical imperative) दे सकता है। वह स्थिति-विशेष के अधीन है। उस आदेश के अनुसार यदि कर्ता किसी विशिष्ट ध्येय की प्राप्ति करना चाहता है तो उसे एक विशिष्ट प्रकार से कर्म करना होगा। कर्तव्य का आदेश निरपेक्ष है। उसका किसी ऐसे बाह्य ध्येय से सम्बन्ध नहीं है जिसकी ओर संकल्प प्रेरित हो बल्कि वह स्वतः संकल्प के उचित प्रयोग से ही सम्बद्ध है। नैतिक आदेश परिस्थिति-विशेष की चिन्ता नहीं करता। उसके अनुसार चाहे कुछ भी हो जाए, व्यक्ति को उसके अनुरूप आचरण करना चाहिए। यह कारण-सापेक्ष आदेश नहीं है, निरपेक्ष-आदेश है। कारण-सापेक्ष आदेश प्रतिदिन के क्रियाकलाप, इच्छा, भावना, परिवेश, जगत् की प्रकृति आदि पर निर्भर है। वह सार्वभौम और अनिवार्य नहीं है। किन्तु कर्तव्य की बाध्यता अनिवार्य है। कर्तव्य की चेतना अथवा 'करना चाहिए' की चेतना अनिवार्यता की सूचक है। कर्तव्य, कर्तव्य के लिए करना ही धर्म है। कर्तव्य का आदेश नैतिक बुद्धि या शुभ संकल्प का आदेश है। बुद्धि का आत्मारोपित

नियम अपने परम और निश्चल आदेश द्वारा एकान्तिक निष्ठा की अपेक्षा रखता है। वह मनुष्य के अन्दर परम और पूर्ण आदेश के रूप में व्यक्त होता है।

शुभ संकल्प—परम आदेश का उद्‌गम क्या है? वह कहाँ से आता है? कांट का कहना है कि वह परिस्थितियों पर निर्भर नहीं है। परिस्थितिजन्य आदेश कारण-सापेक्ष आदेश हैं। परम आदेश का उत्पत्ति-स्थल कर्ता का सत्य स्वरूप है। उसका स्रोत नैतिक मनुष्य का स्वभाव है। कर्ता कर्म करते समय संकल्प के रूप में उसे व्यक्त करता है और संकल्प का स्वरूप ही कर्म के नैतिक मूल्य को निर्धारित करता है। शुभ संकल्प ही तत्त्वतः शुभ है। वही नैतिक एवं शुभ कर्म के मूल में है। शुभ संकल्प की क्या पहचान है? वही संकल्प शुभ है जो बौद्धिक है। बौद्धिक संकल्प को कैसे समझ सकते हैं? संकल्प के चयन का विश्लेपण बतलाता है कि उसके दो अंग हैं—बौद्धिक और अबौद्धिक। वह भावनाओं, आवेगों आदि पर बौद्धिक नियन्त्रण रखता है। बौद्धिक योजना के अनुरूप उन्हें निर्देशित करता है। यह बतलाता है कि संकल्प का सत्य रूप बौद्धिक है। इसके बौद्धिक रूप को यह कहकर समझाया जा सकता है कि प्रत्येक अंगी स्वाभाविक प्रकृतिवश अपने संरक्षण और सुख के लिए प्रयास करता है। अंगी के संरक्षण एवं शारीरिक संरक्षण के दृष्टिकोण से बुद्धि व्यर्थ है। अतः बुद्धि मनुष्य को इसलिए प्राप्त नहीं हुई है कि वह अंगी के लिए उपयोगी सिद्ध हो। बुद्धि के कर्म का क्षेत्र भिन्न है। उसका उचित क्षेत्र संकल्प का क्षेत्र है। अपने सिद्धान्त के अनुरूप संकल्प को निर्देशित करना तथा बौद्धिक संकल्प को उत्पन्न करना बुद्धि का काम है। संकल्प का शुभत्व उसके बौद्धिक होने पर निर्भर है। वही संकल्प शुभ है जो बौद्धिक है। कांट का यह कहना था कि शुभ संकल्प के अतिरिक्त विश्व में अथवा विश्व से परे ऐसा कुछ भी नहीं दीखता है जिसे कि बिना किसी विशेपण के शुभ कह दें। अथवा शुभ संकल्प ही एकमात्र वह वस्तु है जिसे कि बिना किसी सीमा के शुभ कह सकते हैं। उसका स्वरूप उसके ही आन्तरिक सिद्धान्त पर निर्भर है। वह विश्व की कार्य-कारण-श्रृंखला से स्वतन्त्र है। उसका शुभत्व परिस्थिति-

विशेष द्वारा निर्धारित नहीं होता है। वह अपने-आप में शुभ है, न कि बाह्य तथ्यों और ध्येयों के सम्बन्ध में। उसका शुभत्व न तो उस ध्येय पर निर्भर है जिसे वह खोजता है और न उसकी उपयोगिता पर ही निर्भर है। उसे न तो उस स्वाभाविक प्रवृत्ति (चाहे वह शुभ प्रवृत्ति ही हो) के सम्बन्ध में शुभ कह सकते हैं जो कि उसे निर्धारित करती है और न किसी अन्य वस्तु से सम्बन्धित होकर ही वह शुभ होता है। वह सबसे स्वतन्त्र तथा अपने-आप में शुभ और स्वप्रकाश है। वह अपनी ज्योति से उसी प्रकार ज्योतित है जिस प्रकार कि बहुमूल्य मणि अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होती है। अत: कांट इस परिणाम पर पहुँचता है कि बौद्धिक संकल्प या शुभ संकल्प ही एकमात्र शुभ है और शुभ संकल्प कर्तव्य के लिए कर्म करता है। कांट का यह कथन उसके सिद्धान्त के उस पक्ष की ओर ले जाता है जो कर्तव्य और स्वाभाविक प्रवृत्तियों, नैतिक प्रेरणा, परिणाम तथा सामान्य प्रेरणाओं के बीच स्पष्ट विरोध का स्थापक है।

कर्तव्य और प्रवृत्ति—कांट के सिद्धान्त में कर्तव्य की धारणा का प्रथम बार स्पष्ट रूप मिलता है। वास्तव में उसने कर्तव्य की धारणा से ही शुभ की धारणा का निगमन किया। उसका कहना था कि बौद्धिक प्राणी होने के कारण मनुष्य अपने को बुद्धि के उस उच्चतर नियम से शासित करता है जो कि इन्द्रियपरता की उपेक्षा करता है। शुभ संकल्प के अनुरूप कर्म करना उचित है। शुभ संकल्प का विशिष्ट गुण यह है कि वह अपने-आप में शुभ है। वह सिद्धान्त के अनुरूप कर्म करता है। बौद्धिक प्राणी होने के कारण मनुष्य अपने में एक ऐसा जीवन चाहता है जो बुद्धि की सृष्टि है। बौद्धिक प्राणी अपने-आप में साध्य है। उसे किसी अन्य साध्य के लिए अपने को साधन नहीं बनाना चाहिए। बौद्धिक प्राणी अबौद्धिक या संवेदनशील व्यक्ति को परम आदेश देता है कि 'कर्तव्य का पालन करो।' यह आदेश अनिवार्य है। बुद्धि को साध्य मानने वाला अथवा कर्तव्य की प्रेरणा से कर्म करने वाला अबौद्धिक कर्मों को नहीं करेगा। कोई कर्म, चाहे वह कितना ही प्रशंसनीय क्यों न हो, यदि उसकी उपज स्वाभाविक प्रवृत्ति से हुई हो, यहाँ तक कि सहानुभूति और

दया से भी हुई हो तो वह नैतिक दृष्टि से शुभ नहीं है। ऐसे कर्मों को प्रोत्साहित करना वांछनीय तो है पर ऐसे कर्मों को शुभ नहीं कह सकते। इच्छाओं और भावनाओं से युक्त कर्म अनैतिक हैं। प्रवृत्ति से किया हुआ कर्म कर्तव्य के अनुरूप हो सकता है किन्तु वह सदैव नैतिक मूल्य से रहित रहेगा। यदि कर्त्ता किसी को इस कारण सहायता देता है कि वह सहानुभूति से द्रवित हो गया है अथवा उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति ने उसे प्रेरित किया है तो ऐसा कर्म अनैतिक है और यदि वह बिना दूसरे के दु:ख से दुखी हुए कर्तव्यवश उसे सहायता देता है तो वह कर्म शुभ है। कर्म तभी शुभ है जब वह बौद्धिक संकल्प से किया गया हो अथवा जब वह कर्तव्य के लिए किया गया हो। कर्तव्य कर्तव्य के लिए करना चाहिए। कर्तव्य से किया हुआ कर्म ही नैतिक कर्म है। कर्तव्य की चेतना ही संचालिका चेतना होनी चाहिए। कर्तव्य की प्रेरणा से कर्म करने चाहिए। अन्य प्रेरणाएँ नैतिक मूल्यहीन हैं। कर्तव्य की प्रेरणा के सिवाय अन्य प्रेरणाएँ प्रवृत्तियों का ही रूप हैं। वे विभिन्न प्रवृत्तियों, आवेगों एवं सुख की इच्छाओं को व्यक्त करती हैं। इस प्रकार कांट ने प्रेरणाओं को दो वर्गों में बाँट दिया है—कर्तव्य की प्रेरणा और प्रवृत्तियों को व्यक्त करने वाली प्रेरणाएं। उसने प्रेरणा और परिणाम तथा बुद्धि और प्रवृत्तियों में भी पूर्ण विरोध पाया है। बुद्धि का आदेश परम आदेश है। वह कर्तव्य का आदेश है। कांट कहता है, 'अपना कर्तव्य करो, चाहे परिणाम कुछ भी हो।' बौद्धिक आदेश मनुष्य पर अपने को आरोपित करता है और बिना परिणाम को महत्त्व दिये संकल्प को कर्म में परिणत करता है। वह आदेश प्रत्यक्ष सिद्ध है।

सद्‌गुण और आनन्द—कांट के पूर्व के नीतिज्ञों ने नैतिकता को परम शुभ की धारणा पर आधारित किया है। परम शुभ सद्‌गुण और आनन्द दोनों का अपने में समावेश करता है। कांट मानता है कि उच्चतम शुभ में ये दोनों ही हैं। किन्तु वह परम शुभ और नैतिक शुभ को एक ही नहीं मानता; दोनों में भेद देखता है। नैतिकता पूर्ण तटस्थता की अपेक्षा रखती है, वह भावना को आकर्षित नहीं करती। वह अपने को संकल्प पर आरोपित करती है। अतः आनन्द से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। परम शुभ अभीष्ट वस्तु है। किन्तु

वह इस जीवन में अलभ्य है। जहाँ तक नैतिक जीवन का प्रश्न है मनुष्य को कर्तव्य के लिए कर्म करना चाहिए। कर्तव्य को सुख के लिए साधन मानकर नहीं करना चाहिए। कर्तव्य के लिए कर्म को महत्त्व देने के साथ ही वह यह स्वीकार करता है कि बौद्धिक रूप से तब तक भली प्रकार से कर्तव्य नहीं किया जा सकता जब तक यह आशा न हो कि आनन्द मिलेगा। यहाँ पर वह परम शुभ की धारणा पर आ जाता है और कहता है कि व्यक्ति के लिए अपने निजी सुख का ध्यान रखना विवेकसम्मत है। पर उचित बौद्धिक आत्म-प्रेम केवल सामान्य सुख की ही खोज नहीं करता, बल्कि वह उस सुख की खोज करता है जिसका नैतिक मूल्य है। व्यक्ति के लिए परम शुभ न तो केवल सद्‌गुण है और न केवल आनन्द, वह वह नैतिक राज्य है जहाँ सुख और सद्‌गुण परस्पर सन्तुलित हैं। बिना ऐसे राज्य को स्वीकार किये नैतिकता के उच्च और महान् विचार प्रशंसा और श्रद्धा के विषय भले ही हो सकते हों किन्तु उनकी वास्तविक देन कुछ नहीं हो सकती। वे कर्मों और उद्देश्यों के वास्तविक प्रेरणा-स्रोत नहीं बन सकते। बौद्धिक रूप से मनुष्य नैतिक कर्मों को तब तक नहीं अपना सकेगा जब तक उसे यह आशा न हो जाये कि उसे आनन्द मिलेगा। नैतिक शुभ का लक्ष्य परम शुभ है और परम शुभ आनन्द और सद्‌गुण का ऐक्य है।

नैतिक नियम रूपात्मक है—शुभ संकल्प ही एकमात्र शुभ है। इसका सिद्धान्त इसी में है। यह कथन बतलाता है कि नैतिक नियम कोई विशिष्ट विषय (Content) नहीं हो सकता। वह विशिष्ट वस्तुओं के बारे में नहीं बताता है। वह इस काम को करो और इस काम को मत करो, नहीं कहता। नैतिक नियम अनिवार्य और सार्वभौम हैं। विशिष्ट वस्तुएँ अनुभव-सापेक्ष और अनिश्चित हैं, अतः नैतिक नियम का सम्बन्ध किसी वस्तु से नहीं हो सकता। वह नहीं बतलाता कि कर्म का क्या वस्तुतत्त्व (matter) होना चाहिए। वह केवल उनके रूप (form) के बारे में बतला सकता है। नैतिक नियम बुद्धि से प्राप्त होता है, न कि भावना से। अतः यह विषयात्मक (material) नहीं हो सकता। यदि इसे विषयात्मक मान लें तो नैतिक सिद्धान्त ध्येय या परिणाम से युक्त हो जाएगा जो कि अनुचित है। नैतिक सिद्धान्त अपने-आप

में शुभ है। वह रूपात्मक तथा अनुभव-निरपेक्ष है और व्यावहारिक बुद्धि की देन है। कांट के पूर्व के विचारकों ने नियम की धारणा को शुभ की धारणा के अधीन माना है। कांट ने नैतिकता के सिद्धान्त को केवल रूपात्मक माना है। यह आवश्यक है कि संकल्प विषयवस्तु से तटस्थता की विशिष्ट स्थिति में हो किन्तु फिर भी वह नैतिक विश्व से असम्बद्ध नहीं है। नैतिक सिद्धान्त प्रत्येक बौद्धिक व्यक्ति के लिए समान है। वह उस समाज से सम्बन्ध रखता है जहाँ कि प्रत्येक प्राणी समान रूप से स्वशासित है।

आचरण-विधियाँ—यदि नैतिकता का सिद्धान्त रूपात्मक है और उसका कोई विशिष्ट विषय नहीं है तो आचरण के नियमों का प्रतिपादन कैसे किया जा सकता है? क्या वह व्यावहारिक नियम दे सकता है? कांट का कहना है कि कर्तव्य के सब नियम 'कर्तव्य कर्तव्य के लिए करना चाहिए' को अभिव्यक्त करते हैं। कर्तव्य के सिद्धान्त अथवा परम आदेश के आधार पर व्यावहारिक नैतिक नियमों को प्राप्त किया जा सकता है। बौद्धिक अन्तर्दृष्टि अथवा नैतिक अन्तर्ज्ञान वाले व्यक्ति के लिए ये नियम उतने ही स्पष्ट, सुगम और सरल हैं जितना यह कथन कि दो और दो का जोड़ चार होता है। बुद्धि के आदेश परम और सार्वभौम हैं। वे प्रत्येक बौद्धिक प्राणी पर अपने को आरोपित करते हैं। वे प्रत्यक्ष और स्पष्ट हैं। बुद्धि बतलाती है कि कर्मों में आत्म-संगति (Self-consistency) होनी चाहिए। आत्म-संगति का नियम अथवा बाध-नियम (Law of contradiction) कहता है कि एक ही कर्म उचित और अनुचित दोनों ही नहीं हो सकता। यदि कर्म एक परिस्थिति में उचित है तो वह सभी परिस्थितियों में उचित रहेगा। यदि कर्त्ता की प्रेरणा बौद्धिक है तो किसी कर्म को किसी एक परिस्थिति में वह तब तक नहीं कर सकता जब तक कि वह यह भी न चाहे कि वह कर्म सार्वभौम रूप ग्रहण कर सके। जिन सिद्धान्तों पर बौद्धिक प्राणी कर्म करते हैं वे ऐसे होने चाहिए जिन्हें वे अपने जीवन भर अपना सकें और साथ ही दूसरों पर भी आरोपित कर सकें। उदाहरणार्थ, "तुम दूसरों के लिए वैसा ही करो जैसा कि तुम दूसरों से अपने प्रति किये जाने की आशा करते हो।" अतः कांट ने

कहा कि "उस सिद्धान्त के अनुसार कर्म करो जिसके वारे में तुम यह भी इच्छा कर सको कि वह एक सार्वभौम नियम वन जाए।" कांट का विश्वास था कि यह नीतिवाक्य विशिष्ट कर्तव्यों को निर्धारित करने के लिए पर्याप्त मानदण्ड है। इस नीतिवाक्य के व्यावहारिक रूप को समझाने के लिए वह शपथ तोड़ने का उदाहरण देता है। वह कहता है कि यदि इसे सार्वभौम रूप दे दिया जाए—प्रत्येक शपथ तोड़ने लगे—तो शपथ लेने का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। मनुष्य के कर्मों में संगति और समानता होनी चाहिए। प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व (Personality)—बौद्धिक स्वरूप—स्वत: मूल्यवान् है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि जब वह किसी नियम को वनाता है अथवा किसी आचरण को अपनाता है तो उसे केवल अपने ही लाभ का ध्यान नहीं रखना चाहिए। अपने ही समान उसे दूसरों को भी किसी अन्य ध्येय के लिए साधन नहीं मानना चाहिए। अथवा इस प्रकार कर्म करना चाहिए कि "समस्त मानवता को, चाहे वह अपने व्यक्तित्व के रूप में हो या किसी दूसरे व्यक्ति के रूप में,—तुम प्रत्येक अवस्था में साध्य समझ सको, न कि साधन।" बौद्धिक संकल्प अपना नियम स्वयं वनाता है और स्वयं उसका पालन करता है। आत्म-आरोपित नियम का पालन करना अनिवार्य है। उसकी बाध्यता आन्तरिक है, न कि वाह्य। आत्म-आरोपित होने के कारण ही वह परम आदेश के रूप में व्यक्त होता है। मनुष्य उस नियम के अधीन है और उसके अधीन होना ही मनुष्य की स्वतन्त्रता है। "इस प्रकार कार्य करो कि तुम पूर्णता के सार्वजनिक राज्य (Universal Kingdom of Ends) में अपने सिद्धान्तों द्वारा नियमों के विधायक वन सको।" कांट उस पूर्णता के राज्य की कल्पना करता है जहाँ कि बौद्धिक प्राणियों का समुदाय वास करता है। इस समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति अपने आन्तरिक नियम का पालन करता है और वह स्वशासित है। आन्तरिक नियम एवं बौद्धिक नियम सार्वभौम· नियम भी है। आत्म-आरोपित नियमों का पालन करने वाले प्राणियों के राज्य में संगति और सामंजस्य है। नैतिक राज्य विरोधी इकाइयों तथा स्वार्थी प्रवृत्तियों का अस्वाभाविक संगठन नहीं है। वह बौद्धिक संकल्पों की आन्तरिक एकता को व्यक्त करता है।

नैतिकता स्वार्थी प्रवृत्तियों के विरोध को मिटा देती है।

आलोचना

नीतिवाक्य असन्तोषप्रद हैं—यदि आचरण को सुनिर्देशित करने के लिए कांट के नीतिवाक्यों का अध्ययन किया जाए तो उन्हें केवल रूपात्मक पायेंगे। उनके आधार पर विशिष्ट कर्तव्यों की रूपरेखा निर्धारित नहीं की जा सकती और न यही कहा जा सकता है कि क्या करना चाहिये। क्या कांट के नीतिवाक्य व्यावहारिक दृष्टि से मूल्यहीन हैं ? कांट ने वास्तव में परम आदेश को पाँच नीतिवाक्यों द्वारा व्यक्त किया है। किन्तु उन पाँचों को उपर्युक्त तीन वाक्यों के अन्तर्गत समझाया जा सकता है। कांट के ये नीतिवाक्य बतलाते हैं कि कर्म का सार्वभौम होना, विरोधरहित होना ही उसकी नैतिकता का चिह्न है।

बाध-नियम की सीमाएँ—यदि हम आचरण के नियम को सार्वभौम भी मान लें तो हम देखते हैं कि सब कर्म वैयक्तिक और विशिष्ट होते हैं। नियम के लिए यह सुझाव देना आवश्यक है कि विशिष्ट कर्तव्यों का स्वरूप कैसा होना चाहिये। कर्तव्य की चेतना से यह कैसे समझ सकते हैं कि सत्य बोलना उचित है अथवा चोरी करना अनुचित है। यह कैसे मालूम होता है कि वर्तमान परिस्थिति में क्या करना उचित है। कांट ने बौद्धिक संगति के नियम अथवा बाध-नियम को दिया है, किन्तु बाध-नियम को मनुष्य के औचित्य और अनौचित्य को समझाने के लिए स्वीकार नहीं किया जा सकता। बाध-नियम भाववाचक है। यह बतलाता है कि एक ही काम उचित और अनुचित दोनों नहीं हो सकता। यह कथन तार्किक रूप से उचित होने पर भी वास्तविक एवं व्यावहारिक दृष्टि से अनुचित है। उदाहरणार्थ, बाध-नियम के अनुसार चोरी करना उचित और अनुचित दोनों ही नहीं हो सकता। किन्तु जीवन के तथ्य बतलाते हैं कि कुछ विशिष्ट -परिस्थितियों में चोरी करना उचित है और कुछ में अनुचित। तार्किक दृष्टि से जो संगति आवश्यक है वह तथ्य की दृष्टि से भ्रान्तिपूर्ण है। जहाँ तक वास्तविकता एवं तथ्यों का प्रश्न है, कुछ अपवाद मानने पड़ेंगे। शब्दों के व्यावहारिक अर्थ बदलते रहते हैं। कांट चिन्तन के

वाध-नियम को अपनाने में इतना लीन रहा कि उसने अपने नीतिवाक्यों को प्रत्यक्ष व्यावहारिक जगत् से दूर कर दिया। कांट की आचरण विधि का सार्वभौम रूप अव्यावहारिक है। उसमें अपवाद के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। अपनी दृढ़ता के कारण वह हानिप्रद कर्म करा सकता है। मानव-जाति के संरक्षण के लिए विवाह करना उचित है, पर यदि कोई व्यक्ति किसी असाध्य रोग से पीड़ित हो जाता है तो मानव-जाति के हित के लिए उसे विवाह के वन्धन में नहीं पड़ना चाहिये। कांट का सिद्धान्त ऐसी स्थिति में सहायक नहीं है। नैतिक सिद्धान्त को रूपात्मक और विषयहीन कहकर उसने बड़ी भारी भूल की। यही उसके नीतिवाक्यों को अमूर्त और अव्यावहारिक बना देता है। उसका कर्तव्य का सिद्धान्त अपने-आप में अपूर्ण हो जाता है। विना कर्तव्य के स्वरूप को निर्धारित किये अथवा विना ध्येय की परिभाषा दिये आचरण के व्यावहारिक नियमों को समझना कठिन है। प्रत्येक कर्म और घटना का अपना मूल्य है। उसे समझने के लिए प्रेरणा और परिणाम एवं सम्पूर्ण परिस्थिति को समझना अनिवार्य है। कांट कर्मों का मूल्यांकन केवल प्रेरणा द्वारा करता है और परिणाम को नैतिक दृष्टि से मूल्यहीन कह देता है।

भावना का नैतिक मूल्य—विना भावनाओं को स्वीकार किये कांट का पूर्णता का राज्य (सबसे अधिक व्यापक नीतिवाक्य) भी अवास्तविक हो जाता है। एकता की भावना ही व्यक्तियों को एक-दूसरे से युक्त कर सकती है। बुद्धि सार्वभौम होने पर भी उस पारस्परिक आकर्षण एवं एकता, सहृदयता और आत्मीयता को नहीं ला सकती जो दूसरों के साथ सम्बन्धित करने के लिए आवश्यक है। प्रेम, स्नेह, सहानुभूति आदि ही ऐसी सक्रिय शक्तियाँ हैं जिनके कारण व्यक्ति अपने को दूसरों में देखता है। उनके सुख को अपना सुख समझता है। यही कारण है कि बुद्धिपरतावादियों का सिद्धान्त सार्वभौम बुद्धि को मानने पर भी वैयक्तिक रहा है, उनके मतावलम्बियों का जीवन आत्म-निमग्न रहा है।

भ्रान्तिपूर्ण मनोविज्ञान—कांट बुद्धि और इन्द्रियों के परम द्वैत को स्वीकार करता है। बुद्धि के कारण ही मनुष्य पशु से भिन्न एवं श्रेष्ठ है। अतः उसे

बौद्धिक जीवन बिताना चाहिये। उसके जीवन में इन्द्रियपरता के लिए कोई स्थान नहीं है। कर्तव्य करते समय इच्छाओं, भावनाओं एवं प्रवृत्तियों की ओर से विमुख हो जाना चाहिये। नैतिक व्यक्ति को कर्तव्य के सिद्धान्त अथवा आत्म-आरोपित नियम को समझना चाहिये। उसे उन उच्छृंखल प्रवृत्तियों के प्रति जागरूक रहना चाहिये जो कर्तव्य की विरोधी हैं। उसे सदैव कर्तव्य के लिए कर्म करना चाहिये। देश, काल, स्थान, परिस्थिति आदि नैतिकता को निर्धारित नहीं करते हैं। कर्तव्य के आदेश के निरपेक्ष और सर्वोच्च रूप को समझाने के लिए वह नीतिज्ञों के विपरीत यह तक कह देता है कि यदि कर्म की उत्पत्ति कर्तव्य के प्रति श्रद्धा से नहीं है तो वह नैतिक नहीं है। दयालु भावनाओं, परमार्थी प्रवृतियों, सहानुभूति, स्नेह, दया आदि से प्रेरित कर्म शुभ नहीं हैं। कर्तव्य की प्रेरणा ही एकमात्र शुभ प्रेरणा है। इसमें सन्देह नहीं कि कांट का ऐसा दर्शन अत्यन्त कठोर और निःस्पृह हो गया है। आलोचकों का यह कहना है कि कांट ने अपने सिद्धान्त में भावनाओं, स्थायीभाव आदि को पर्याप्त स्थान नहीं दिया है। स्थान देना तो दूर रहा, वह मानव-स्वभाव का अवास्तविक विश्लेषण करता है, जो भ्रान्तिपूर्ण मनोविज्ञान पर आधारित है। उसने सब स्वाभाविक प्रेरणाओं को स्वार्थी और सुखवादी कहा है। ऐसे उग्र मत को अपनाकर उसने अपने सिद्धान्त को अमान्य बना दिया है। मानव-कर्म और सद्गुण न तो भावना-शून्य हैं और न भावना उनका अप्रमुख गुण है। वह उनके मूलगत स्वरूप का अंग है। कांट की रचनाओं में निर्ममता की प्रवृत्ति मिलती है।

सिद्धान्त में अस्पष्टता : भावनाएँ आत्म-सन्तोष का अंग—अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय कांट ने कई स्थलों में अत्यन्त संक्षिप्त तर्क प्रस्तुत किये हैं। एक प्रमाण से दूसरे प्रमाण में आने में शीघ्रता दिखलाई है। ऐसी शैली पाठक को दुविधा में डाल देती है। उसे असंगतियाँ दिखलाई पड़ती हैं। शुद्ध व्यावहारिक बुद्धि का वर्णन करते समय वह कहता है कि इसका आदेश कर्ता से कहता है कि जब कर्तव्य का प्रश्न उठता है तो इच्छाओं की ओर से विमुख हो जाना चाहिये। जब इसका कर्तव्य से विरोध नहीं होता है तब इसके

अधिकार बुद्धि नहीं छीनती है। ऐसी स्थिति में कर्ता सुख खोज सकता है। पर जब कर्तव्य और प्रवृत्तियों के प्रश्न को वह उठाता है तो वह यह मान लेता है कि बौद्धिक व्यक्ति प्रवृत्तियों से पूर्ण रूप से मुक्त होना चाहेगा। किन्तु इन्द्रियों का समूल नाश करके व्यक्ति नैतिकता को प्राप्त नहीं कर सकता। इच्छाओं का हनन करके आत्म-सन्तोष नहीं मिलता। वास्तव में बुद्धि और भावना एक-दूसरे की पूरक हैं, विरोधी नहीं। इच्छाओं को उचित मार्ग दिखलाना बुद्धि का काम है। गुणवान् या नैतिक व्यक्ति वह है जो इच्छाओं को सन्मार्गी बनाता है, उनका उन्नयन करता है। इच्छाओं का दमन करना सद्गुण नहीं है। सद्गुणी व्यक्ति इच्छाओं से स्वतन्त्र नहीं है। ऐसी स्वतन्त्रता मरघट में ही प्राप्त हो सकती है। इच्छाओं द्वारा विरोध होने पर भी उचित मार्ग को ढूंढ़ लेना नैतिक गुण है। बिना भावनाओं के नैतिकता विषय-शून्य है। भावनाओं के निराकरण को अनावश्यक महत्त्व देकर कांट ने अपने नीतिशास्त्र को रूपात्मक बना दिया। नैतिकता के रूप और विषय में भेद कर दिया। भावनाहीन जीवन को जीवन कहना उतना ही विचित्र है जितना आम से उसकी मिठास को निकालकर उसे आम कहना। बुद्धि और भावना का संयुक्त जीवन ही जीवन है। नैतिक दृष्टि से भी भावनाहीन जीवन को नैतिक नहीं मान सकते। यह बौद्धिक या चिन्तनप्रधान जीवन है। नैतिकता के उपादान इन्द्रियों से आते हैं। बुद्धि और भावनाओं का द्वैत नैतिक समस्या को उत्पन्न करता है। भावनाओं का निराकरण करना इस समस्या का निराकरण करना है। इच्छाओं का दमन करके वैराग्यवाद स्वयं अपने ध्येय में हार जाता है। वह अपने आदर्श को प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि बिना भावनाओं के कर्म सम्भव नहीं है। ये जीवन की संचालक शक्ति हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियबोध जीवन को अवास्तविक कहकर त्याग नहीं सकते हैं। नैतिक कर्तव्य सब इच्छाओं और प्रवृत्तियों के हनन का आदेश नहीं देता। वह केवल उन इच्छाओं की ओर से उदासीन होने के लिए कहता है जो श्रेष्ठ इच्छाओं की तृप्ति में एवं आत्म-सन्तोष के मार्ग में बाधक हैं। वास्तव में आत्म-सन्तोष तभी प्राप्त होता है जब आत्मा अपने पूर्ण रूप में—बुद्धि और भावना—सन्तुष्ट होती है।

नैतिक जीवन में कर्तव्य के अर्थ—कांट ने अपने नैतिक दर्शन में व्यावहारिक बुद्धि के निरपेक्ष आदेश अथवा नैतिक सिद्धान्त की चरमता को सिद्ध करना चाहा। अत: उसने कर्तव्य के सिद्धान्त को महत्त्व दिया और यह कहा कि कर्तव्य ही परम नैतिक निरपेक्ष आदेश है। उसने अपने कर्तव्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय इच्छाओं और भावनाओं का निराकरण करके, उन्हें अनात्म्य—वाह्य शक्तियाँ—कहकर भारी भूल की। इस भूल को दूर करने के लिए ही उसने नैतिक भावना की उत्पत्ति बुद्धि से की है। उसका यह प्रयास उतना ही असफल है जितना कि पेड़ की डाल को काटकर उसे पुन: गोंद से जोड़ने का प्रयास होता है। उसने जीवन को अत्यन्त नीरस और अनाकर्षक बना दिया। पुष्पविटप की सार्थकता उसके सुचारु रूप से पुष्पित होने में है। वही जीवन सार्थक और वांछनीय है जिसमें भावनाओं और बुद्धि का समवेत गान है, जिसमें भावनाएँ बुद्धि का सम्पर्क पाकर विकसित होती हैं और बुद्धि भावनाओं के साहचर्य से सुगन्ध को प्राप्त होती है। कर्तव्य के रूपात्मक सिद्धान्त ने जीवन को अवांछनीय, अरुचिकर और अनाकर्षक बना दिया है। यह सत्य है कि वैयक्तिक लाभ और यश की प्रच्छन्न आशा से किया हुआ कर्म अनैतिक है। किन्तु क्या इसका निष्कर्ष 'यह निकलता है कि स्नेह, दया, दान आदि से अनायास किये कर्म भी अनैतिक हैं? क्या वही कर्म उचित है जिसे करने के पहले कर्ता उसे कर्तव्य की तुला के औचित्य और अनौचित्य के बाटों में तौल लेता है और यह स्मरण रखता है कि 'मैं कर्तव्य कर रहा हूँ?' यदि कोई दानी व्यक्ति दान देते समय यह ध्यान में रखे कि 'मैं दान दे रहा हूँ' और इसके विपरीत दूसरा व्यक्ति सहज-दयावश दान दे तो क्या दूसरे व्यक्ति के कर्म को अनैतिक कहना विवेकसम्मत होगा? कर्तव्य के सिद्धान्त को बिलकुल ही विषयहीन मानकर कांट ने 'कर्तव्य' की ऐसी अमूर्त धारणा को अपना लिया है जो अर्थशून्य है। 'कर्तव्य का बोध इच्छाओं और भावनाओं से पूर्ण सामान्य व्यक्ति के हृदय में ही उत्पन्न हो सकता है, देवता या दानव के हृदय में नहीं।' अथवा कर्तव्य का बोध तभी उत्पन्न होता है जब इच्छाओं में द्वन्द्व होता है। जब व्यक्ति को अपने विचारों—आदर्शों—के अनुरूप कर्म करने के लिए दृढ़

अभ्यासों को छोड़ना पड़ता है, सहज प्रवृत्तियों पर संयम रखना पड़ता है तथा इच्छाओं, भावनाओं आदि का उन्नयन करना पड़ता है अथवा उनके प्रति तटस्थ होना पड़ता है तब उसमें कर्तव्य का ज्ञान जाग्रत होता है। कर्तव्य शब्दमात्र नहीं है। यह शुभ इच्छाओं का सूचक है। कांट ने इच्छाओं से इसका वियोग कराकर इसे अर्थशून्य और अव्यावहारिक कर दिया है। कांट का सिद्धान्त अपनी रुक्षता के कारण मनुष्य को श्रेष्ठतर वनने के लिए पर्याप्त प्रेरणा प्रदान नहीं करता। कर्तव्य अथवा बुद्धि के नियम का सम्बन्ध मनुष्य की भावनाओं से है; उसके वैयक्तिक और सामाजिक जगत् से है। अपने-आप में—इन सम्बन्धों से अलग—'कर्तव्य' कुछ नहीं है।

वैराग्यवाद अपने-आप में अपूर्ण—मनुष्य का नैतिक जीवन बौद्धिक और भावुक आत्मा का जीवन है, अथवा उसका सम्पूर्ण जीवन है। नैतिकता जीवन के किसी एक अंग के त्याग की अपेक्षा नहीं रखती। उसी अंग का त्याग क्षम्य है जो कि सम्पूर्ण की उन्नति और पूर्णता में बाधक है। वैराग्यवादी आदर्श अपूर्ण, भ्रान्तिपूर्ण और एकांगी है। यह जीवन्त आदर्श नहीं है। सक्रियता के वदले वह निष्क्रियता को अपनाता है। विकारशून्यता, भावहीनता, तटस्थता, राग-रस-हीनता आदि मानवोचित गुण नहीं हैं। संसार के क्रिया-कलापों के प्रति दर्शकमात्र होना, जीवन में अभिरुचि न लेना मनुष्यत्व का चिह्न नहीं है। ऐसे मरुभूमि के आदर्श के मूल में यह धारणा है कि देह आत्मा का बन्दी-गृह है। इन्द्रियपरक जीवन को अपनाना बहेलिये के जाल में फँसना है। ऐसी धारणा भ्रान्तिपूर्ण होने के साथ ही मृत्युसूचक है। जिस जगत् में हम रहते हैं, कर्म करते हैं अथवा जिसका प्रत्येक क्षण अनुभव करते हैं, उसे स्वप्नमात्र नहीं कह सकते। जीवन को क्षणिक और स्वप्नतुल्य मानने वाला बौद्धिक आदर्शवाद स्तुत्य नहीं है। वही बुद्धिपरतावाद मान्य है जो इन्द्रियपरता का अपने में समावेश करके उसे संगठित करता है। इन्द्रिय जीवन की अनेकता के लिए बुद्धि की संगठन की शक्ति की आवश्यकता है। बुद्धि के नियम को केवल अनुभव-निरपेक्ष कहकर बुद्धिपरतावादियों ने रूपात्मक सिद्धान्त को महत्त्व दिया। वे यह भूल गए कि उसका विषय भावना से प्राप्त होता है। विना

विषय के वह अस्थिपंजरमात्र और रिक्त है। भावना भी बिना बुद्धि के अन्धी है, उसका मार्ग-निर्देशन बुद्धि करती है। परिपूर्ण नैतिक जीवन के लिए बुद्धि और भावना दोनों ही आवश्यक हैं।

सुखवादी भूल—कांट का मनोविज्ञान भ्रान्तियों से मुक्त नहीं है। नैतिक आत्मा कर्तव्य को समझती है। वह कर्तव्य करने के लिए बाधित है। नैतिक आत्मा का संकल्प बतलाता है कि क्या करना चाहिए। इच्छाओं से युक्त आत्मा सुख की खोज करती है। किन्तु नैतिक आत्मा इच्छाओं का विरोध करती है अथवा कर्तव्य का मार्ग अनिच्छा का मार्ग है। मनोविज्ञान बतलाता है कि यह भ्रामक है। कर्तव्य के मार्ग का स्वेच्छा से पालन किया जाता है। संवेदनशील आत्मा इस मार्ग को देती है। कांट का कहना था कि इच्छाएँ सुख के लिए होती हैं और उनकी तृप्ति मनुष्य को आत्म-सुख देती है। किन्तु सब प्रवृत्तियाँ सुख के लिए नहीं होतीं। इच्छाओं को स्वार्थी मानकर वह अनुभवात्मक वस्तुवाद से दूर हो गया है। इच्छाओं के सम्मुख एक ध्येय होता है और जब उसकी प्राप्ति हो जाती है तो व्यक्ति को यह सोचकर सन्तोष प्राप्त होता है कि 'मेरी इच्छा तृप्त हुई'। उसकी इच्छा का ध्येय कुछ भी हो सकता है, आत्म-कल्याण अथवा पर-कल्याण दोनों ही हो सकते हैं। कांट ने नैतिक प्रेरणा के अतिरिक्त अन्य प्रेरणाओं को स्वार्थी कहकर उन्हें अनैतिक कह दिया। यहाँ पर उसने सुखवादियों के दृष्टिकोण को अपनाया है। उन्हीं के समान यह माना है कि इच्छा का एकमात्र विषय सुख है।

एकमात्र प्रेरणा को महत्त्व देना अनुचित है—कांट के अनुसार वही कर्म नैतिक है जो शुभ प्रेरणा से किया गया है। परिणाम से नैतिकता का कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका कहना है कि धोखा देना पाप है। यदि किसी का जीवन उसके होने वाले हत्यारे को धोखा देकर बच सकता हो तो भी धोखा नहीं देना चाहिए। कांट की ऐसी विशुद्ध नैतिकता (Moral Purism) कहाँ तक मान्य है, कहना कठिन है। उसने सम्पूर्ण परिस्थिति को नैतिक दृष्टि से महत्त्व नहीं दिया, यह उसकी भूल है। यह सम्भव हो सकता है कि हत्यारे को पाप करने से रोकने पर उसमें कोई महान् परिवर्तन आ जाए और वह नैतिक

आचरण को अपना ले। आत्म-प्रवुद्ध व्यक्ति जव कर्म करता है तो वह सम्पूर्ण परिस्थिति के वारे में सचेत रहता है। वह अपने कर्म के परिणाम को भरसक समझने की कोशिश करता है। वह जानता है कि उसका प्रभाव दूसरों पर तथा स्वयं उस पर क्या पड़ेगा। प्रेरणा से किया हुआ कर्म साभिप्राय है। प्रेरणा को समझने के लिए परिणाम को समझना अनिवार्य है। डाक्टर के लिए यह आवश्यक है कि जव रोगी को वह दवाई देता है तो यह समझ ले कि वह रोगी के लिए कैसी होगी। कर्म अपने-आप में नैतिक नहीं होता। वह प्रेरणा और परिणाम के सम्बन्ध में ही शुभ अथवा अशुभ है।

कांट के कठोरतावाद का व्यावहारिक मूल्य—कांट यह भली-भाँति समझता था कि भावना का दलदल भयंकर है, यदि व्यक्ति इसमें फँस गया तो उसकी मुक्ति दुर्लभ हो जायगी। किन्तु बुद्धि को आवश्यकता से अधिक अपनाने में यह भय नहीं है। अतः उसने प्रवृत्तियों, अभ्यासों और यहाँ तक कि नैतिक भावावेशों से किए हुए कर्तव्य के अनुरूप कर्मों को शुभ नहीं कहा है। नैतिकता स्वस्थ और शान्त चिन्तन की अपेक्षा रखती है। नैतिक भावावेश में व्यक्ति कर्तव्यच्युत हो जाता है। वह भ्रम में पड़कर अपने ही अहम्, मिथ्याभिमान, आत्म-सन्तोष आदि को अभिव्यक्ति देता है। भावुकता, दयार्द्रता तथा सहानुभूति से प्रेरित कर्म श्लाघनीय हो सकते हैं किन्तु नैतिक नहीं। स्वाभाविक सहृदयता भी अनुचित कर्मों को जन्म देती है। माँ बच्चे को स्नेह की सहृदयता के कारण विगाड़ देती है। मानव-दुर्बलताओं को समझने के कारण ही कांट ने यह कहा कि कर्तव्य की प्रेरणा से किया हुआ कर्म उचित है। परिणाम, प्रवृत्ति, तत्कालीन आवेश, आत्मस्वार्थ से किये हुए कर्म नैतिक नहीं हैं। वे कर्तव्य के अनुरूप हो सकते हैं किन्तु वे कर्तव्य के लिए नहीं किए गए हैं। पूर्ण रूप से पवित्र संकल्प केवल कर्तव्य के लिए ही कर्म नहीं करता बल्कि वह शुभ के प्रेम से स्वभावतः कर्म करता है। प्रसन्न हृदय से किया हुआ कर्तव्य चरित्र के शुभत्व को प्रतिविम्वित करता है। पवित्र संकल्प पूर्ण रूप से शुभ है और यही परम नैतिक ध्येय है। कांट के लिए यह कहना अनुचित है कि उसने पारमार्थिक और उदार प्रवृत्तियों को पूर्ण रूप से पाशविक

प्रवृत्तियों की श्रेणी में रखा। वह ऐसी उच्च प्रेरणाओं से प्रेरित कर्मों को प्रोत्साहन, प्रशंसा और स्नेह के योग्य मानता है किन्तु नैतिक मूल्य से युक्त नहीं करता। ऐसा करके उसने सचमुच अपने मानव-स्वभाव के गूढ़ ज्ञान का परिचय दिया। मनुष्य का स्वभाव इतना जटिल है कि वह स्वयं अपने को समझने में भ्रम में पड़ जाता है। जिन कर्मों को वह निःस्वार्थ समझता है वे केवल निःस्वार्थता का आवरण पहने होते हैं। ऐसी स्थिति में कर्तव्य का सिद्धान्त उसका मार्गदर्शक वन जाता है और उसे उस कर्म की ओर ले जाता है जो वास्तव में उचित और बुद्धि को मान्य है।

निरपेक्ष नैतिक आदेश का महत्त्व—सुखवाद के अनुसार नैतिक आदेश सुख की प्राप्ति के लिए उपयोगी साधन हैं। ऐसे लाभप्रद नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति व्यावसायिक बुद्धि से काम लेता है। वह चतुर और दूरदर्शी है। सुखवाद ने ऐसे नियमों के पालन करने को उचित कहा है। उचित नियम वह है जो सुखप्रद है। बुद्धिपरतावाद औचित्य के सिद्धान्त को स्वार्थी इच्छाओं से पूर्ण रूप से मुक्त करता है। वही कर्म उचित है जो परम आदेश के अनुरूप है। इस आदेश का ध्येय सार्वभौम है। प्रत्येक बौद्धिक प्राणी को इसे प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। सुखवादियों के अनुसार नैतिक आदेश 'चोरी नहीं करना चाहिए' आदि का व्यक्तिगत मूल्य है। अधिकतम सुख को ध्येय मानने वाला व्यक्ति उसी आदेश को मानेगा जो उसे सुख देता है। उसके लिए नैतिक आदेश अनिवार्य या निरपेक्ष रूप ग्रहण नहीं करते। कांट का औचित्य का नियम सार्वभौम मानदण्ड को देता है; ऐसे वस्तुगत मानदण्ड को देता है जो वैयक्तिक इच्छाओं और विशिष्ट ध्येयों से स्वतन्त्र है।

इतिहास को बुद्धिपरतावाद की देन—कांट ने मुख्यतः यह समझाने का प्रयास किया कि बुद्धि ही मनुष्य का सारतत्त्व है। मनुष्य का संकल्प स्वतन्त्र है। वह बौद्धिक एवं आत्म-आरोपित नियम का पालन कर सकता है। यह नियम अनिवार्य और सार्वभौम है। मनुष्य में व्यक्तित्व (बौद्धिकता) है। मानवता अपने-आप में साध्य है। कांट का ऐसा सिद्धान्त अत्यन्त निःस्पृह हो गया है, इसमें सन्देह नहीं। ऐसे सिद्धान्त की बुराइयों को देखते हुए भी यह

मानना पड़ेगा कि इसने उस तत्त्व को महत्त्व दिया जो मानव-जाति का सामान्य गुण है। प्रत्येक व्यक्ति बौद्धिक है और समान है। जहाँ तक उसकी योग्यताओं, भावनाओं, इच्छाओं का प्रश्न है वे उसकी अपनी निजी और वैयक्तिक हैं। बुद्धि का सार्वभौम रूप मानव-बन्धुत्व की धारणा को जन्म देता है। वह बतलाता है कि नागरिकों का परस्पर सम्बन्ध बाह्य अथवा सहकारितामात्र नहीं है; वह आन्तरिक है। बुद्धि ही प्रत्येक व्यक्ति का आन्तरिक सत्य है। वह बतलाती है कि स्वतन्त्र नागरिक और दास में कोई भेद नहीं है। बुद्धि-परतावादियों के लिए जब हम यह कहते हैं कि उन्होंने विश्वबन्धुत्व की धारणा को दिया तो हमारा ध्यान ईसाई धर्म की ओर जाता है। किन्तु बुद्धिपरतावादियों ने ईसाई विचारकों के पूर्व ही विश्वबन्धुत्व की धारणा को सक्रिय रूप में स्वीकार करके दास प्रथा के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठायी। बुद्धि के वास्तव में दो कर्म हैं। एक ओर तो वह व्यक्तियों को एक-दूसरे से युक्त करती और मिलाती है और दूसरी ओर प्रत्येक को उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करती है। 'प्रत्येक व्यक्ति अपने-आप में साध्य है', इस तथ्य ने कानूनी अधिकारों के लिए उचित तर्क दिए। इङ्गलैण्ड में जो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कानूनी और राजनीतिक सुधार हुए उसमें उपयोगितावाद का हाथ तो था ही, साथ ही वे कांट के सिद्धान्त से प्रभावित थे। यह कहना अनुचित न होगा कि 'प्रत्येक व्यक्ति की गणना एक है' और 'प्रत्येक व्यक्ति में मनुष्यत्व की पवित्रता है', इन दोनों कथनों ने समान रूप से आधुनिक तथा विगत शताब्दी के समाजशास्त्रियों, सुधारकों, राजनीतिज्ञों और कानून-विशेषज्ञों को प्रभावित किया। इस व्यावहारिक देन के अतिरिक्त बुद्धिपरतावादियों ने इस जीवन्त सत्य की ओर भी संकेत किया कि अभ्यास और प्रवृत्तियाँ कर्तव्य के मार्ग में रोड़ा अटकाती हैं। उनका यह कथन सत्य-विहीन नहीं है। इसमें निहित सत्यांश की पुष्टि के लिए इतिहास की ओर देखना पड़ेगा। इतिहास बतलाता है कि वैयक्तिक और जातीय जीवन में एक ऐसी स्थिति अवश्य आती है जबकि नकारात्मक और विरागात्मक तत्त्व प्रमुखता पाते हैं। नैतिक विकास उच्च प्रेरणाओं के प्रति निम्न प्रेरणाओं की अधीनता पर आधारित

है। कभी ऐसी विशेष परिस्थिति भी आती है जबकि निम्न प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करना उच्च प्रेरणाओं को महत्त्व देने से अधिक आवश्यक हो जाता है। अतः केवल उच्च प्रेरणाओं को महत्त्व देना पर्याप्त नहीं है। ये तथ्य बतलाते हैं कि नैतिकता आत्म-संयम और आत्म-वर्जन से प्रारम्भ होती है। नैतिक जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का अध्ययन यह बतलाता है कि बिना त्याग और आत्म-वर्जन की नकारात्मक प्रवृत्तियों के नैतिक जीवन सम्भव नहीं है। जीवन के नकारात्मक पक्ष से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र परिस्थिति की कल्पना करना असत्य है। चाहे हम सुखवादियों के साथ यह भी स्वीकार कर लें कि मनुष्य में सुख की इच्छा है, किन्तु यह एक अकाट्य सत्य है कि कष्ट-सहिष्णुता के लिए तत्पर रहने की क्षमता सद्गुणों की प्राप्ति का एक अनिवार्य अंग है।

१६

सहजज्ञानवाद

सहजज्ञानवाद और अन्तर्बोध

प्रवेश—नैतिक निर्णय का आधार क्या है ? कर्म के औचित्य-अनौचित्य को मापने के लिए हम किस मानदण्ड को स्वीकार करते हैं ? कर्तव्य को कैसे समझते हैं ?···आदि प्रश्नों का उत्तर विभिन्न प्रकार से दिया जा सकता है। एक वर्ग उन लोगों का है जो रूढ़िग्रस्त तथा प्राचीन परिपाटी के उपासक हैं। उन लोगों के अनुसार नैतिकता बाह्य नियमों का अनुवर्तनमात्र है। दूसरे वर्गों में वे हैं जो उपयोगितावाद के आधार पर कर्मों का मूल्यांकन करते हैं। उपयोगिता, साध्य और परिणाम की तुलना में ही कर्म को उचित अथवा अनुचित कहते हैं। पुनः तीसरे वर्ग के अन्तर्गत वे लोग आते हैं जो कर्म को अपने-आप में शुभ अथवा अशुभ मानते हैं। इस भाँति यदि हम विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन करते जाएँ तो हमें कर्मों का मूल्यांकन करने के लिए अनेक दृष्टिकोण मिलेंगे। वास्तव में उन दृष्टिकोणों के मूल में नैतिकता की दो प्रकार की धारणाएँ हैं : नैतिकता शाश्वत, अद्वितीय तथा निरपेक्ष है और नैतिकता सापेक्ष, परिवर्तनशील तथा परिस्थितिजन्य है। पूर्वपक्ष वालों ने नैतिक नियमों और विचारों को अनुद्भूत और अकृत्रिम कहा है। और उत्तर-पक्ष वालों ने उद्भूत तथा कृत्रिम कहा है। उन पक्षों के मूल में हमें दो भिन्न वाद एवं सिद्धान्त मिलते हैं : सहजज्ञानवाद और प्रकृतिवाद।

सहजज्ञानवाद का व्यापक अर्थ—नैतिकता को निरपेक्ष और शाश्वत कहने वालों ने ही सहजज्ञानवाद (Intuitionism) को जन्म दिया। इनट्युशनिज़्म

व्युत्पत्ति लेटिन शब्द इनट्‌योर (Intueor), जिसका अर्थ 'देखना' अथवा 'साक्षात्कार करना' है, से हुई है। नीतिशास्त्र के क्षेत्र में सहजज्ञानवाद का प्रयोग उन सिद्धान्तों के लिए किया जाता है जो यह मानते हैं कि मनुष्य को उचित और अनुचित के स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान है अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हो सकता है। कर्मों को उन्हीं के आभ्यन्तरिक गुणों के कारण शुभ या अशुभ कहते हैं, न कि उनके ध्येय या परिणाम के कारण। कर्म इसलिए शुभ नहीं हैं कि उनकी सामाजिक उपयोगिता है अथवा वे सुखद हैं। कर्मों का शुभ-अशुभ होना न तो कर्ता पर निर्भर है और न दर्शकों एवं निर्णयकों पर, वल्कि उन्हीं के आभ्यन्तरिक गुणों पर। इस तथ्य को समझाने के लिए कला और साहित्य का उदाहरण ले सकते हैं। किसी कविता को श्रेष्ठ इसलिए नहीं कह सकते कि वह किसी व्यक्ति-विशेष को पढ़ने में रुचिकर प्रतीत हुई, उसका रचयिता उसे अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति मानता है अथवा रचयिता विश्व-विख्यात कवि है; वस्तुगत मानदण्ड के आधार पर ही कविता अच्छी या बुरी है। सहजज्ञानवाद यह मानता है कि कर्मों के आभ्यन्तरिक रूप को परखने तथा उनके औचित्य-अनौचित्य का तात्कालिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य के पास नैतिक शक्ति अथवा अन्तर्बोध है। नैतिक शक्ति आन्तरिक शक्ति है। कर्मों की अच्छाई और बुराई परखने के लिए मनुष्य वाह्य नियमों की सहायता नहीं लेता है। नैतिक शक्ति उसे कर्मों का तात्कालिक ज्ञान देती है। इस शक्ति के स्वरूप को सहजज्ञानवादियों ने विभिन्न शब्दों के प्रयोग द्वारा समझाया है: नैतिक बोध, अनिर्वचनीय शक्ति, नैतिक इन्द्रिय, अलौकिक शक्ति, बोधगम्य शक्ति, व्यावहारिक शक्ति आदि। ये विभिन्न शब्द यह बतलाते हैं कि सहजज्ञानवाद को मानने वाले सब विचारक एकमत होकर यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्यक्ष और सहजज्ञान प्राप्त करने की शक्ति है। इस अर्थ में सहजज्ञानवाद वह सिद्धान्त है जो यह कहता है कि आचरण पर नैतिक गुणज्ञ (moral connoisseur) का निर्णय ही मान्य निर्णय है। किन्तु जहाँ तक नैतिक शक्ति के स्वरूप का प्रश्न है, उनमें पारस्परिक मतभेद है।

प्रकृतिवाद तथा सहजज्ञानवाद का ऐतिहासिक विवाद—सोफिस्ट्स के

पश्चात् हमें नैतिकता के मानदण्ड के बारे में दो स्पष्ट वर्ग मिलते हैं। एक ओर सुकरात, सिनिक्स, प्लेटो, अरस्तू, स्टोइक्स हैं। उन लोगों के अनुसार न्याय, संयम, कर्तव्य आदि सद्गुणों का अस्तित्व प्राकृतिक एवं शाश्वत है। ये मनुष्य द्वारा निर्मित और निर्धारित नहीं हैं। ये आभ्यन्तरिक तथा वस्तुगत रूप से शुभ हैं। इन लोगों को, वास्तव में, सहजज्ञानवादियों का पूर्वज कह सकते हैं। इनके साथ ही समान्तर रूप से वह विचारधारा मिलती है (सिरेनैक्स और ऍपिक्यूरियन्स) जो कि प्रकृतिवाद की जन्मदात्री है।

प्रकृतिवाद और सहजज्ञानवाद, दोनों के विवाद का केन्द्र प्रकृति (Nature) है। 'प्रकृति' शब्द एकार्थी नहीं है। नीतिज्ञों ने इसका प्रयोग अपने-अपने ढंग से किया है। ऐसा अनिश्चित और सन्दिग्ध प्रयोग कठिनाई उत्पन्न कर देता है। उदाहरणार्थ, कुछ ने उसे प्राकृतिक कहा है जो कि अलौकिक और दैवी प्रकाश की तुलना में अनुभवग्राह्य है; वह भी प्राकृतिक है जो अनिवार्य प्राकृतिक नियमों का परिणाम है; वह भी प्राकृतिक है जो विकास के क्रम में उत्पन्न हुआ है और वह भी प्राकृतिक है जो गणित के सत्यों की भाँति शाश्वत है तथा वह नैतिक नियम और बाध्यताएँ भी प्राकृतिक हैं जो कि मनुष्य के ज्ञात स्वरूप का परिणाम हैं। ऐसे नियम अकृत्रिम, शाश्वत एवं प्राकृतिक हैं। वे मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं हैं। प्रकृतिवाद ने नैतिक नियमों और नैतिक निर्णयों को अनिवार्य प्राकृतिक नियमों से उत्पन्न माना है। ऐसे नियम अपने-आप में न तो नैतिक ही हैं और न अनैतिक ही। सहजज्ञान-वादियों ने इन्हें शाश्वत माना है। सद्गुणों के कृत्रिम अथवा अकृत्रिम रूप को समझाने के लिए सहजज्ञानवादियों तथा प्रकृतिवादियों के पूर्वजों ने यह प्रश्न उठाया : क्या न्याय स्वाभाविक है अथवा रीति-रिवाज के कारण है? ऍपिक्यूरियन्स और सिरेनैक्स ने न्याय को रीति-रिवाज पर आधारित कहा और प्लेटो तथा उसके अनुयायियों ने शाश्वत एवं प्राकृतिक।

सहजज्ञानवाद और प्रकृतिवाद ने सदैव एक-दूसरे का विरोध किया है। प्रकृतिवाद के अनुसार नैतिक विचार की उत्पत्ति हुई है। यह उद्भूत विचार है, नैसर्गिक नहीं। वह उन इच्छाओं और भावनाओं का परिणाम है जो

निर्नैतिक हैं। उदाहरणार्थ, हॉब्स का कहना है कि आत्म-स्वार्थ और आत्म-संरक्षण की इच्छा ने नैतिक मान्यताओं को जन्म दिया और ह्यू म का कहना है कि सुख, आत्म-स्वार्थ, रीति-रिवाज तथा सहानुभूति का ही मिश्रित परिणाम नैतिक विश्वास है। अथवा नैतिकता अनेक प्रकार की भावनाओं का परिणाम है। स्पेंसर के अनुसार नैतिक विचार और नैतिक कर्तव्य की धारणा वंशानुगत सहजप्रवृत्तियों का परिणाम है। नैतिक विचारों के पक्ष में केवल इतना ही कह सकते हैं कि जिन जातियों में यह गुण नहीं है वह जीवित नहीं रह पातीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृतिवाद के अनुसार नैतिक विचार उद्भूत हैं। ये उन निर्नैतिक भावनाओं, इच्छाओं और सहजप्रवृत्तियों के परिणाम हैं जो अपने प्रारम्भिक रूप में नैतिक विशेषणों से युक्त नहीं थीं। धीरे-धीरे प्रकृति के मानसिक अथवा भौतिक अनिवार्य नियमों ने उन्हें जन्म दे दिया। सहज-ज्ञानवादियों ने प्रकृतिवाद (विशेषकर हॉब्स और ह्यू म) के विपरीत यह समझाना चाहा कि नैतिक विचार और नैतिक सत्य मूलगत हैं। उनके रूप को प्रकृतिवादियों की भाँति सरल करके अथवा भावनाओं का विभाजन करके (विभिन्न भावनाओं का मिश्रित परिणाम) नहीं समझा सकते। मूलगत नैतिक सत्यों का ज्ञान उन अन्ध प्राकृतिक नियम अथवा अनिवार्य नियमों द्वारा प्राप्त करना असम्भव है जो कि विवेक से संचालित नहीं हैं, बल्कि मात्र यान्त्रिक हैं। नैतिक सत्यों को प्रकृतिवादियों की भाँति ऐतिहासिक पद्धति को अपनाकर नहीं समझाया जा सकता बल्कि उनका हमें सहजज्ञान होता है। प्रत्येक व्यक्ति में सहजज्ञान की शक्ति है। इसी के द्वारा वह कर्मों के औचित्य-अनौचित्य को समझता है। यह सम्भव हो सकता है कि कुछ लोगों में वह पर्याप्त मात्रा में विकसित न हो और उनको उचित रूप से निर्देशित न कर सकती हो। ऐसी स्थिति में इस शक्ति को शिक्षा और साधना द्वारा योग्य बना लेना चाहिए।

प्रकृतिवाद और सहजज्ञानवाद का संकल्प-स्वातन्त्र्य के बारे में भी मतभेद है। प्रकृतिवादी मनुष्य को प्रकृति का ही अंग मानते हैं और कहते हैं कि मनुष्य बाह्य जगत् एवं प्रकृति के अनिवार्य नियमों के अधीन हैं। कर्तव्य की धारणा

को उन्होंनें कोई विशिष्ट स्थान नहीं दिया है। उनके लिए नैतिक कर्तव्य का अर्थ कर्म करने का एक आवेगमात्र है। यह आवेग अपनी शक्ति के अनुरूप दूसरे आवेगों की ही श्रेणी में आता है। सहजज्ञानवादी मनुष्य को मुख्य रूप से नैतिक प्राणी मानते हैं और उसकी नैतिकता पर महत्त्व देते हुए कहते हैं कि अपने नैतिक विचारों के कारण वह कुछ हद तक प्रकृति तथा अपने कर्मों पर नियन्त्रण रख सकता है। नैतिक कर्म करना ही मनुष्य का धर्म है। कर्तव्य की बौद्धिक एवं नैतिक चेतना ही उससे शुभ कर्म करवाती है, न कि प्रकृति के अन्ध नियम। अथवा जैसा कि कांट कहता है कि 'नैतिक चाहिए' का अर्थ यही है कि मनुष्य का संकल्प स्वतन्त्र है। वह शुभ कर्मों को उनके औचित्य के कारण कर सकता है। संक्षेप में, सहजज्ञानवाद ने यह समझाया कि मनुष्य शुभ की धारणा के अनुरूप कर्म कर सकता है और प्रकृतिवाद ने यह समझाया कि कर्मों का भावी रूप उनके भूतकालीन रूप पर निर्भर है और भावी आदर्श शुभ की पूर्व-कल्पना हमारे कर्मों को वहीं तक निर्धारित कर सकती है जहाँ तक कि वह स्वयं अपने से पूर्व की घटनाओं से निर्धारित है।

प्रकृतिवाद और सहजज्ञानवाद दोनों का ही भेद, वास्तव में, यथार्थ विज्ञान और आदर्श विधायक विज्ञान का भेद है। प्रकृतिवादी की प्रणाली वर्णनात्मक है। वह किसी नैतिक आदर्श को सम्मुख नहीं रखता। वह केवल यह समझाने का प्रयास करता है कि मनुष्य का स्वभाव क्या है? हमारी शुभ अथवा नैतिकता के बारे में क्या धारणाएँ हैं? स्वीकृत नैतिक मान्यताओं के उद्‌गम को हम कैसे समझा सकते हैं? सहजज्ञानवादी यह समझाने का प्रयास करते हैं कि क्या होना चाहिए, शुभ क्या है? वे नैतिक प्रश्नों और समस्याओं को उठाते हैं तथा नैतिक आदर्श को समझाने का प्रयास करते हैं।

अन्तर्बोध का व्यापक प्रयोग

अन्तर्बो : उसका अर्थ—सहजज्ञानवादियों ने जिस मानदण्ड से कर्मों को मापा है वह अन्तर्बोध का मानदण्ड है। अन्तर्बोध उस नैतिक शक्ति का नाम है जो तत्काल ही कर्मों के औचित्य-अनौचित्य पर निर्णय दे देती है। अन्तर्बोध

का क्या रूप है, उसकी परिभाषा क्या है, यह निश्चित रूप से बताना कठिन है। प्रत्येक सहजज्ञानवादी ने अपने ढंग से उसके रूप को समझाया है। स्थूल रूप से प्रत्येक सहजज्ञानवादी यह मानता है कि कर्म अपने-आप में शुभ अथवा अशुभ हैं और मनुष्य के पास कर्मों के इस आभ्यन्तरिक रूप को समझने के लिए एक विशिष्ट शक्ति है। इस शक्ति को ही नैतिक शक्ति अथवा अन्तर्बोध कहते हैं। शब्द-व्युत्पत्ति के आधार पर कॉन्शेन्स (conscience) लेटिन शब्द कॉन्सायर (conscire) से लिया गया है, जिसका अर्थ होता है, बोध होना (अनुचित का) अथवा किसी वस्तु को समग्र रूप से जानना या किसी स्थिति का सम्यक् ज्ञान। अन्तर्बोध सत्य का तात्कालिक ज्ञान देता है। ऐसे ज्ञान को कल्पना, चिन्तन अथवा तर्क द्वारा नहीं प्राप्त कर सकते हैं। अन्तर्बोध शब्द का प्रयोग सहजज्ञानवादियों के अतिरिक्त अन्य नीतिज्ञों एवं विचारकों ने भी किया है। अतः इसका सहजज्ञानी अर्थ समझने के लिए हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि विभिन्न सन्दर्भों में भी इसका अर्थ समझ लें।

कानून—कानून के अनुसार अन्तर्बोध कोई विशिष्ट शक्ति नहीं है। यदि इसका कोई अर्थ है तो यही कि सामान्य अनुभव तथा बुद्धि की सहायता से उस स्थिति की व्यापक कल्पना कर लेना, जिसे कि कर्ता अपनाना चाहता है ताकि उसे यह पता चल जाए कि कानूनी दण्ड का कोई भय नहीं है। वास्तव में यह वैधिक नियम को जानना तथा उसकी धाराओं और उपधाराओं को समझना है। वैधिक नियम के अर्थ को समझने और उसके अनुसार विभिन्न नियमों का मूल्यांकन करने की शक्ति ही अन्तर्बोध है। यह वह शक्ति है जो व्यक्ति को इतनी सूझ तथा दूरदर्शिता दे देती है कि वह बाह्य रूप से अपने आचरण को इस भाँति नियमित कर लेता है कि वह कानून के अनुकूल हो जाता है। किन्तु ऐसी शक्ति एवं अन्तर्बोध नैतिक मूल्यरहित है। यह बाह्य आरोपित नियम का पालन दण्ड के भय एवं पुरस्कार के लालच से करवाता है। यह व्यक्ति की सदसत् बुद्धि को दण्ड का भय दिखलाकर चुप कर देता है।

धर्म—धार्मिक विचारकों ने अन्तर्बोध को अधिकतर दिव्यवाणी या अन्तरआत्मा की ध्वनि कहा है। वे इसे भगवत्-प्रेरणा के रूप में स्वीकार

करते हैं, भगवत्-प्रेरणा अथवा अन्तःप्रेरणा से उचित-अनुचित के परम निर्णय प्राप्त होते हैं। धर्म यह भी मानता है कि ईश्वर न्यायशील है। उसके निर्मित विश्व में श्रेय के नियमों का एक विधान है। उसने प्रत्येक व्यक्ति को इस विधान को समझने की शक्ति या अन्तःप्रेरणा दी है। अथवा धर्म के अनुसार विश्व में सार्वभौम नियमों का एक विधान है। अन्तर्बोध द्वारा व्यक्ति इस विधान के नियमों को समझ सकता है। वही व्यक्ति श्रेष्ठ है जिसमें इन नियमों का पालन करने के लिए पवित्र एवं सत्य प्रेरणा होती है। यदि व्यक्ति इन नियमों को समझने अथवा पालन करने में कठिनाई अनुभव करता है और उनके आधार पर विशिष्ट कर्तव्यों को निर्धारित नहीं कर पाता तो उसे चाहिए कि वह धर्मशास्त्रियों, पण्डितों, श्रुतिमर्मज्ञों, देवज्ञान अथवा प्रतिष्ठित धार्मिक पुस्तकों की सहायता ले। धर्म के नियम निश्चित नियम हैं। ऐसे निश्चित नियमों का बुद्धि आविष्कार नहीं करती वरन् दिव्य आदेश उसके कर्मों को निर्धारित करता है। दिव्य आदेश को हम आन्तरिक आदेश नहीं कह सकते हैं। यह आदेश वाह्य आदेश है और जिसे दिव्य वाणी अथवा अन्तरात्मा की ध्वनि कहते हैं वह व्यक्ति—महापुरुषों का अपवाद मान कर—के धार्मिक संस्कार हैं। जिस पवित्र प्रेरणा से वह कर्म करता है वह आगामी अधिक सुखी जीवन अथवा पुनर्जन्म में स्वर्ग की आकांक्षा है। जनसामान्य के सदाचार के मूल में यह भय है कि न्यायशील सृष्टिकर्ता अन्यायी को दण्ड देगा।

सुखवाद—स्वार्थसुखवादियों के अनुसार व्यावसायिक बुद्धि का ही नाम अन्तर्बोध है। वे यह नहीं मानते कि मनुष्य में उचित-अनुचित को समझने की कोई आन्तरिक शक्ति है। उनका यह कहना है कि जीवन का ध्येय आत्म-सुख है। उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य को व्यावसायिक बुद्धि एवं दूरदर्शिता से काम लेना चाहिए। कर्मों के भावी परिणामों को समझने के लिए अथवा सुखप्रद कर्मों को अपनाने के लिए सामान्य बोध, कल्पना और अनुमान की आवश्यकता है। अनुभव के आधार पर उन कर्मों की गणना और अनुमान कर लेना चाहिए जो कि सुखप्रद और सम्पूर्ण जीवन के सुख की प्राप्ति में सहायक हैं। परार्थसुखवाद ने 'अधिकतम संख्या के लिए अधिकतम सुख' को सदाचार

का मानदण्ड एवं नैतिक मानदण्ड माना है। सहानुभूति तथा अन्य उपार्जित परार्थ भावनाएँ परार्थ कर्म के लिए मनुष्य को प्रेरित करती हैं अथवा विचार-साहचर्य तथा रुचि-परिवर्तन के नियमों के कारण व्यक्ति परार्थ भावनाओं को अपने में पाता है। जब बोध, कल्पना तथा अनुमान से संयुक्त होकर सहानुभूति ज्ञान प्राप्त करती है तो वही अन्तर्बोध का काम करती है। अथवा प्रत्येक व्यक्ति का अन्तर्बोध उसके जीवन के अनुभवों और परिस्थितियों की उपज है। इसी के कारण व्यक्ति कर्तव्य करने के लिए प्रेरित होता है। विकासवादियों ने अन्तर्बोध को वंशानुगत गुण के रूप में समझा है। उनका कहना है कि अन्तर्बोध एक सामाजिक सहजप्रवृत्ति या पूर्वजों का संचित अनुभव है जिसे हम वंशानुगत गुण के रूप में प्राप्त करते हैं। अतः व्यक्ति में यह सहजात है यद्यपि पूर्वजों ने इसे अनुभव से उपार्जित किया है।

प्रचलित अर्थ—प्रचलित अर्थ में अन्तर्बोध नैतिक निर्णय की वह शक्ति है जो यह बतलाती है कि कौनसे कर्म तथा कौनसी प्रेरणाएँ शुभ हैं। इस अन्तर्बोध का न तो सामान्य नियमों से ही प्रत्यक्ष सम्बन्ध है और न उन निष्कर्षों से जिनका कि सामान्य नियमों से निगमन करते हैं। 'अपने अन्तर्बोध पर विश्वास रखो', 'अपने अन्तर्बोध के अनुरूप कर्म करो', 'अपने अन्तर्बोध को समझो', आदि वाक्य इस बात के प्रमाण हैं कि व्यक्ति का अन्तर्बोध अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। वह उसके कर्मों को निर्धारित करता है। विशिष्ट कर्तव्यों को करने का आदेश देता है। अन्तर्बोध की ऐसी धारणा सरल, प्रत्यक्ष सहजज्ञान को महत्त्व देती है और साथ ही वह इस विश्वास पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति का अन्तर्बोध उसे उचित मार्ग की ओर ले जाता है। इसलिए व्यक्ति को अन्तर्बोध के अनुसार कर्म करने चाहिए और नियमों के फेर में नहीं पड़ना चाहिए। नियमों का जाल नैतिक विकास में अवरोधक सिद्ध हो सकता है। तर्क और चिन्तन भी व्यर्थ हैं। इनके द्वारा किसी विशिष्ट परिणाम पर पहुँचकर उसे अपनाना अनुचित है क्योंकि यह सहजज्ञान का तिरस्कार करना है। यह दृष्टिकोण अति सहजज्ञानवादी है। ऐसी स्थिति में न तो सामान्य नियमों की आवश्यकता है और न नैतिक विज्ञान की।

अन्तर्बोध की उपर्युक्त परिभाषाओं की सीमाएँ—अन्तर्बोध की उपर्युक्त सभी परिभाषाओं का अध्ययन यह वतलाता है कि उसे हम नैतिक शक्ति के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। कानून के क्षेत्र में अन्तर्बोध अथवा उसके समानार्थी शब्द का कोई स्थान नहीं है। व्यापक कानूनी ज्ञान को ही अन्तर्बोध कह दिया गया है। धर्मशास्त्रियों ने अन्तर्बोध को जिस रूप में स्वीकार किया है वह भी नैतिक दृष्टि से मान्य नहीं है। नैतिक नियम आन्तरिक है किन्तु दिव्यवाणी का आदेश वाह्य है। उसकी वुद्धि स्वतन्त्र रूप से इस तथ्य पर चिन्तन नहीं करती कि उसके लिए क्या करना वांछनीय है। व्यक्ति उस सेवक की भाँति है जो स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य करना ही कर्तव्य मानता है। सदाचार के नियमों का पालन करने की सद्प्रेरणा रखने वाला व्यक्ति अथवा सद्विवेकी जव जटिल परिस्थितियों में पड़ जाता है और सदाचार के नियमों को समझने में असमर्थ हो जाता है तव उसे पण्डितों और धार्मिक पुस्तकों की सहायता लेनी पड़ती है। इस सहायता को प्राप्त करने में असमर्थ होने पर वह जन-सामान्य द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों का आश्रय लेता है। किन्तु सामान्य ज्ञान को प्राप्त करना सहजज्ञान प्राप्त करना नहीं है। मनुष्यों के सामान्यबोध के अनुरूप चलना अथवा आचरण के वारे में सामान्य अनुमति प्राप्त करना और सहजज्ञान द्वारा कर्मों के औचित्य-अनौचित्य को निर्धारित करना दो भिन्न सत्य हैं।

स्वार्थ सुखवाद ने जिस व्यावसायिक बुद्धि को महत्त्व दिया है उसे हम नैतिक शक्ति नहीं कह सकते हैं। नैतिक शक्ति सदसत् बुद्धि है। वह कर्मों को उनके सुखद परिणामों के कारण शुभ नहीं कहती बल्कि उनके आभ्यन्तरिक गुणों के कारण। इसी भाँति परार्थ सुखवादी तथा विकासवादी सुखवादी भी नैतिक दृष्टि से अन्तर्बोध का मूल्यांकन नहीं कर पाये। अन्तर्बोध आन्तरिक शक्ति है। उसे उपार्जित भावना अथवा वंशानुगत गुण के रूप में नहीं समझाया जा सकता। सामान्य रूप से अन्तर्वोध का जिस अर्थ में प्रयोग किया जाता है, उसे स्वीकार करने में भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। यह एक अनुभवात्मक सत्य है कि सभी नैतिकता के प्रतिनिधियों को एक प्रकार का सहजज्ञान होता है

और वह उनके मानस के नैतिक अनुभव का एक विशाल भाग होता है। चिन्तनशील व्यक्ति जब अपने ही सहजज्ञान पर चिन्तन करते हैं तो वे उसे अकाट्य और असन्दिग्ध नहीं मान पाते। जब वे अपने से स्वयं पूछते हैं तो उन्हें तुरन्त उस नैतिक समस्या का स्पष्ट समाधान प्राप्त नहीं होता। एक ही व्यक्ति के अन्तर्बोध की विभिन्न ध्वनियों में समानता नहीं मिल पाती है। जब वह समान परिस्थितियों के विभिन्न कालों के अपने अन्तर्बोध को समझने का प्रयास करता है तो उसे उसमें संगति नहीं मिलती है। दो समान योग्यता वाले नैतिक प्राणियों के अन्तर्बोध में भी विरोध दीखता है। जिस कर्म की एक सराहना करता है उसे दूसरा हेय कह देता है। ये विरोध, ये असंगतियाँ तथा असमानताएँ यह बतलाती हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में जो नैतिक निर्णय की वैयक्तिक एवं विशिष्ट शक्ति मिलती है उसे हम प्रामाणिक नहीं कह सकते हैं। उनका अन्तर्बोध अधिकतर वैयक्तिक सीमाओं, संकीर्ण स्वार्थों तथा पूर्वग्रहों से दूषित हो जाता है। जिसे हम सहजबोध एवं अन्तर्बोध कहते हैं वह वास्तव में व्यक्ति का अपना स्वार्थ, परम्परागत विचार अथवा अन्धविश्वास हो सकता है। अन्तर्बोध को प्रामाणिकता देने के लिए और सन्देह से मुक्त करने के लिए सामान्य नियमों का आश्रय लेना उचित है तथा सुव्यवस्थित चिन्तन द्वारा सर्वमान्य परिणामों पर पहुँचना अनिवार्य है। अन्तर्बोध के नाम पर किसी भी व्यक्ति के नैतिक बोध को स्वीकार करना अनुचित है। ऐसे अन्तर्बोध को महत्त्व देना उस वैयक्तिक चेतना को महत्त्व देना है जो व्यक्ति की औचित्य की धारणा अथवा वैयक्तिक सदाचार के मानदण्ड के अनुरूप कर्म को उचित और प्रतिकूल कर्म को अनुचित कहती है। इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि यदि व्यक्ति की औचित्य की धारणा भ्रान्तिपूर्ण है तो उसके अन्तर्बोध के निर्णय भी भ्रान्तिपूर्ण होंगे अथवा उसका अन्तर्बोध गधे और सुकरात, साधु और असाधु, चोर और सन्त दोनों में से किसी का भी हो सकता है। अधिकांश व्यक्तियों के आचरण का मानदण्ड वैयक्तिक, आत्मगत और संकीर्ण होता है। उनका चिन्तन उस निष्पक्षता, तटस्थता, एकरूपता और व्यापकता को नहीं अपना पाता जो उन्हें वस्तुगत तथा सार्वभौम मानदण्ड का दिग्दर्शन करा सके। यही

कारण है कि अनेक व्यक्ति अन्तर्बोध के प्रति सचेत होने पर भी अपने त्रुटिपूर्ण सदाचार के मानदण्ड के कारण अनैतिक आचरण को दृढ़तापूर्वक अपना लेते हैं। वास्तव में ऐसे ही व्यक्ति उन्मत्त आचरण करते हैं। सहजज्ञानवाद की प्रणालियों ने इस दोष से अन्तर्बोध को मुक्त करने का प्रयास किया। उन्होंने अन्तर्बोध के सार्वभौम रूप को समझाने का प्रयास किया।

सहजज्ञानवाद के अनुसार अन्तर्बोध का अर्थ—सहजज्ञानवाद के अनुसार अन्तर्बोध ही नैतिक शक्ति है। वह कर्मों के औचित्य-अनौचित्य का प्रत्यक्ष ज्ञान देती है। जैसा कि प्रारम्भ में कह चुके हैं, सहजज्ञानवाद के अनुसार कुछ वस्तुएँ अपने-आप में शुभ हैं और कुछ अशुभ। व्यक्ति के चाहने पर न तो उनका मूल्य बढ़ता है और न, न चाहने पर, घटता ही है। वस्तुओं के आभ्यन्तरिक गुण का ज्ञान व्यक्ति को अन्तर्बोध द्वारा मिलता है। सहजज्ञानवाद यह भी मानता है कि अन्तर्बोध एवं नैतिक निर्णय की शक्ति प्रत्येक व्यक्ति में सदैव वर्तमान रहती है। अतः वह समस्त सरल-जटिल परिस्थितियों में यह बतला सकती है कि व्यक्ति को क्या करना चाहिये। वह सदैव व्यक्ति के कर्म के स्वरूप को निर्धारित कर सकती है और तत्काल आदेश दे सकती है कि यह करो और यह न करो। उसके आदेश तात्कालिक होने के साथ ही अद्वितीय भी हैं; तर्क अथवा युक्ति द्वारा उसके निर्णयों को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। उसके निर्णय परम हैं; जो उचित है वह सदैव ही उचित रहेगा और जो अनुचित है वह सदैव अनुचित रहेगा। उसके निर्णय निरपेक्ष हैं; उन्हें किसी अन्य निर्णय के आधार पर अथवा किसी अन्य वस्तु के सम्बन्ध में सिद्ध नहीं कर सकते। उसके आदेश अपनी विशिष्टता रखते हैं; सत्यता, पराक्रम तथा आत्म-संयम का वह विना कोई कारण दिये हुए अनुमोदन करता है। संक्षेप में अन्तर्बोध के निर्णय प्रत्यक्ष, अद्वितीय, निरपेक्ष, अविश्लेषणीय और सहज होते हैं।

अन्तर्बोध को एक सर्वसामान्य शक्ति के रूप में मानने के साथ ही सहजज्ञानवादी यह मानते हैं कि वह सब व्यक्तियों में समान रूप से विकसित नहीं है। सुशिक्षित, चरित्रवान् तथा बौद्धिक रूप से विकसित व्यक्ति के निर्णय

कम शिक्षित तथा विवेकहीन व्यक्तित्व के निर्णय से अधिक मान्य और विश्वसनीय होते हैं। इस भेद को स्वीकार करने के साथ ही वे यह मानते हैं कि दोनों के ही निर्णय परम और निरपेक्ष हैं। अन्तर्बोध के निर्णयों के उक्त स्वरूपों का यह अर्थ नहीं है कि वे बोधगम्य नहीं हैं। अंकगणित के स्वयंसिद्ध मूल सूत्रों की तरह अन्तर्बोध के निर्णयों का ज्ञान बुद्धिग्राह्य और सहज है। साथ ही यह सच है कि उन निर्णयों को शब्दों अथवा तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता एवं बौद्धिक प्रमाण नहीं दिया जा सकता और न सामान्य बोध की दुहाई देकर ही सिद्ध किया जा सकता है। उसके विरुद्ध किसी प्रकार का भी कथन सम्भव नहीं है।

कुछ सहजज्ञानवादी अन्तर्बोध को एक प्रकार की छठी इन्द्रिय मानते हैं। जिस भाँति हम नेत्रेन्द्रिय से यह स्पष्ट और प्रत्यक्ष देख सकते हैं कि किसी वस्तु का रंग क्या है, उदाहरणार्थ, आँख बतला सकती है कि दृश्य वस्तु लाल है अथवा पीली, उसी भाँति इस छठी इन्द्रिय से नैतिक मान्यताओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हो सकता है। वह कर्मों के सदसत् का ज्ञान देती है। पुनः जिस भाँति नेत्रेन्द्रिय जन्मजात एवं सहजात और सार्वभौमिक है उसी प्रकार नैतिक इन्द्रिय भी जन्मजात और सार्वभौमिक है। वह स्वतःजात और नैसर्गिक है। अन्तर्बोध सार्वभौमिक एवं सार्वजनीन है। वह सब व्यक्तियों में है। अन्तर्बोध को सार्वभौमिक कहने के साथ ही सहजज्ञानवादियों ने कुछ अपवाद स्वीकार किये हैं। उनका कहना है कि ये अपवाद अन्तर्बोध की सार्वभौमिकता का निराकरण नहीं कर सकते हैं। समान रूप से नेत्रेन्द्रिय होने पर भी कुछ लोग रंग-अन्ध होते हैं। उसी प्रकार कुछ व्यक्तियों का अन्तर्बोध भ्रान्तिपूर्ण होता है। रंगान्धता यह सिद्ध नहीं करती है कि जनसामान्य को नेत्रों द्वारा रंग की पहचान नहीं हो सकती और कुछ लोगों का भ्रान्तिपूर्ण अन्तर्बोध यह सिद्ध नहीं करता कि लोगों में सहजज्ञान की शक्ति नहीं है। ऐसी स्थिति में अन्तर्बोध को शिक्षित और मार्जित किया जा सकता है।

अन्तर्बोध सदसत् को पहचानने की वह शक्ति है जो तत्काल बतला देती है कि वांछनीय और उचित क्या है, अपने-आप में शुभ क्या है? जिस भाँति

घ्राणेन्द्रिय के लिए यह नहीं कह सकते कि जिस गन्ध को वह बुरा कहती है वह गन्ध क्यों बुरी है, उसी भाँति अन्तर्बोध किसी कर्म को शुभ या वांछनीय क्यों कहता है, यह नहीं कहा जा सकता। अन्तर्बोध के पक्ष अथवा विपक्ष में कोई बौद्धिक प्रमाण नहीं दे सकते हैं। अन्तर्बोध का निर्णय सब कालों, सब देशों और सब अवस्थाओं में समान रूप से सत्य है। अतः अन्तर्बोध द्वारा व्यक्ति प्रत्येक परिस्थिति में अपने कर्तव्य को निर्धारित कर सकता है। उसे उसी कर्तव्य और नियम को स्वीकार करना चाहिये जिसे कि अन्तर्बोध का पूर्ण समर्थन प्राप्त हो। अन्तर्बोध ही नैतिकता का मानदण्ड और प्रमाण है।

सहजज्ञानवाद का सिद्धान्त कहाँ तक नैतिकता के मानदण्ड को दे सका है, कर्मों के औचित्य को निर्धारित करने के लिए कितनी सम्यक् तुला दे सका है, यह सहजज्ञानवाद के विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन ही वतायेगा।

१७

सहजज्ञानवाद (परिशेष)

कुछ महत्त्वपूर्ण सहजज्ञानवादी

बुद्धिवादी सहजज्ञानवाद : परिचय—कम्बरलैंड और केम्ब्रिज के सहज-ज्ञानवादियों ने, जो प्लेटो के मूलगत सिद्धान्त को स्वीकार करने के कारण 'केम्ब्रिज प्लेटोनिस्ट्स'[1] कहलाये, नैतिक विचारों की नित्यता और स्थिरता को सिद्ध करने का प्रयास किया और साथ ही उन्होंने मनुष्य की बौद्धिक और सामाजिक प्रकृति को भी समझाया। इन विचारकों[2] ने ही बुद्धिवादी सहज-ज्ञानवाद[3] को जन्म दिया। वाद को इसी विचारधारा का विकास 'नैतिक बोधवाद' के नाम से हुआ। कम्बरलैंड और केम्ब्रिज के सहजज्ञानवादियों ने हॉब्स के विरुद्ध यह कहा कि नैतिक निर्णय शाश्वत और निरपेक्ष हैं, रूढ़िगत और कृत्रिम नहीं। वे बुद्धि की अभिव्यक्ति हैं न कि संकल्प की, चाहे वह संकल्प मनुष्य का हो या ईश्वर का। हॉब्स ने नैतिक विभक्तियों को सामाजिक समझौते के द्वारा समझाया और ईश्वरनिष्ठ विचारकों ने उन्हें भगवत् संकल्प की अभिव्यक्ति कहा। पर बुद्धिवादी सहजज्ञानवादियों का कहना है कि नैतिक विभक्तियों का अस्तित्व लोकमत और सामाजिक समझौते से स्वतन्त्र है, इस-लिए नैतिक विभक्तियाँ न तो मनुष्य के और न भगवान् के ही स्वतन्त्र संकल्प या शक्ति द्वारा निर्धारित हो सकती हैं।

---

१. Cambridge Platonists.

२. कडवर्थ, कम्बरलैंड, क्लार्क, वुलेस्टन आदि।

३. Rational Intuitionism.

बुद्धिवादी सहजज्ञानवाद : कडवर्थ

नैतिक विभक्तियाँ शाश्वत हैं—कडवर्थ[1], जो कि केम्ब्रिज प्लेटोनिस्ट्स का नेता था, इस वर्ग का सबसे प्रसिद्ध विचारक हुआ। उसने हॉब्स के परम स्वार्थवाद और प्रकृतिवाद के विपरीत यह बतलाने का प्रयत्न किया कि नैतिक मान्यताओं एवं नैतिक विभक्तियों का, वैयक्तिक एवं सामाजिक विचार, लोकमत, सिद्धान्त अथवा सामाजिक समझौते से स्वतन्त्र, अपना निश्चित और निरपेक्ष अस्तित्व है। ईश्वरविद्या को मानने वाले धर्मनिष्ठों के विरुद्ध वह कहता है कि भगवान् अपने कर्म नैतिकता के शाश्वत और अनिवार्य प्रत्ययों के अनुरूप निर्धारित करते हैं। अतः मात्र संकल्प शुभ को अशुभ या अशुभ को शुभ नहीं बना सकता है। शुभ और अशुभ की धारणाएँ शाश्वत हैं, वे संकल्प की उपज नहीं हैं। नैतिक विभक्तियाँ वस्तुओं के आभ्यन्तरिक गुणों की सूचक हैं, उनका वस्तुगत अस्तित्व है।

प्लेटो का प्रभाव—प्लेटो से प्रभावित होकर कडवर्थ हॉब्स के संवेदनवादी अनुभववाद की आलोचना करते हुए कहता है कि संवेदनाएँ स्थायी सत्ता का ज्ञान नहीं दे सकती हैं। ज्ञान के वास्तविक विषय सार्वभौम प्रत्यय हैं और वे बोधगम्य हैं। उनका ज्ञान अनुभव-निरपेक्ष है, संवेदनजन्य नहीं। नैतिक प्रत्ययों, उदाहरणार्थ, कर्तव्य, न्याय आदि, का हम अनुभव नहीं कर सकते : स्पर्शेन्द्रिय, नेत्रेन्द्रिय, रसेन्द्रिय द्वारा हम उनका स्पर्श, दर्शन और आस्वादन नहीं कर सकते हैं। वे प्रत्यय सार्वभौम, नित्य और शाश्वत हैं, प्रत्युत्पन्न, अकृत्रिम और स्वार्थजन्य नहीं। नैतिक नियम वस्तुओं के सार में निहित हैं, अथवा शुभ वस्तुगत और स्वाभाविक है। नैतिक प्रत्यय वे प्रत्यय हैं जो कि बुद्धि-सम्मत हैं। अतः गणित के सत्यों की भाँति नैतिकता के सत्यों का सम्बन्ध विशिष्ट संवेदनों से नहीं किन्तु वस्तुओं के बोधगम्य और सार्वभौम तत्त्व से है। वे उतने ही चिरन्तन हैं जितना कि वह शाश्वत मानस जिसकी सत्ता इनसे अभिन्न है।

वैज्ञानिक और नैतिक सत्यों का सादृश्य—कडवर्थ यह मानता है कि

१. Ralph Cudworth 1617-1688.

भगवान् मूल मानस हैं। उनके मानस में विज्ञान और नैतिकता के शाश्वत विचारों का मूल प्रतिरूप है। विज्ञान और नैतिकता के सत्यों के ज्ञान का मूल स्रोत एक ही है। कृतिबुद्धि और विचारबुद्धि एक ही हैं। नैतिकता के विचार उतने ही वस्तुगत और नित्य हैं जितने कि विज्ञान के विचार। शुभ और अशुभ की विभक्तियों की वस्तुगत सत्ता को बुद्धि द्वारा उसी भाँति समझाया जा सकता है जिस प्रकार देश और संख्या के सम्बन्धों को। नैतिक प्रत्ययों के स्वरूप और वस्तुगत श्रेष्ठता को केवल बुद्धि से ही समझ सकते हैं यद्यपि यह सच है कि नैतिक विभक्तियों का ज्ञान मनुष्य के मानस में दिव्य मानस से आता है।

अन्तर्बोध और शुभ आचरण—कडवर्थ का यह भी कहना है कि आचरण को निर्देशित करने के लिए हमें किसी वाह्य शक्ति की सहायता नहीं लेनी होती है। मनुष्य का बोध सहज रूप से उन नैतिक सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है जो शाश्वत, नित्य और अनिवार्य हैं; जो सार्वभौम और स्वतःसिद्ध हैं। नैतिक सिद्धान्त या प्रमेय बौद्धिक प्राणियों के आचरण को निर्देशित करने के लिए उतनी ही अपरिवर्तनशील प्रामाणिकता रखते हैं जितनी कि रेखागणित के सत्य। कडवर्थ का कहना है कि मनुष्य के पास एक विशिष्ट गुण अथवा नैतिक शक्ति एवं अन्तर्बोध है जिसका स्वरूप बौद्धिक है। इसके निर्णय प्रत्यक्ष और परम होते हैं। व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह इस शक्ति को विकसित करने के लिए प्रयास करे। इस शक्ति के विकास पर ही नैतिक प्रगति निर्भर है। उचित आचरण उचित निर्णय पर निर्भर है और उचित निर्णय के लिए नैतिक सिद्धान्तों के सम्यक् ज्ञान की पूर्व सत्ता आवश्यक है। अज्ञान के कारण ही हम अनैतिक आचरण को अपनाते हैं। यदि हम नैतिक सिद्धान्त का उचित ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं तो हमें चाहिए कि शुभ चरित्र के बौद्धिक व्यक्तित्व के लोगों के ज्ञान से लाभ उठाएँ।

बुद्धिवादी सहजज्ञानवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन

हॉब्स के स्वार्थवाद पर असफल आघात—बुद्धिवादी सहजज्ञानवादियों ने हॉब्स के विरुद्ध यह समझाने का प्रयास किया कि उचित-अनुचित की धारणाएँ

शाश्वत हैं। हॉब्स ने एक ओर तो यह माना कि प्रकृति के नियम नित्य और शाश्वत हैं और दूसरी ओर मानव-स्वभाव की स्वार्थ-मूलक व्याख्या करते हुए यह कहा कि स्वार्थ की सिद्धि के लिए अत्युत्तम साधन यह है कि व्यक्ति समझौते के नियमों का पालन करे। हॉब्स के इस कथन में जो सत्य है हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। किन्तु बुद्धिवादियों ने अपनी आलोचना के आवेश में यह कह दिया कि हॉब्स के अनुसार शुभ और अशुभ के भेद को मनुष्य-निर्मित समझौते द्वारा निर्धारित किया गया है। वास्तव में बुद्धिवादियों की आलोचना का केन्द्र हॉब्स की राजनीतिक निरंकुशता है जिससे यह ध्वनि निकलती है कि उचित, अनुचित की धारणाएँ सामाजिक समझौते द्वारा निर्मित हैं और धार्मिक कर्तव्य से हमारा अभिप्राय उस शक्तिशाली की स्वतन्त्र इच्छाओं का भयवश पालन करने से है जो दण्ड और पुरस्कार द्वारा हम पर आरोपित की जाती हैं। हॉब्स के सिद्धान्त की रिक्तता को सिद्ध करने के लिए बुद्धिवादियों ने स्वार्थ और परमार्थ के प्रश्न को हल करने का प्रयास किया किन्तु वे असमर्थ रहे। हॉब्स के मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद को पराजित किये विना बौद्धिक नैतिकता का सिद्धान्त सफलतापूर्वक स्थापित नहीं हो सकता। जब तक कि आत्म-प्रेम और सामाजिक कर्तव्य में सन्तुलन स्थापित नहीं किया जाएगा तब तक सामाजिक कर्तव्य के औचित्य की अधिक-से-अधिक बौद्धिक अभिव्यक्ति बुद्धि और आत्म-प्रेम (जो मनुष्य के रागात्मक स्वभाव का स्वाभाविक अंग है) में विरोध बढ़ाती जाएगी। यही कारण है कि बुद्धिवादी परोपकार और आत्म-प्रेम में समन्वय स्थापित नहीं कर पाये।

शुभ का स्वरूप: अमूर्त—प्लेटो और अरस्तू के शुभ की धारणा को स्वीकार करते हुए बुद्धिवादियों ने समझाया कि सत्य सार्वभौम और वस्तुगत है; उसका स्वरूप बौद्धिक है। गणित और विज्ञान के स्वतःसिद्ध मूल-सूत्रों की भाँति नैतिक सत्य भी सहज और बुद्धिग्राह्य है। शुभ-अशुभ की धारणाएँ समझौते या स्वेच्छाचारी संकल्प का परिणाम नहीं हैं। नैतिक सत्य सार्वभौम है। नैतिक सत्य के सार्वभौम स्वरूप को ही कांट ने अपने सिद्धान्त में अत्यधिक

महत्त्व दिया। कडवर्थ और क्लार्क एवं बुद्धिवादी सहजज्ञानवादी शुभ के मूर्त स्वरूप को समझाने में असफल रहे। जब हम यह पूछते हैं कि शुभ कर्म से क्या अभिप्राय है; उचित कर्म का क्या रूप है; तो हमें उचित अथवा शुभ की स्पष्ट व्याख्या नहीं मिलती वरन् विभिन्न शब्दों की भूलभुलैया में भटकना पड़ता है। बुद्धिवादियों का यह कहना कि उचित कर्म विवेकसम्मत, बुद्धिग्राह्य या स्वाभाविक है, पर्याप्त नहीं है। यह शुभ के स्वरूप का स्पष्टीकरण करना नहीं है, एक ही बात को घुमा-फिराकर कहना है।

हॉब्सवाद से मुख्य भेद—निष्पक्षता का सिद्धान्त—वास्तव में हॉब्सवाद और प्लेटोवाद का मुख्य भेद यह है कि जहाँ पर हॉब्स ने आत्मस्वार्थ के लिए नैतिक आदेशों का पालन करने एवं दूरदर्शिता से काम करने के लिए कहा वहाँ प्लेटो के अनुयायियों ने नैतिक व्यक्ति को सजातीयों के लिए त्याग का सिद्धान्त समझाया। दूसरों के प्रति हमारा वैसा ही आचरण होना चाहिए जैसा कि हम दूसरों से अपने प्रति चाहते हैं। निष्पक्षता या समानता का ऐसा सिद्धान्त हॉब्स के परम स्वार्थवाद की असत्यता सिद्ध करता है। क्लार्क ने समानता को बहुत महत्त्व दिया है और उस आधार पर समझाया है कि सत्य सार्वभौम और वस्तुगत है, इसका अस्तित्व किसी के भी स्वतन्त्र संकल्प पर निर्भर नहीं है। कांट ने 'प्रत्येक को साध्य मानो' कहकर समानता की धारणा को ही पूर्ण और स्पष्ट रूप से व्यक्त किया। जैसा कि हम देख चुके हैं, उपयोगितावादियों ने अपना समानता का यह सिद्धान्त कि 'प्रत्येक व्यक्ति की गणना एक है' सहजज्ञानवादियों से ही लिया।

व्यावहारिक और चिन्तनबुद्धि का क्षेत्र—बाह्य जगत् से रूपक लेने के कारण बुद्धिवादी सहजज्ञानवादी, विशेषकर कडवर्थ और क्लार्क, एक भूल और करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि नैतिक जगत् में व्यावहारिक बुद्धि और चिन्तनबुद्धि भिन्न हैं। वे इन दोनों को एक ही मान लेते हैं। न्याय, संयम आदि नैतिक आदर्शों को और कार्य-कारण, परिमाण आदि बाह्य जगत् की धारणाओं को समान रूप से बुद्धि का विषय मान लेते हैं। कांट ने सहजज्ञान-वादियों की इस भूल को दूर किया। कडवर्थ और क्लार्क के साथ यह स्वीकार

करते हुए कि कर्मों का औचित्य वस्तुगत है और इसलिए नैतिक नियम बुद्धि के विषय हैं न कि भावना के, जो कि आत्मगत और वैयक्तिक है, वह उनके सिद्धान्त को अधिक विकसित करता है। जहाँ तक बुद्धि के दोनों रूपों (व्यावहारिक और चिन्तन-सम्बन्धी) का प्रश्न है वे सीमाओं से घिरे हुए व्यक्ति के लिए भिन्न हैं, यद्यपि पूर्ण ज्ञान इनमें ऐक्य स्थापित करेगा। अतः मानव-जीवन की व्याख्या करते हुए कांट कहता है कि चिन्तनबुद्धि के द्वारा उन सत्यों—ईश्वर, आत्मा और संकल्प-स्वातन्त्र्य—को सिद्ध नहीं किया जा सकता, जो व्यावहारिक बुद्धि की आवश्यक मान्यताएँ हैं।

गणित और पदार्थविज्ञान के रूप की सीमाएँ—गणित और पदार्थविज्ञान के रूप को क्लार्क पूर्ण रूप से स्वीकार कर लेता है और इस कारण विकासवादी सुखवादियों की भाँति यह भूल जाता है कि नीतिशास्त्र आदर्शविधायक सिद्धान्त है। वह यह जानना चाहता है कि हमें क्या करना चाहिए। भौतिक नियम हमें केवल तथ्य का ज्ञान देते हैं और 'क्या है' के स्वरूप को समझाते हैं। क्लार्क के अनुसार भौतिक नियम जगत् की प्रत्येक वस्तु को नियमों के अधीन बतलाते हैं। कर्म के औचित्य-अनौचित्य को भी हम नियम के आधार पर समझ सकते हैं। भगवान् ने ही प्राकृतिक नियम दिए हैं; भगवान् ने ही कुछ कर्मों को पर्याप्तता दी है। नैतिक और प्राकृतिक नियम शाश्वत और नित्य हैं। नैतिक बोध द्वारा कर्मों की पर्याप्तता और अपर्याप्तता को समझकर हमें पर्याप्त कर्मों को स्वीकार करना चाहिए। किन्तु क्लार्क भी 'क्या है' और 'क्या होना चाहिए' के भेद को भूल जाता है। यही कारण है कि प्रयास करने पर भी वह आत्म-प्रेम और सद्गुण के बीच संगति स्थापित करने में असमर्थ रहा। व्यावहारिक बुद्धि के सहजज्ञानों के विरोध को गणित के सहजज्ञान द्वारा समझाना यथार्थ और आदर्श विज्ञान के भेद को भूलना है। क्लार्क के अनुयायी, वुलेस्टन ने नीतिशास्त्र और तर्कशास्त्र में पूर्ण ऐक्य मानकर नीतिशास्त्र को तर्कशास्त्र पर आधारित करके अपने सिद्धान्त को अत्यधिक आलोचना का विषय बना दिया।

नैतिक बोधवाद

सामान्य परिचय—नैतिक बोधवादियों एवं सौन्दर्यवादियों ने अपने नैतिक बोध (moral sense) के आधार पर समझाया कि सुन्दर-असुन्दर का भेद विषयक जो नन्दतिक बोध होता है उसी की भाँति शुभ और अशुभ सहजबोध होता है। जिस भाँति सौन्दर्य का बोध वस्तुओं की सुन्दरता और असुन्दरता से प्रभावित होता है उसी भाँति नैतिक बोध भी कर्मों के नैतिक या अनैतिक गुण से प्रभावित होता है। अथवा नैतिक बोध नन्दतिक बोध की भाँति है। हम ऐसे सहजबोध की व्याख्या कर सकते हैं। हमारी बुद्धि इन बोधों को समझ सकती है। सौन्दर्यवादियों का यह भी कहना है कि नैतिक बोध मनुष्य को उसकी सामाजिक प्रकृति की देन है। जो समाज के लिए लाभदायक है वह स्वभावत: शुभ है और जो हानिप्रद है उसे हम सहज ही अशुभ कह देते हैं। सहजज्ञानवाद की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन बतलाता है कि सौन्दर्य-वादियों का यह दृष्टिकोण एक जलाशय के समान है जिससे अनेक नैतिक धाराएँ प्रवाहित होती हैं।

हॉब्स की आलोचना—हॉब्स ने कहा कि व्यक्ति केवल अपनी ही इच्छाओं की तृप्ति करता है। इससे उसका अभिप्राय यह था कि व्यक्ति केवल अपने सुख और जीवन के संरक्षण की चिन्ता करता है। सौन्दर्यवाद का प्रतिनिधित्व करने वाले विचारकों, हचिसन और शैफ्ट्सबरी ने मुख्य रूप से हॉब्स के इस कथन की आलोचना की। उन्होंने बुद्धिवादियों के साथ हॉब्स के विरुद्ध एक ओर तो यह स्वीकार किया कि नैतिक विभक्तियाँ शाश्वत हैं और दूसरी ओर यह कहा कि (विशेषकर शैफ्ट्सबरी ने) आत्म-स्वार्थ द्वारा किए हुए कर्म और सद्गुण द्वारा किए हुए कर्म में संगति है। उनका कहना है कि वैयक्तिक शुभ और सामाजिक शुभ एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं क्योंकि समाज एक आवयविक समग्रता (organic whole) है।

बुद्धिवादी सहजज्ञानवादियों से भेद—बुद्धिवादी सहजज्ञानवादी सामाजिक आचरण या कर्तव्य के लिए कोई ठोस मनोवैज्ञानिक आधार नहीं दे पाये।

उन्होंने सामाजिक आचरण को केवल अमूर्त बुद्धि के सिद्धान्त द्वारा समझाया। ऐसी स्थिति में जब बुद्धि और स्वाभाविक आत्म-प्रेम में विरोध उठता है तो व्यक्ति कठिनाई में पड़ जाता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए ही क्लार्क ने सार्वभौम परोपकारिता को बुद्धिसम्मत कहा और कम्बरलैण्ड ने उन प्रवृत्तियों को स्वीकार किया जो मनुष्य को सजातीयों की सेवा करने के लिए प्रेरित करती हैं। सौन्दर्यवादियों ने नैतिक बोध को मनुष्य की सामाजिक प्रकृति की देन कहकर स्वाभाविक भावनाओं द्वारा व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बाँध दिया। शैफ्ट्सबरी से पूर्व किसी भी नीतिज्ञ ने इस तथ्य को पूर्ण महत्त्व देते हुए नहीं कहा कि सामाजिक आचरण के मूल में रागात्मक आवेग हैं। शैफ्ट्सबरी ने अनुभव का विश्लेषण करते हुए यह समझाया कि मनुष्य की स्वार्थ और निःस्वार्थ की प्रवृत्तियों में संगति है।

नैतिक बोधवाद की आलोचना

नैतिक बोध का हठपूर्वक समर्थन—नैतिक बोधवादियों ने अपने सिद्धान्त द्वारा विशेषकर इस पर बल दिया कि हमें नैतिक बोध के सिद्धान्त पर चिन्तन-मनन करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि यह स्वभावतः प्रत्येक संस्कृत रुचि में समाहित है। अतः यह वह सिद्धान्त है जो केवल नैतिक बोध के अस्तित्व को समझाता है और उसकी प्रामाणिकता को सिद्ध करने का प्रयास नहीं करता। ऐसा सिद्धान्त हमारी जिज्ञासा को पर्याप्त सन्तुष्ट नहीं करता।

महत्त्वपूर्ण देन—नैतिक बोधवादियों को हम बुद्धिवादी सहजज्ञानवादियों की प्रतिक्रिया के रूप में समझ सकते हैं। यद्यपि वे बुद्धिवादियों के साथ स्वीकार करते हैं कि हॉब्सवाद विपज्जनकवाद है, तथापि उन्होंने उनकी अमूर्त बौद्धिक धारणा की आलोचना की। अतः नैतिक बोधवाद अमूर्त बुद्धिवाद और परमस्वार्थवाद का मध्यवर्ती दृष्टिकोण है। उपर्युक्त दुर्बलताओं के होते हुए भी शैफ्ट्सबरी और हचिसन का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण सत्य से अछूता नहीं है। प्रत्येक निर्णय में एक सहज या अपरोक्ष तत्त्व रहता है, इसमें सन्देह नहीं है। यदि हम सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर भी विशिष्ट ध्येयों का मूल्यांकन

करें तो भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हम उपर्युक्त सत्य का निराकरण नहीं कर सकते हैं। सर्वोच्च सार्वभौम सिद्धान्त का ज्ञान सहज रूप से ही होता है क्योंकि सर्वोच्च होने के कारण उसका सरलीकरण नहीं किया जा सकता। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि ऐसे अनिवार्य सहज निर्णय अधिकतर अविश्वसनीय हैं जो कि व्यावहारिक जीवन की उन स्थितियों के लिए आवश्यक हैं जहाँ सतर्क चिन्तन असम्भव है। शैफ्ट्सबरी और हचिसन ने यह समझाया कि शुभ केवल उस अमूर्त सार्वभौम सत्य को नहीं कहते जो विशिष्ट वैयक्तिक अनुभवों द्वारा दुर्गम हैं। उन्होंने कहा कि विशिष्ट शुभ का प्रत्यक्ष बोध या भोग, चाहे वह सुख हो या मानसिक क्रिया या कोई अन्य विषय, एक सहज क्रिया है। शुभ का ऐसा स्वरूप यह बतलाता है कि उसका सम्बन्ध व्यक्तिगत चेतना से है। शुभ अपने में ही सन्तोष देता है और उसका बोध इस रूप में मिल सकता है कि उससे एक या अनेक व्यक्तियों को तत्काल सुख प्राप्त होता है।

बटलर

आन्तरिक और बाह्य निरीक्षण अन्तर्बोध के सर्वोच्च अधिकार की स्थापना करता है—बटलर[1] अट्ठारहवीं शताब्दी के अंग्रेज सहजज्ञानवादियों में व्यावहारिक दृष्टि से सर्वाधिक गम्भीर विचारक है। उसने क्लार्क की अनुभवनिरपेक्ष बौद्धिक प्रणाली की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए स्वयं आगमनात्मक प्रणाली को अपनाया। उसने नीतिशास्त्र को मानव-स्वभाव के अनुभूत तत्त्वों पर आधारित किया। उसके अनुसार निरीक्षण द्वारा हम यह बतला सकते हैं कि मानव-जीवन का उद्देश्य क्या है। इस उद्देश्य के लिए कर्म करने में ही मनुष्य को वास्तविक आनन्द प्राप्त होता है। अन्तर्मुखी निरीक्षण बतलाता है कि मनुष्य का स्वभाव उस प्राणी की भाँति नहीं है जो सामान्य रूप से कुछ नियमों के अनुसार कर्म करता है किन्तु वह उसकी भाँति है जिसे कि कुछ आदर्श सिद्धान्तों के अनुसार कर्म करना चाहिए; चाहे, वास्तव में, वह उन आदर्शों के अनुरूप कर्म करे या न करे। निरीक्षण तथा अन्तर्निरीक्षण द्वारा बटलर इस

१. Joseph Butler, 1692-1752.

निष्कर्ष पर पहुँचता है कि नैतिक बाध्यता की चेतना मानव-स्वभाव का एक सत्य है और यह चेतना इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि नैतिक बाध्यता एक वस्तुगत सत्य है। अतः नैतिक कर्तव्य की बाध्यता आन्तरिक है, बाह्य नहीं। इस आन्तरिक शक्ति के कारण मनुष्य अपना नियम स्वयं है। बटलर अन्तर्बोध के आदेश अथवा अधिकार को सर्वोच्च मानता है और कहता है कि इस सर्वोच्चता को समझाने के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अन्तर्बोध अपने इस अधिकार को अपने साथ रखता है कि वह हमारा प्रकृतिदत्त निर्देशक है और वह निर्देशक हमें हमारी प्रकृति के स्रष्टा द्वारा दिया गया है।

धार्मिक मनोवृत्ति—हचिसन और शैफ्ट्सबरी अन्तर्बोध के सर्वोच्च आदेश को समझाने में असमर्थ रहे। बटलर नैतिक बोध के बदले अन्तर्बोध का प्रयोग करके तथा उसके आदेश को सर्वोच्च कहकर नैतिक बोधवाद की इस कमी को दूर करने का प्रयास करता है। बटलर के ऐसे सिद्धान्त के मूल में हमें उसके पादरी के व्यक्तित्व की झलक मिलती है। पादरी होने के कारण ही, सम्भव है, बिना व्यवस्थित दर्शन का प्रतिपादन किए वह कहता है कि प्रकृति का स्रष्टा बुद्धिमान है, वह परोपकारी है, वह मनुष्य को उन कर्मों के बारे में शिक्षा देता है जिन्हें करना उसका उद्देश्य है। और जब मनुष्य उन कर्मों को करता है तो उससे स्रष्टा को आनन्द देता है।

समाज का आवयविक रूपक—जहाँ तक मानव-समाज की आवयविक समग्रता के रूप का प्रश्न है, बटलर शैफ्ट्सबरी का पर्याप्त ऋणी है। बटलर के अनुसार समाज एक विधान की भाँति है जिसके अंश स्वतन्त्र रूप से कर्म नहीं कर सकते हैं। समाज को स्वभावतः आवयविक समग्रता मानकर वह हॉब्स के विरुद्ध यह समझाता है कि समाज स्वार्थी इकाइयों के समझौते का अस्वाभाविक परिणाम नहीं है। मनुष्य का स्वभाव इतना अधिक सामाजिक है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने सत्य स्वभाव के अनुरूप कर्म करने लगे तो समाज एक पूर्ण आवयविक विधान बन जायगा जिसके अंग समग्र के हित के लिए क्रियाशील होंगे। बटलर के अनुसार हमें मानव-स्वभाव से जितना स्पष्ट आभास इस बात का मिलता है कि हम मानव-समाज के लिए बनाये गए हैं

और अपने सजातीयों के आनन्द और कल्याण की वृद्धि करने के लिए हैं, उतना ही स्पष्ट आभास इस बात का भी मिलता है कि हम अपने जीवन, स्वास्थ्य तथा व्यक्तिगत शुभ की चिन्ता करने के लिए बनाये गये हैं।

मनुष्य का स्वभाव : सामाजिक—मनुष्य और समाज के आन्तरिक सम्बन्ध को वह मनुष्य-स्वभाव के सामाजिक पक्ष की दुहाई देकर समझाता है। वह कहता है कि मनुष्य के स्वभाव तथा उसकी प्रवृत्तियों के अध्ययन द्वारा हम सिद्ध कर सकते हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। इन सामाजिक प्रवृत्तियों को समझाने के लिए वह तीन तर्क प्रस्तुत करता है। (१) मनुष्य में परोपकार का स्वभाविक सिद्धान्त मिलता है। परोपकार के कारण ही मनुष्य दूसरों के शुभ को प्रत्यक्ष रूप से खोजता है और दूसरों के कल्याण में सन्तोष प्राप्त करता है। उसके अनुसार मनुष्य की सब प्रवृत्तियाँ स्वार्थी नहीं हैं। दया, मित्रता, पितृस्नेह, अपत्यप्रेम आदि प्रवृत्तियाँ स्वार्थ-निरपेक्ष हैं। इन प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य उसी प्रकार दूसरों के सुख की चिन्ता करता है जिस प्रकार आत्मप्रेम के कारण निजी सुख की। (२) लोक-प्रवृत्तियाँ वे प्रवृत्तियाँ हैं जिनको न तो हम परोपकार के वर्ग में रख सकते हैं और न आत्म-प्रेम के। वे इन दोनों से भिन्न हैं, क्योंकि वे केवल वैयक्तिक और लोक-हित की ही उन्नति नहीं करतीं बल्कि समान रूप से दोनों की वृद्धि करती हैं। व्यक्त रूप से वे कुछ विशिष्ट ध्येयों—सामाजिक प्रेम, दूसरों का आदर, आत्म-सम्मान की इच्छा, कुकर्मों के प्रति घृणा आदि—की प्राप्ति के लिए प्रयास करती हैं किन्तु अव्यक्त रूप से वे सामान्य सुख की वृद्धि करती हैं। इस प्रकार वे सामाजिक एकता को स्थापित्त करने में क्रियाशील रहती हैं। (३) अन्तर्बोध या चिन्तन का सिद्धान्त : इसके द्वारा व्यक्ति अपने हृदय, स्वभाव और कर्मों का समर्थन या असमर्थन करता है। अन्तर्बोध नैतिक समर्थन और असमर्थन की शक्ति है। मनुष्य-स्वभाव में जो दो विरोधी प्रवृत्तियाँ, स्वार्थमूलक और परार्थमूलक अथवा आत्मप्रेम और परोपकार की मिलती हैं उन प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखने के लिए ही अन्तर्बोध या चिन्तन का सिद्धान्त है। अन्तर्बोध-विरोधी प्रवृत्तियों को सुनिर्देशित करता है अतः वह उन दोनों से श्रेष्ठ है। अन्तर्बोध मनुष्य को आत्महित के

समान ही लोकहित के लिए कर्म करने को प्रेरित करता है। यही कारण है कि यदि किसी व्यक्ति में परोपकार की प्रवृत्ति क्षीण होती है तो अन्तर्बोध उस कमी को दूर कर देता है।

मानव-स्वभाव भी एक विधान है—मनुष्य-स्वभाव की प्रवृत्तियों के विश्लेषण द्वारा बटलर ने यह समझाया कि मनुष्य का मानस आवयविक समग्रता या संयोजित पूर्णता है। वह विरोधी तत्त्वों का समुदायमात्र नहीं है। मानव-जाति भी केवल व्यक्तियों का समूह नहीं है प्रत्युत वह एक सुव्यवस्थित अंगी या विधान है। इसलिए किसी के लिए भी यह सम्भव नहीं है कि वह अपने हित और सामाजिक हित में स्पष्ट भेद देखे। यह अवश्य है कि कुछ में स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्तियों का अभाव है। पर इसके विपरीत यह कह सकते हैं कि कुछ में अपने हित की समझ भी नहीं है। जहाँ तक मनुष्य के सामान्य स्वभाव का प्रश्न है उसे हम इन अपवादों के आधार पर नहीं समझ सकते हैं।

प्लेटो की भाँति बटलर मानव-आत्मा की तुलना राज्य-विधान से करता है। ऐसे विधान की धारण यह इंगित करती है कि राज्य के प्रत्येक भाग अथवा प्रत्येक नागरिक का अपना विशिष्ट कर्मक्षेत्र होता है और सब नागरिक अधिकारतः केन्द्रीय सरकार के अधीन होते हैं। जब हम विधान की धारणा का प्रयोग मनुष्य के स्वभाव पर करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तर्बोध के परम आदेश की सीमा के अन्दर ही सब प्रवृत्तियाँ और आवेग उचित रूप से अपनी तुष्टि कर सकते हैं। अन्तर्बोध वह नियामक तत्त्व है जिसे कि हमारे स्वभाव के मूर्त सक्रिय अंगों के बीच संगति स्थापित करनी होती है। संगति से क्या अभि-प्राय है ? इसे कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? संगति को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे स्वभाव के विभिन्न तत्त्वों का उपयोग निर्दिष्ट ध्येय की उन्नति करने के लिए हो, न कि उसका विरोध करने के लिए।

विधान की धारणा : सक्रिय प्रवृत्तियों का विधान—विधान की धारणा का स्पष्टीकरण करने के लिए बटलर कहता है कि मानव-स्वभाव में अनेक प्रवृत्तियाँ हैं। इनके पारस्परिक सम्बन्ध को समझाने के लिए ही वह प्लेटो की भाँति आत्मा की तुलना राज्य-विधान से करता है। मानव-स्वभाव अनेक तत्त्वों की

आवयविक समग्रता है। इन आवयविक समग्रता में अनेक सक्रिय प्रवृत्तियाँ, राग और रुचियाँ हैं। कुछ कर्म की प्रेरणाएँ अन्य कर्म की प्रेरणाओं पर शासन करती हैं और कुछ शासित होती हैं। मानव-स्वभाव के मुख्यतः चार तत्त्व हैं—(१) विशिष्ट आवेग, राग और प्रवृत्तियाँ, (२) परोपकार, (३) आत्म-प्रेम तथा (४) अन्तर्बोध। विशिष्ट आवेग, राग और प्रवृत्तियाँ विशिष्ट विषयों की खोज करती हैं। उदाहरणार्थ, भूख का विषय भोजन है और दया का आर्त के दुःख को दूर करना। आत्म-प्रेम वैयक्तिक हित और परोपकार लोक-हित की चिन्ता करता है। अन्तर्बोध सर्वोच्च तत्त्व है। अथवा मनुष्य का स्वभाव अन्तर्बोध के शासन एवं सर्वोच्च अधिकारों में एक विधान या राज्य की भाँति है। इस विधान के विभिन्न तत्त्वों के विशिष्ट व्यापार हैं। राज्य के सदस्य होने के कारण प्रत्येक तत्त्व का अपना वैयक्तिक अधिकार और कर्तव्य है। अतः इस विधान का कोई भी तत्त्व एवं प्रेरणा अपने-आप में बुरी नहीं है। किन्तु जब कोई प्रेरणा अपनी सीमाओं का उल्लंघन करने लगती है एवं अपने क्षेत्र के बाहर कर्म करने लगती है तो वह बुरी हो जाती है। उदाहरणार्थ, वह उसी भाँति बुरी है जिस भाँति कि वह राज्य जो दूसरे राज्य के व्यापारों पर बलपूर्वक अधिकार कर लेता है।

विधान की धारणा बतलाती है कि विशिष्ट आवेग, राग और प्रवृत्तियाँ सहज रूप से एक ओर तो आत्मप्रेम के अधीन हैं और दूसरी ओर परोपकार के। परोपकार को महत्त्व देते हुए बटलर कहता है कि यह हमारे लिए स्वाभाविक और नैसर्गिक है कि हम दूसरों के शुभ के अनुरूप अपनी प्रवृत्तियों को निर्देशित और नियन्त्रित करें। आत्म-प्रेम के लिए वह कहता है कि यह कर्म का सुचिन्तित और नियामक सिद्धान्त है जो आत्मा के स्थायी आनन्द की खोज करता है। आत्मा के सुख की खोज करने पर भी वह उन विशिष्ट प्रवृत्तियों और रागों की भाँति नहीं है जो विशिष्ट विषयों की खोज—भूख, दर्द से छुटकारा आदि—में लीन रहते हैं, बल्कि वह उस सामान्य सुख की खोज करता है जो सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त है। वह विशिष्ट प्रवृत्तियों से श्रेष्ठ है। सक्रिय प्रवृत्तियों का प्रयोग वह अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए करता है। अतः यहाँ पर उसे हम

समन्वयात्मक और सामञ्जस्यात्मक सिद्धान्त के रूप में देखते हैं जो कि बौद्धिक है और इस कारण अन्य सक्रिय प्रवृत्तियों से श्रेष्ठ अधिकार रखता है। बटलर यह भी मानता है कि यदि आत्म-प्रेम अबौद्धिक है तो वह अपने ही ध्येय का विरोध करता है। उदाहरणार्थ, जबकि वह विशिष्ट आवेगों को उस सामान्य संगति को भङ्ग करने देता है जो स्थायी आनन्द के लिए अनिवार्य हैं।

अन्तर्बोध तथा अन्य प्रवृत्तियाँ—परोपकार और आत्म-प्रेम से श्रेष्ठ चिन्तन का सिद्धान्त या अन्तर्बोध है। यही औचित्य का नियम है। आत्म-प्रेम की भाँति यह भी कर्म का सुचिन्तित और नियामक सिद्धान्त है, पर साथ ही यह वह शक्ति है जिसका प्रभुत्व परम है। यह अपना अधिकार बौद्धिक आत्म-प्रेम को प्रदान करता है और विशिष्ट सामाजिक कर्तव्यों का भी उपभोग करता है। अन्तर्बोध अन्य प्रवृत्तियों पर परम अधिकार रखता है, किन्तु साथ ही यह उन पर निर्भर भी है क्योंकि मनुष्य में बुद्धि या अन्तर्बोध अपने-आपमें सद्‌गुण उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त प्रेरक नहीं है। वह केवल निर्देशक है और अपने आदेश के अनुपात में शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता है। इस कारण उसे प्रवृत्तियों के साथ मैत्री करनी पड़ती है और उनकी वृद्धि को एक उचित मात्रा तक प्रोत्साहित करना होता है। वास्तव में वह प्रवृत्तियों को सन्तुलित करके उन्हें अपने अनुकूल बनाता है।

अन्तर्बोध—अन्तर्बोध आत्म-प्रेम और परोपकार से श्रेष्ठ है। मानव-विधान में अन्तर्बोध का विशिष्ट स्थान होने के कारण इसका सिद्धान्त परम सिद्धान्त है। कर्म और चरित्र का समर्थन और असमर्थन करने वाला यह सिद्धान्त सामान्य राग और प्रवृत्तियों की भाँति केवल हमें प्रभावित ही नहीं करता बल्कि वह स्वभावतः उनसे श्रेष्ठ भी है। यदि उसमें अपने औचित्य के अनुरूप क्षमता भी होती और अधिकार के साथ ही शक्ति भी होती तो आज समस्त विश्व उससे अनुशासित होता। अन्तर्बोध या चिन्तन का सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति में है। वह प्रत्येक व्यक्ति के हृदय के आन्तरिक सिद्धान्तों तथा उसके बाह्य कर्मों के भेदों को समझाता है और अपने-आप पर तथा उन पर निर्णय देता है। इस प्रकार अन्तर्बोध कर्मों के शुभ और अशुभ को निर्धारित करता है तथा कर्ता के

बिना पूछे ही उसके कर्मों के औचित्य-अनौचित्य पर राजकीय गरिमा के साथ अपना निर्णय देता है। अन्तर्बोध स्वभावतः श्रेष्ठ है; यह श्रेष्ठता शक्ति की नहीं किन्तु आदेश की है। उसके आदेशानुसार कर्म अत्यन्त उच्च और श्रेष्ठ अर्थ में स्वाभाविक है। अतः अन्तर्बोध हमें औचित्य का नियम देता है और प्रत्यक्ष रूप से हमें उस नियम को पालन करने के लिए बाधित करता है।

अन्तर्बोध और स्वाभाविक—'स्वाभाविक' शब्द के विभिन्न अर्थों का परीक्षण कर बटलर इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मनुष्य के स्वभाव से अभिप्राय उसके अन्तर के उस सिद्धान्त से है जिसका आदेश सर्वोच्च है, यद्यपि यह आदेश सदैव प्रभावशील नहीं होता। यही अन्तर्बोध का सिद्धान्त है। अन्तर्बोध का सिद्धान्त बतलाता है कि कर्म के औचित्य-अनौचित्य को आँकने के लिए उसे सम्पूर्ण विधान की दृष्टि से समझना होगा। विधान के स्वभाव के अनुरूप कर्म शुभ और स्वाभाविक है और उसके विपरीत अशुभ और अस्वाभाविक। कर्म के औचित्य-अनौचित्य को वैयक्तिक रुचि या अरुचि के सन्दर्भ में नहीं समझना चाहिए। सबसे श्रेष्ठ कर्म है जो स्वभाव या सम्यक् स्वभाव के अनुरूप है। सम्यक् स्वभाव अथवा आदर्श विधान के रूप से कर्म की श्रेष्ठता को कैसे निर्धारित कर सकते हैं? जिस भाँति घड़ी का मूल्यांकन करने के लिए एक पूर्ण घड़ी की कल्पना कर लेते हैं और उसीके आधार पर घड़ी को अच्छी या बुरी कहते हैं, उसी भाँति सम्यक् या पूर्ण स्वभाव की कल्पना कर लेते हैं। वैसे सम्यक् स्वभाव वह है जिसमें विशिष्ट प्रवृत्तियाँ, दूरदर्शिता और परोपकार की सामान्य प्रवृत्तियों के अधीन हैं और ये दोनों अन्तर्बोध के सर्वोच्च सिद्धान्त के अधीन हैं। यहाँ पर यदि यह प्रश्न उठायें कि विशिष्ट प्रवृत्तियों को सम्यक् स्वभाव में किस सीमा तक तृप्त कर सकते हैं अथवा यदि परोपकार और आत्म-प्रेम में विरोध हो तो उस विरोध को कैसे दूर कर सकते हैं तो बटलर की ओर से हमें कोई निश्चित उत्तर नहीं मिलता। वास्तव में यहाँ पर हम अन्तर्बोध के ज्ञानात्मक रूप को स्वीकार कर लेते हैं। कर्म और चरित्र का नैतिक मूल्यांकन करने के लिए चिन्तन और तुलनात्मक दृष्टि की आवश्यकता है। कर्म और चरित्र को सम्पूर्ण के सन्दर्भ में समझना होगा और सम्पूर्ण अथवा

स्वभाव के अनुरूप कर्म करना सद्‌गुण है और विपरीत दुर्गुण है।

नैतिक बोध और अन्तर्बोध—शैफ्ट्सबरीके अन्तर्बोध और बटलर के अन्तर्बोध में अन्तर है। बटलर नैतिक बाध्यता को अधिक महत्त्व देता है और उसे आत्म-प्रेम से श्रेष्ठ अधिकार देता है। नैतिक नियम आन्तरिक है। मनुष्य अपना नियम स्वयं है। अन्तर्बोध का आन्तरिक नियम अनिवार्य अवश्य है किन्तु वह सामान्यतः आत्म-प्रेम के अनुरूप है क्योंकि दोनों के लिए ही आवश्यक है कि हम उग्र आवेगों को परोपकारी तथा अन्य प्रवृत्तियों के अधीन रखें। बटलर का ऐसा कथन यह बतलाता है कि सद्‌गुण, कर्तव्य और आत्मस्वार्थ में संगति है। शैफ्ट्सबरी का कहना है कि वर्तमान जीवन में हम इस संगति को पाते हैं। सद्‌गुण और आत्म-स्वार्थ को इस जीवन में अनुरूप मानते हुए बटलर इस तथ्य पर महत्त्व देता है कि यह अनुरूपता एवं संगति तब तक पूर्ण नहीं हो सकती जब तक कि हम भविष्य के जीवन पर भी विश्वास न रखें। इस संगति को मानने पर भी वह अन्तर्बोध के सर्वोच्च अधिकार को नहीं भूलता और कहता है कि वर्तमान जीवन में नैतिक बाध्यता आत्म-स्वार्थ से ऊपर है। यही शैफ्ट्सबरी और उसमें प्रमुख भेद है। हचिसन के सिद्धान्त से भी बटलर के सिद्धान्त की भिन्नता सिद्ध की जा सकती है। हचिसन के अनुसार नैतिक बोध एक विशिष्ट शक्ति है जिसके द्वारा हम बाह्य जगत् का ज्ञान उसी भाँति प्राप्त करते हैं जिस भाँति कि हम सौन्दर्य इन्द्रियों से वस्तुओं के सौन्दर्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं। बटलर अन्तर्बोध को 'शक्ति' के नाम से अवश्य सम्बोधित करता है किन्तु वास्तव में इससे उसका अभिप्राय उस मनुष्य से है जो कि नैतिक कर्ता माना जाता है। यह मनुष्य की वास्तविक आत्मा है और यहाँ पर वह अरस्तू के समीप आ जाता है। अन्तर्बोध वास्तविक आत्मा एवं बुद्धि है।

आलोचना

विधान की धारणा वैराग्यवाद की विरोधी—बटलर ने मानव-स्वभाव को प्लेटो की भाँति राज्यविधान के आधार पर समझाया और इस प्रकार मानव-स्वभाव की स्पष्ट और मूर्त व्याख्या की। मानव-स्वभाव अनेक तत्त्वों की

आवयविक पूर्णता है। सभी तत्त्व औचित्य के नियम के अधीन हैं। औचित्य का नियम या अन्तर्बोध ही सर्वोच्च नियामक सिद्धान्त है। इसके कारण ही मानव-स्वभाव में संगति और सामंजस्य है। औचित्य का नियम यह भी बतलाता है कि विभिन्न प्रवृत्तियों की तृप्ति के लिए नैतिक जीवन में स्थान है। अतः बटलर का अन्तर्बोध वैराग्यवाद का पोषक नहीं है। आत्म-प्रेम और अन्तर्बोध में अधिकतर ऐक्य मिलता है। आत्म-प्रेम बतलाता है कि इच्छाओं की सामान्य तृप्ति में ही आनन्द निर्भर है और अन्तर्बोध के अनुसार इच्छाओं की सामान्य तृप्ति उचित है।

समन्वयात्मक सिद्धान्त : धर्म का प्राधान्य—बटलर का नैतिक दर्शन उसकी समन्वयात्मक दृष्टि का परिणाम है। प्लेटो, अरस्तू और शैफ्ट्सबरी के सिद्धान्त के साथ उसने ईसाई ईश्वरज्ञान, विशुद्ध नैतिकता, स्टोइकवाद, सुखवाद, प्रचलित नैतिकता आदि का सम्मिश्रण किया। बाद में कांट ने विशुद्ध नैतिकता को अपनाकर यह समझाया कि विशुद्ध नैतिकता में अन्य किसी निरोध के लिए स्थान नहीं है। बटलर के सिद्धान्त में जो असंगतियाँ मिलती हैं उनका कारण उसकी समन्वयात्मक दृष्टि है। किन्तु इस समन्वयात्मक प्रयास से भी अधिक स्पष्ट जो हमें मूलतः उसके दर्शन में मिलता है वह उसके पादरी के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है। उसके दर्शन का गूढ़ और व्यापक अध्ययन हमको प्रकृतिगत और प्रेरणा द्वारा अर्जित धर्म की ओर ले जाता है। वह हमें ईसाई धर्म के ईश्वरज्ञान के क्षेत्र में पहुँचा देता है। ऐसी स्थिति में हमें अन्तर्बोध को एक दूसरे अर्थ में समझना पड़ेगा। अन्तर्बोध उस निर्देशक की भाँति है जो सर्वसाधारण के सुख की ओर ले जाता है, जिस सुख में दयालु परमात्मा ने हमारे सुख को भी सम्मिलित किया है। सद्गुण और आनन्द के बाह्य विरोध को दूर करने के लिए वह अन्य अठारहवीं शताब्दी के सहजज्ञानवादियों की भाँति ईश्वरज्ञान सम्बन्धी तर्क देता है। वह यह मानता है कि वर्तमान जीवन भविष्य जीवन के लिए एक साधनमात्र है और इसलिए हमारा कर्तव्य है कि हम इस जीवन में भावी संरक्षण और सुख के लिए एक आवश्यक गुण के रूप में सद्गुण और धर्मनिष्ठ बुद्धि की उन्नति करें।

बटलर के समय में लोगों की नैतिक और धार्मिक प्रवृत्ति शिथिल हो चुकी थी। ईसाई धर्म की सुप्तावस्था के ज्ञान ने उसे दुःखी कर दिया और उसने अनायास ही ऐसे तर्क प्रस्तुत किये जो ईसाई धर्म के समर्थक हैं। अपने समय के अंग्रेज़ पादरियों के अनुरूप बटलर में एक मधुर विवेचन-बुद्धि तथा ठोस सामान्य-बोध है। कांट के और उसके सिद्धान्त में सादृश्य मिलता है किन्तु साथ ही भेद भी है। कांट का नैतिक दर्शन एक महान् तत्त्वज्ञानी, तर्कप्रिय तथा कट्टर नीति-वादी का दर्शन है और बटलर का एक पादरी का। उपर्युक्त भेद होने पर भी बटलर का नैतिक दर्शन स्पष्टता और सन्तुलन से अछूता नहीं है। उसने उन तथ्यों और प्रवृत्तियों का वर्णन स्पष्ट और बोधगम्य भाषा में किया है जिनसे हम सभी परिचित हैं।

परम स्वार्थवाद का मनोवैज्ञानिक खण्डन—मनुष्य की स्वाभाविक स्थिति को निर्नैतिक और अनियन्त्रित मानकर हॉब्स ने यह समझाया कि मनुष्य के सुख, शान्ति, जीवन-संरक्षण एवं उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नैतिक नियम साधन हैं और इस अर्थ में वे अनिवार्य हैं। नैतिक नियम के उद्गम का इतिहास बतलाता है कि वे बौद्धिक प्राणियों के लिए आवश्यक अवश्य हैं पर साथ ही वे परम्परागत होने से समझौते पर निर्भर हैं। बटलर के समय में इस बात का निराकरण करना एक चलन-सा हो गया था कि निःस्वार्थ कर्म सम्भव नहीं हैं। बटलर ने ऐसी धारणा एवं हॉब्स के परम स्वार्थवाद के मनोवैज्ञानिक आधार पर सन्देह किया। उसने एक मनोवैज्ञानिक नीतिज्ञ की भाँति उन सब धारणाओं और सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला जिनके अनुरूप सम्भ्रान्त लोग अनुभव, कर्म और निर्णय करते हैं और यह समझाया कि स्वार्थवादी धारणाओं के मूल में मनोवैज्ञानिक अज्ञान है। अन्य सहजज्ञानवादियों ने भी मानव-स्वभाव तथा मानव-समाज का विश्लेषण करके हॉब्स के परम स्वार्थवाद को अस्वा-भाविक कहा। उनके अनुसार हमें अन्तर्बोध के आदेश का पालन करना चाहिए क्योंकि उसका अधिकार स्वाभाविक है। किन्तु अन्तर्बोध के स्वाभाविक अधि-कार को वे बटलर की भाँति प्रभावोत्पादक तथा सूक्ष्म युक्तियाँ देकर नहीं समझाते हैं। स्वार्थमूलक सुखवाद की आलोचना करते हुए वह समझाता है कि

मानव-स्वभाव व्यवस्थित पद्धति या आवयविक समग्रता है। इस समग्रता में अनेक प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके आधार पर वह मूलगत सुखवादी धारणा के विपरीत कहता है कि मनुष्य-स्वभाव में सामाजिक और वैयक्तिक दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं और आत्महित के लिए प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखना अनिवार्य है। यहाँ पर हम कह सकते हैं कि बटलर के दर्शन में अनियन्त्रित स्वार्थवाद के लिए स्थान नहीं है। सुखवादियों और शैफ्ट्सबरी की आत्म-प्रवृत्ति की धारणा की भी बटलर ने आलोचना की है। वह कहता है कि किसी भी प्रवृत्ति का प्रमुख लक्ष्य सुख नहीं है। जब प्रवृत्ति अपने स्वाभाविक ध्येय का प्राप्त करती है तब सुख मिलता है। अतः सुख परिणाम है, प्रमुख लक्ष्य नहीं। बटलर ने प्रवृत्तियों की विस्तृत व्याख्या द्वारा बतलाया कि मनुष्य की मूलगत प्रवृत्तियों को पूर्ण रूप से स्वार्थमूलक नहीं कह सकते हैं।

अन्तर्बोध का अनिश्चित प्रयोग—नैतिक बोधवादियों, विशेषकर शैफ्ट्सबरी के नैतिक बोध की धारणा से असन्तुष्ट होकर बटलर ने अन्तर्बोध शब्द का प्रयोग किया। अन्तर्बोध और नैतिक बोध में स्पष्ट भेद है। बटलर ने सौन्दर्य इन्द्रिय एवं विशिष्ट इन्द्रिय के रूप में अन्तर्बोध को नहीं समझा है किन्तु मानव-स्वभाव को आवयविक समग्रता के रूप में स्वीकार करके अन्तर्बोध की सर्वोच्चता को स्थापित किया है। जब हम उस सिद्धान्त के स्वरूप को समझने का प्रयास करते हैं जो कि सर्वोच्च है तो विफलता मिलती है क्योंकि उसने अन्तर्बोध का अनिश्चित प्रयोग किया है। अन्तर्बोध से या तो उसका अभिप्राय उस अबोधगम्य शक्ति से है जिसे हम अपने अन्तर में पाते हैं और जो नियमों को बनाती है आर या उस बोधगम्य शक्ति से है जिसके आदेश हम बौद्धिक चिन्तन द्वारा समझ सकते हैं। किन्तु यह अवश्य सत्य है कि उसके अनुयायियों ने अन्तर्बोध के दानों अर्थों में स्पष्ट भेद देखा।

अन्तर्बोध और आत्मप्रेम के सम्बन्ध को समझाने में असफल—मानव-स्वभाव—जो राज्य के विधान-सा है—की व्यवस्था और संगति को समझाने के लिए जब बटलर आत्मप्रेम और अन्तर्बोध के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण करता है तो वह एक स्थायी दृष्टिकोण को अपनाने के बदले अनेक रीतियों और भिन्न

तर्कों की सहायता लेता है। एक ओर वह अन्तर्बोध के अधिकार को सर्वोच्च कहकर यह मानता है कि अन्तर्वोध उसी आचरण का अनुमोदन करता है जिसका ध्येय सम्पूर्ण समाज का आनन्द है। मानव-जाति एक सम्प्रदाय है और हम एक-दूसरे से सम्वन्धित हैं। जनता एवं जाति के हित की वृद्धि करना प्रत्येक का कर्तव्य है। क्या हम अन्तर्बोध के परम आदेश को मान लें?—इसका उत्तर पाने के लिए हमें आत्मप्रेम की धारणा को समझना होगा। यह धारणा बतलाती है कि आत्मा के राज्य में दो स्वतन्त्र तत्त्व हैं: बौद्धिक आत्मप्रेम और अन्तर्बोध। इनके पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए वह कहता है कि ये दोनों परस्पर संयोजित हैं। दूसरी ओर उसकी पुस्तक में कुछ ऐसे वाक्य मिलते हैं जो आत्मप्रेम को अधिक महत्त्व देते हैं। दोनों की असंगति को असम्भव मानने के पश्चात् वह कहता है कि यदि इन दोनों में असंगति हो जाय तो अन्तर्बोध को अपना स्वाभाविक अधिकार छोड़ना होगा। आगे वह यह भी मान लेता है कि जब शान्त क्षण में हम सोचने बैठते हैं तो हम किसी भी प्रवृत्ति को तव तक उचित या न्यायसम्मत नहीं समझ पाते हैं जब तक कि हमें यह विश्वास नहीं हो जाता कि वह हमारे सुख के लिए है अथवा हमारे सुख की विरोधी नहीं है। वैसे बौद्धिक या विवेकशील प्राणी के लिए आत्मप्रेम और अन्तर्बोध का विशेष विरोध नहीं है। अपने सतर्क आशावाद के आधार पर वह कहता है कि यह स्वीकार करना बुद्धिसम्मत है कि जिन दो आन्तरिक अधिकारियों के अधीन स्वभाव एवं प्रकृति ने हमें रखा है उनमें संगति है। इस संगति का एक कारण यह भी है कि इनके विरोध को हम प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते हैं। स्वार्थ के आधार पर ही इन्हें विरोधी सिद्ध कर सकते हैं पर स्वार्थवादी गणना अनिश्चित और सम्भाव्य है। यदि स्थूल दृष्टि से यह विरोध दीख ही जाए तो हमें अन्तर्बोध के आदेश का उसके सरल और स्पष्ट होने के कारण पालन करना चाहिए। पुनः एक स्थल पर वह यह कहता है कि अन्तर्बोध और आत्मप्रेम दोनों ही मानव-स्वभाव के प्रमुख और श्रेष्ठ तत्त्व हैं, इसलिए यदि किसी कर्म में इनमें से किसी का भी निराकरण हो जाए तो वह मानव-स्वभाव के अनुरूप नहीं होगा। यदि दोनों ही मानव-स्वभाव के दो तत्त्व हैं तो नीतिज्ञ

दोनों की सापेक्ष स्थिति को समझना चाहेगा। बटलर का उत्तर द्विविधापूर्ण है। बटलर एक ओर तो यह कहकर छुटकारा पाना चाहता है कि व्यावहारिक दृष्टि से सापेक्ष स्थिति का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है और दूसरी ओर वह कहता है कि अपने परम स्वार्थ को समझना अत्यन्त कठिन है। बटलर के ऐसे कथन के विरुद्ध दो प्रश्न हमारे मानस में आते हैं; हम कैसे सिद्ध कर सकते हैं कि अन्तर्बोध के आदेश अधिक स्पष्ट हैं ? इसका क्या प्रमाण है कि हमारे स्वार्थ के लिए अन्तर्बोध के आदेश आत्मस्वार्थ के आदेश से अधिक श्रेष्ठ पथनिर्देशक हैं ?

व्यक्तिवाद और उत्तरदायित्व—आत्मप्रेम और अन्तर्बोध का विरोध सुख और सद्‌गुण की समस्या को खड़ा करता है। बटलर सुख और सद्‌गुण के विरोध को बौद्धिक तर्क द्वारा नहीं बल्कि ईश्वरज्ञान द्वारा दूर करने का प्रयास करता है। सुख आत्मा की आन्तरिक स्थिति का सूचक नहीं है। इसके द्वारा सृष्टिकर्ता उन्हें पुरस्कृत करता है जो अपनी प्रवृत्तियों को उनके निर्दिष्ट ध्येय के लिए साधन बनाते हैं। ऐसा कथन सुख और अन्तर्बोध के विरोध को रहने देता है। आत्मप्रेम और अन्तर्बोध दोनों को ही मानकर बटलर ने नैतिक उत्तरदायित्व और व्यक्तिवाद की महत्त्वपूर्ण समस्या को उठाया। व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक अपने कर्मों को निर्धारित कर सकता है और उन पर निर्णय दे सकता है। वह अपने परम कल्याण की प्राप्ति कर सकता है। ऐसा वैयक्तिक अधिकार उसे कर्तव्य की ओर ले जाता है क्योंकि व्यक्ति समाज का अनन्य अंग है। कर्तव्य और अधिकार के सापेक्ष सम्बन्ध को समझाने में वह असमर्थ रहा। व्यक्तिवाद और नैतिक उत्तरदायित्व के समानाधिकार के संरक्षक सिद्धान्त के रूप में वह अपने सिद्धान्त की स्पष्ट और व्यवस्थित व्याख्या नहीं कर पाया। इसका अव्यक्त कारण यह है कि व्यक्तिवाद और नैतिक उत्तरदायित्व के नाम पर वह सुखवाद और नैतिक विशुद्धतावाद के चक्कर में फँस जाता है। बटलर आत्मकल्याण का नैतिक अर्थ समझने में असमर्थ है और सुख को स्वीकार कर वह उस असंगति को अपने सिद्धान्त में स्थान देता है जो क्षम्य नहीं है। सुख को मान्यता देकर उसने भूल की। सुख नैतिकता के किसी भी व्यवस्थित, प्रामाणिक और ग्रहणीय

सिद्धान्त का आधार नहीं हो सकता।

आधुनिक विचारधारा पर प्रभाव—आत्मप्रेम और अन्तर्बोध के सम्बन्ध को समझाने के लिए बटलर अनेक तर्क-वितर्कों से काम लेता है पर प्रयास करने पर भी वह मानव-स्वभाव के नियामक सिद्धान्त की द्वैतवादी व्याख्या पर पहुँचता है। उसकी इस दुर्बलता ने नैतिक चिन्तन को एक नयी दिशा दिखलायी। मानव-स्वभाव को आवेगों का व्यवस्थित राज्य मानकर वह प्लेटोवाद का अभिनन्दन करता है और स्वभाव एवं प्रकृति के अनुरूप रहना चाहिये कहकर वह स्टोइकवाद का समर्थन करता है। किन्तु प्लेटोवाद और स्टोइकवाद दोनों ही बुद्धि को एकमात्र नियामक शक्ति या शासक मानते हैं। उनके सिद्धान्तो में नियामक शक्ति के द्वैत के लिए स्थान नहीं है। बटलर के नियामक सिद्धान्त के द्वैत ने आधुनिक विचारधारा को दो तत्त्व दिये: सार्वभौम बुद्धि और स्वार्थमूलक बुद्धि या अन्तर्बोध और आत्मप्रेम। ये द्वैत क्लार्क और शैफ्ट्सबरी के सिद्धान्त में अस्पष्ट रूप से वर्तमान अवश्य हैं किन्तु बटलर के कारण ही उन्हें स्पष्ट रूप से आधुनिक विचारधारा ने अपनाया है। सिजविक ने इस समस्या को अपने दर्शन में उठाया है।

उपयोगितावाद—अन्य सहजज्ञानवादियों के साथ बटलर भी मानता है कि कर्म अपने-आप में शुभ और अशुभ हैं। उनका नैतिक मूल्याङ्कन उनके परिणाम के आधार पर नहीं कर सकते। अतः नैतिक दृष्टि से कर्म इस तथ्य से स्वतन्त्र है कि वह अपने परिणाम द्वारा सामान्य सुख के लिए उपयोगी है अथवा नहीं। किन्तु जब बटलर पड़ोसी के प्रति स्नेह की धारणा को समझाने लगता है तब वह अपने पादरी के व्यक्तित्व के अनुरूप उपयोगितावाद को अपनाने लगता है। ईश्वर के स्वभाव सम्बन्धी धारणा को वह उपयोगितावादी दृष्टिकोण से समझाता है। विश्व के सम्पूर्ण परिमाण के सुख को अधिकतम करना भगवान् का परम ध्येय है। पर साथ ही अन्तर्बोध को परम प्राधान्य देते हुए वह कहता है कि हमें अन्तर्बोध के अनुसार कर्म करना चाहिये चाहे वह सामान्य सुख की वृद्धि करे या न करे। बटलर के ऐसे असंगत प्रसंग उलझन में डाल देते हैं और सदाचार के मार्ग को द्विविधायुक्त कर देते हैं।

अन्तर्बोध के आदेश की प्रामाणिकता—बटलर के नैतिक दर्शन को नीतिशास्त्र पर एक पूर्ण निबन्ध के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। उसकी समन्वयात्मक दृष्टि ने असंगतियों और विरोधों का समावेश कर लिया है। विरोधपूर्ण कथन मार्ग को सुनिर्देशित नहीं कर सकते हैं। बटलर ने कई कठिनाइयों को नहीं उठाया है। उचित कर्म का सार्वभौम मानदण्ड क्या है ? जब अन्तर्बोध भिन्न परिस्थितियों में भिन्न आदेश देता है तब हम किस आदेश को मान्य मानें ? भिन्न व्यक्तियों के अन्तर्बोध भिन्न आदेश देते हैं। इस भिन्नता को दूर करने एवं संगति की स्थापना के लिए क्या अन्तर्बोध के मानदण्ड के अतिरिक्त किसी अन्य मानदण्ड की सहायता लेनी होगी ? इसका क्या प्रमाण है कि किसी व्यक्ति-विशेष का अन्तर्बोध उचित है ? हम कृत्रिम और अकृत्रिम अन्तर्बोध के भेद को कैसे जान सकते हैं ? बटलर का सिद्धान्त अपूर्ण होने पर भी किसी भी अनुभवात्मक तथ्य से सम्बन्धित नैतिक सिद्धान्त के लिए प्रस्तावना का कार्य कर सकता है क्योंकि वह एक मनोवैज्ञानिक नीतिज्ञ का सिद्धान्त है।

१८

पूर्णतावाद[1]

आत्मा का स्वरूप—नैतिक सिद्धान्तों का अध्ययन बतलाता है कि नीतिज्ञों ने उस आदर्श को समझना चाहा जो आत्म-सन्तोष, आत्म-साक्षात्कार[2] अथवा आत्म-पूर्णता प्रदान करता है। प्रत्येक नीतिज्ञ ने जानना चाहा कि मनुष्य के लिए उच्चतम शुभ अथवा परम ध्येय क्या है? उसने उस ध्येय एवं आदर्श की अपने सिद्धान्त के अनुरूप व्याख्या की।

मानवोचित ध्येय के स्वरूप को समझने के पूर्व एक बार पुनः यह समझ लेना अनिवार्य है कि मनुष्य एवं उस आत्मा का क्या स्वरूप है जो कि अपनी पूर्णता अथवा सन्तोष के लिए प्रयास करती है? हम किस आत्मा को सन्तुष्ट करना चाहते हैं; आत्मा का सारतत्त्व बुद्धि है या भावना अथवा बुद्धि और भावना दोनों ही। आत्मा की परिभाषा देने में सुखवाद और बुद्धिवाद ने दो स्पष्ट विरोधी आदर्शों को हमारे सम्मुख रखा। किन्तु दोनों में निहित सत्यांशों को मानते हुए भी उनकी जाज्वल्यमान दुर्बलताओं के कारण उन्हें पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता।

बुद्धि-भावना का योग—पूर्णतावादियों ने उस दृष्टिकोण को अङ्गीकार किया जो मध्यवर्ती है। उन्होंने मनुष्य के मूर्त व्यक्तित्व के आधार पर बुद्धि और भावना के समुचित मूल्य को निर्धारित किया। मनुष्य का स्वभाव भावना और बुद्धिमय है। साथ ही यह भी सत्य और सर्वमान्य है कि वही जीवन सफल तथा स्तुत्य है जो बुद्धि से संचालित है। नैतिक उन्नति और विकास के लिए

१. Perfectionism.
२. Self-realization.

भावना का बुद्धि के साथ संघर्ष आवश्यक है। यह संघर्ष बुद्धि के आधिपत्य को अधिक गौरवान्वित करता है। वही बुद्धि श्रेष्ठ है जो सुचारु रूप से भावनाओं को उस मार्ग की ओर ले जाती है जो नैतिक नियम के अनुरूप है। मनुष्य का स्वभाव अनेक प्रवृत्तियों, इच्छाओं और भावनाओं का जन्मस्थल है। इस स्वभाव में कुछ भी ऐसा नहीं है जो पूर्ण रूप से बुरा अतएव त्याज्य हो। अतः प्रवृत्तियाँ अपने-आप में बुरी नहीं हैं, किन्तु जब वे अपनी सीमा का उल्लङ्घन करने लगती हैं तब वे बुरी कहलाती हैं। भावनाओं का हनन करना बुद्धि का लक्ष्य नहीं है बल्कि उनकी यथोचित तृप्ति तथा उन्नयन द्वारा उन्हें नैतिक रूप देकर ध्येय की प्राप्ति में सहायक बनाना ही बुद्धि का काम है जिससे विभिन्न आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, कलात्मक आदि प्रवृत्तियों में सङ्गति और सन्तुलन स्थापित कर मनुष्य व्यक्तित्व के विकास और परिपूर्णता को प्राप्त कर सके। व्यक्तित्व की पूर्णता एवं आत्म-कल्याण के आकांक्षी पूर्णतावादियों ने आत्म-सन्तोष को आत्म-कल्याण का सहवर्ती माना है। आत्म-सन्तोष से उनका अभिप्राय उस सन्तोष से है जो आत्मा के दोनों अंगों—बुद्धि और भावना—को सन्तोष दे सके। जब सम्पूर्ण आत्मा अपनी परिपूर्णता को प्राप्त करती है तभी उसे संतोष एवं आनन्द मिलता है।

आत्मा और समाज—यह सभी मानेंगे कि नैतिक कर्म की सत्यता एवं उसका शुभ-अशुभ होना इस पर निर्भर है कि वह वाञ्छित ध्येय एवं परम शुभ के अनुरूप है या नहीं। अथवा नैतिकता के मानदण्ड की धारणा ध्येय की धारणा पर निर्भर है। ध्येय की धारणा पर आधारित नैतिक आदर्श आत्मिक आदर्श है। यह वह आदर्श है जो आत्मा को सन्तुष्ट करता है। ध्येय क्या है? ध्येय, जैसा कि कह चुके हैं, आत्म-सन्तोष है। आत्मा का रूप न तो केवल ऐन्द्रियिक है और न केवल बौद्धिक। ब्रेडले ने आत्मा के इस स्वरूप को स्वीकार करते हुए कहा कि आत्मा का अपने पूर्ण रूप में सन्तुष्ट होना, अर्थात् सम्पूर्ण आत्मा का सन्तोष ही, आत्म-सन्तोष है। आत्मा के स्वरूप को भलीभाँति समझने एवं आत्म-सन्तोष का व्यापक ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि क्या आत्मा एक असम्बद्ध इकाई के रूप में है अथवा वह समाज का एक अविभाज्य

अंश है। नैतिक निर्णय का स्वरूप बतलाता है कि नैतिक निर्णय आत्मा के उस आचरण पर दिया जाता है जो सामाजिक है। मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व को किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक सिद्धान्त मानता है। पूर्णतावादियों ने इस सत्य को समझाने के लिए तत्त्वदर्शन की सहायता ली है। उन्होंने अपने नैतिक ज्ञान को आदर्शवादी तत्त्वज्ञान पर आधारित करते हुए कहा कि मनुष्य और समाज अथवा व्यक्ति और समष्टि अभिन्न हैं, क्योंकि दोनों एक ही शाश्वत चैतन्य की अभिव्यक्ति हैं। इसलिए जीवन का ध्येय न तो मात्र वैयक्तिक कल्याण है और न मात्र सामाजिक। वह सर्वकल्याणकारी है।

दोनों का सम्बन्ध अनन्य—पूर्णतावादी व्यक्ति और समाज के अनन्य सम्बन्ध को मानते हुए व्यक्तियों की पारस्परिक निर्भरता को स्वीकार करते हैं। व्यक्ति समाज का अविभाज्य अंग है। समाज में रहकर ही वह अपनी पूर्णता प्राप्त कर सकता है। वह भोजन, वस्त्र, भाषा, शिक्षा एवं अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की तृप्ति समाज में रहकर ही कर सकता है। अतः उसे अपने निजत्व को समग्र में एवं समग्र को निजत्व में देखना चाहिए। यदि व्यक्ति और समाज अविछिन्न एकता के सूचक हैं तो क्या विकासवादियों की भाँति पूर्णतावादी भी, समाज और व्यक्ति के अनन्य सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए, आवयविक समग्रता के रूपक को पूर्णतः स्वीकार करते हैं? पूर्णतावादी इस रूपक की सीमाओं के प्रति सचेत हैं। समाज आध्यात्मिक एवं आत्म-प्रबुद्ध प्राणियों की अविभिन्न एकता है। आवयविक समग्रता की भाँति होने पर मानव जाति रूपी आवयविक समग्रता और शारीरिक जीव-रचना में भेद है। जीव रचना के अवयवों में जीवविधान और कर्मव्यापार की दृष्टि से भिन्नता है किन्तु मानव-समाज के व्यक्तियों में जातीय समानता है, उनके कर्मव्यापार एवं कर्तव्य भले ही भिन्न हों; प्रत्येक व्यक्ति में अपना निजत्व और व्यक्तित्व है। वह जीव-रचना के अवयवों की भाँति यान्त्रिक (अचेतन) रूप से आवयविक समग्रता का काम नहीं करता। वह समाज के साथ अपने सम्बन्ध को समझ-बूझकर स्वेच्छा से उस कर्म को करता है जो कि उसके तथा समाज के लिए, अंग और अंगी दोनों के लिए, कल्याणप्रद है।

स्वार्थ-परमार्थ का प्रश्न—स्वार्थ और परमार्थ में परम भेद देखना भ्रान्तिपूर्ण है। व्यक्ति और समाज का अनन्य सम्बन्ध इस नैतिक सत्य को अभिव्यक्ति देता है कि जीवन में न तो परम स्वार्थ ही उचित है और न परम परमार्थ। व्यक्ति नगण्य नहीं है, उसका अपना व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व की पूर्णता को प्राप्त करना उसका अधिकार है, किन्तु इस पूर्णता को वह समाज में ही प्राप्त कर सकता है। अतः वह केवल अपने ही बारे में नहीं सोचता। 'एक का स्वार्थ' एक ऐसा कथन है जो वास्तविकता से दूर है। व्यक्ति के स्वार्थ और पूर्णता का सम्बन्ध उससे है जिसका कि वह अविभाज्य अंग है। हम निजत्व को समग्र से अलग करके नहीं समझ सकते। समग्र के सम्बन्ध में ही निजत्व अर्थ रखता है। व्यक्ति अपने निजत्व को सामाजिक समग्रता से ही पाता है। यह कथन बतलाता है कि परम स्वार्थ आत्म-घातक है। अपने को बचाना खोना है। समाज से भिन्न व्यक्ति का अस्तित्व असम्भव है। वह शारीरिक आवश्यकताओं से लेकर मानसिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं तक के लिए समाज पर निर्भर है। अतः अपने को खोना पाना है। सामाजिक शुभ द्वारा वैयक्तिक शुभ सम्भव है। व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की तृप्ति समाज में करता है। वह समाज के सामान्य मानस का अंग है। उसका मानसिक विकास अनेक मानसों के सहयोग से होता है। वैयक्तिक शुभ और सामाजिक शुभ परस्पर निर्भर हैं। सामाजिक शुभ अपने मूल रूप में वैयक्तिक है क्योंकि वह व्यक्ति की गहनतम आवश्यकताओं के अनुरूप है। व्यक्ति अपनी नैतिक, बौद्धिक, भावुक तथा शारीरिक आदि आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए समाज पर निर्भर है। इसी भाँति स्वार्थ और परमार्थ के स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। व्यक्ति और समाज दोनों का युगपत् विकास होता है। दोनों एक-दूसरे के लिए अनिवार्य हैं।

पूर्णतावाद का परिचय—सुखवाद और बुद्धिवाद का उत्पत्तिकाल ही पूर्णतावाद का उत्पत्तिकाल है। सुकरात की मृत्यु के पश्चात् ऐंरिस्टिपस ने सुखवाद, एन्टिस्थीनीज़ ने बुद्धिवाद और प्लेटो ने पूर्णतावाद में सुकरात के

मुख्य सिद्धान्त को देखा। प्लेटो तथा अन्य पूर्णतावादियों[1] के अनुसार नैतिक कर्म आत्मा के वास्तविक स्वरूप के अनुरूप कर्म है। वही शुभ कर्म है जो आत्मा को परिपूर्णता प्रदान करता है। पूर्णता से क्या अभिप्राय है? मनुष्य में अनेक सम्भावित शक्तियाँ हैं। उचित प्रयत्न से हम इन सम्भावित शक्तियों को वास्तविकता एवं पूर्णता प्रदान कर सकते हैं। यही पूर्णतावाद (Perfectionism) है। मनुष्य के स्वभाव की विभिन्न प्रवृत्तियों—कलात्मक, नैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि—का बुद्धि के निर्देशन में इस भाँति संगतिपूर्ण विकास करना चाहिये कि वे आत्म-पूर्णता की प्राप्ति में सहायक हो सकें। बुद्धि के निरीक्षण में इच्छाओं और प्रवृत्तियों का समुचित विकास व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की स्थिति ही आत्म-साक्षात्कार (self-realization) की स्थिति है। अथवा वह आत्म-बोध, आत्म-कल्याण और आत्म-समृद्धि की स्थिति है। जिस आत्मा का हम साक्षात्कार करते हैं एवं जिसकी पूर्णता प्राप्त करते हैं वह बौद्धिक आत्मा है। वह आत्मा इच्छाओं और प्रवृत्तियों का हनन या त्याग नहीं करती वरन् उनका उन्नयन, दिव्यीकरण, बुद्धिकरण एवं अध्यात्मीकरण करके उन्हें अपनी परिपूर्णता के लिए सहायक बना लेती है। ऐसी आत्मा संकीर्ण आत्मा नहीं हो सकती। बौद्धिक आत्मा मानवता के साथ तादात्म्य अनुभव करती है। वह सामाजिक एवं सार्वभौम आत्मा अथवा विश्वात्मा है। विश्वात्मा की प्राप्ति के लिए संकीर्ण आत्मा का त्याग अथवा आत्म-त्याग अनिवार्य है। विश्वात्मा की प्राप्ति के लिए मानव-जाति के हित को ध्यान में रखना आवश्यक है। मानवता व्यक्ति से भिन्न नहीं है, वह उसी की आत्मा है। अतः मानवता के प्रति सहज स्नेह रखते हुए व्यक्ति को उसके कल्याण के लिए प्रयास करना चाहिए। साथ ही यह भी सच है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी विशेषताओं के साथ एक विशिष्ट परिवार, समाज और परिवेश में जन्म लेता है। उसका इनके प्रति कर्तव्य है। उसे चाहिये कि समाज में अपनी स्थिति, अपनी योग्यता तथा विशिष्ट प्रतिभा

१. अरस्तू, फिश्टे, शैलिंग, हीगल, ग्रीन, ब्रेडले, मेकेंजी, म्योरहेड, जेम्स सेथ, जे० एच० पेटन आदि।

को ध्यान में रखते हुए अपनी बौद्धिक आत्मा का विकास करे। वह मनुष्य जिसने आत्म-बोध प्राप्त कर लिया हैं अपने सामाजिक उत्तरदायित्व तथा स्वयं अपने प्रति कर्तव्य के लिए पूर्ण रूप से सचेत होता है। उसे उसका आत्म-बोध आनन्द देता है। यही आत्म-सन्तोष है। अतः आत्म-सन्तोष, आत्म-बोध एवं पूर्णता का सूचक है। वह ध्येय का अनिवार्य अथवा अभिन्न तत्त्व है।

पूर्णतावादियों का कालक्रम के आधार पर विभाजन किया जा सकता है। प्राचीन काल में पूर्णतावाद के विख्यात प्रतिपादक प्लेटो और अरस्तू हुए हैं तथा आधुनिक काल में हीगल, ग्रीन और ब्रेडले।

प्राचीन काल : प्लेटो और अरस्तू

बौद्धिक और अबौद्धिक आत्मा का प्रश्न—बुद्धिवादियों और सुखवादियों ने मनुष्य के स्वभाव की जो द्वैतवादी व्याख्या की उससे प्रारम्भ के विचारक अनभिज्ञ थे यद्यपि उन्होंने इस बात का अनुभव किया था कि उचित जीवन ही बौद्धिक जीवन है। सुकरात के अनुसार मनुष्य का जीवन बौद्धिक है और इसमें भावनाओं की तृप्ति के लिए स्थान है। आत्म-परीक्षित और आत्म-निर्देशित जीवन में बुद्धि निर्धारित करती है कि भावनाओं की तृप्ति कहाँ तक उचित है। बुद्धि ही मनुष्य का विशेष गुण है। इसी के कारण मनुष्य श्रेष्ठ प्राणी है। परम शुभ को प्राप्त करने वाला विवेकी व्यक्ति वह है जो अपने सम्पूर्ण जीवन में बुद्धि के आदेश का पालन करता है। इस आधार पर सुकरात ने सद्गुण और ज्ञान को एक माना। प्लेटो और अरस्तू ने बुद्धि की निर्देशन-शक्ति को समझा और सुकरात से भी अधिक स्पष्ट रूप से कहा कि शुभ जीवन का रहस्य बुद्धि है। उन्होंने बौद्धिक प्राणी के लिए एकमात्र शुभ जीवन बौद्धिक जीवन बतलाया है। चिन्तनयुक्त या दार्शनिक जीवन ही नैतिक आदर्श है। अर्वाचीन बुद्धिवाद और वैराग्यवाद सुकरात के शिष्यों के सिद्धान्त की ही प्रतिध्वनि है। प्लेटो ने भावना के स्थान को अप्रमुख माना। वह भावना को बुद्धि के पूरक के रूप में नहीं समझ पाया। अरस्तू दो प्रकार के सद्गुणयुक्त जीवन को स्वीकार करके कहता है कि उच्च सद्गुणपूर्ण जीवन या थेओरिआ का जीवन शुद्ध बौद्धिक जीवन है और

निम्न या सामान्य सद्‌गुणयुक्त जीवन वाला व्यक्ति बौद्धिक और अबौद्धिक स्वभाव की मिश्रित श्रेष्ठता का जीवन व्यतीत करता है। इस भाँति जिस सुखवादी तत्त्व की प्लेटो ने मुख्य रूप से उपेक्षा की उसे ही अरस्तू ने नवीन रूप से प्रधानता दी। अरस्तू ने सद्‌गुणयुक्त जीवन को केवल अनिवार्य रूप से सुखद ही नहीं माना बल्कि सुख में कल्याण या शुभत्व की परिपूर्णता और विकास को देखा। वैसे, दोनों ने ही शुद्ध बुद्धिमय जीवन को नैतिक आदर्श माना।

वस्तुगत शुभ की धारणा—सुकरात ने आचरण द्वारा सामाजिक शुभ का संदेश दिया, किन्तु सिनिक्स ने आत्म-निर्भर व्यक्तित्व को प्रधानता देकर तथा सिरेनैक्स ने वैयक्तिक सुख को प्रधानता देकर परम व्यक्तिवाद को अपना लिया। प्लेटो और अरस्तू ने सुकरात से प्रभावित होकर वैयक्तिक और सामाजिक शुभ के सम्बन्ध को उठाया। आचरण की ऐसी समस्या जटिल और कठिन है क्योंकि मनुष्य-स्वभाव में स्वार्थ और परमार्थ के बीच प्रकट विरोध दीखता है तथा यह प्रतीत होता है कि वैयक्तिक कल्याण और सामाजिक कल्याण की दो भिन्न प्रेरणाएँ हैं। वस्तुगत शुभ की धारणा ही ऐसे विरोध को मिटा सकती है।

मानवतावाद—सुकरात ने उस मनुष्य के आचरण के प्रश्न को उठाया जो कि समाज का सामान्य सदस्य है। उसने व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन की समस्याओं को अपने साधनापूर्ण जीवन के सामाजिक पक्ष द्वारा समझाया। प्लेटो ने इन्द्रिय और अतीन्द्रिय जगत् के द्वैत को अपनाकर इस समस्या को गूढ़ और दार्शनिक स्तर दिया। प्लेटो के दर्शन में सुकरात की उठाई हुई मूल समस्या परम निष्कर्ष अथवा परम परिपक्वता नहीं मिलती। सुकरात ने जिस बीज को अंकुरित किया वह प्लेटो में पल्लवित और अरस्तू में विकसित हुआ। अरस्तू ने अधिक व्यापक, स्पष्ट और पूर्ण नैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उसका नीतिशास्त्र प्लेटो के रहस्यवादी और वैराग्यवादी सुझावों से मुक्त होकर पूर्ण मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाता है।

प्लेटो और अरस्तू मानते हैं कि सत्य का ज्ञान अपने-आप में वाञ्छनीय ध्येय है। वह कल्याण की प्राप्ति के लिए बाह्य साधन नहीं; वरन् स्वतः कल्याण ही है। चिन्तनयुक्त जीवन को परम शुभ मानते हुए उन्होंने ज्ञान के दोनों,

व्यावहारिक और सैद्धान्तिक, पक्षों को समान समझा। अतः मात्र चिन्तन या बुद्धिवाद से उनका सिद्धान्त मुक्त है।

सद्‌गुणों का स्वरूप—दोनों ने ही वैयक्तिक कल्याण की समान धारणा को स्वीकार किया। आत्म-कल्याण का जीवन आत्मा के विभिन्न अंगों और व्यापारों की संगति का जीवन है। प्लेटो ने माना कि उच्चतम जीवन अर्थात् दार्शनिक जीवन तक बहुत कम लोग पहुँच पाते हैं। वह जीवन सामान्य जीवन से भिन्न और श्रेष्ठ है। अरस्तू का श्रेष्ठ बुद्धि का व्यक्तित्व और थेओरिआ की धारणा प्लेटो के मत का समर्थन करती है। ऐसे व्यक्ति को जनसामान्य से अधिक अधिकार प्राप्त नहीं है वरन् उसे राज्य के कल्याण की चिन्ता होती है। राज्य का कल्याण व्यक्ति के कल्याण से अधिक श्रेष्ठ और व्यापक है। व्यक्ति को अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को भली-भाँति निभाना चाहिए। अरस्तू ने अपने नैतिक सद्‌गुणों की व्याख्या करते हुए उन्हें व्यक्ति और समाज दोनों के लिए मूल्यवान बतलाया। सद्‌गुण बुद्धि के उन नियन्त्रणों के रूप में प्रकट होते हैं जो सामाजिक कल्याण के लिए आवश्यक हैं। प्लेटो ने समग्रता और अंगों की धारणा द्वारा एवं संगति और एकीकरण के सिद्धान्त के प्रति बौद्धिक प्रेम द्वारा सामाजिक कर्तव्य को समझाया है। उसकी संगति की धारणा न्याय की धारणा है। न्याय व्यक्ति और समाज दोनों के लिए वाञ्छनीय है। किन्तु प्लेटो की न्याय की धारणा जनसामान्य के लिए अमूर्त और अत्यधिक आदर्शवादी है। वह उन्हें आकर्षित करके कर्म करने के लिए पर्याप्त प्रेरक नहीं बन सकती। उसको सशक्त एवं दृढ़ प्रेरक बनाने के लिए सहानुभूति तथा सामाजिक प्रवृत्तियों के साथ युक्त करना होगा और उसकी उपयोगिता को समझाना होगा।

दोनों ने ही बुद्धि को मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ विशिष्टता के रूप में स्वीकार किया है। बुद्धि वह क्षमता है जो सत्य का ज्ञान देती है। बुद्धि को सर्वोच्च मानने पर भी उन्होंने शुष्क ज्ञानवाद का प्रतिपादन नहीं किया है। विशुद्ध सुखवाद की आलोचना करते हुए उन्होंने समझाया कि सुख की प्राप्ति उन इच्छाओं पर निर्भर है जो सुख के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की इच्छा करती हैं। सुख और सौन्दर्यबोध कल्याण के अनिवार्य अंग हैं।

प्लेटो और अरस्तू की प्रणाली—दोनों के नैतिक आदर्श की धारणा समान है, पर प्रणाली भिन्न है। प्लेटो सर्वत्र संगति और एकता को देखते हुए सामान्यीकरण करता है। अरस्तू विश्लेषण और विभाजन को अपनाता है। अरस्तू नैतिक सद्‌गुणों के व्यावहारिक अर्थ खोजता है तथा प्लेटो उनकी मूलगत एकता को ढूँढ़ता है। अरस्तू की भिन्नतामूलक बुद्धि नीतिशास्त्र को अन्य विज्ञानों से भिन्न कर देती है। प्लेटो के लिए नैतिक आदर्श और तात्विक अस्तित्व एक ही हैं। किन्तु अरस्तू यथार्थवाद के आधार पर इसे महत्त्व नहीं देता कि सर्वश्रेष्ठ विचारगम्य शुभ को मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

अर्वाचीन पूर्णतावाद

प्रवेश—कांट बुद्धि और संकल्प के ऐक्य को समझाने में असमर्थ रहा और उसकी इस दुर्बलता ने एक ओर तो जर्मनी के बौद्धिक आदर्शवादियों (फिश्टे, शेलिङ्ग और हीगल) को प्रभावित किया और दूसरी ओर शॉपेनहावर[1] के स्वेच्छावादी निराशावाद (Voluntaristic pessimism) को। बौद्धिक आदर्शवादियों ने समझाया कि आत्म-प्रबुद्ध बुद्धि या मानस (self-conscious reason or mind) परम सत्य है और उन्होंने संकल्प को इसी सत्य के आधार पर समझाने का प्रयास किया। अपने ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में वे इस आशावादी निष्कर्ष पर पहुँचे कि वास्तविक सत्ता अनिवार्यत: शुभ है। नैतिक दर्शन के क्षेत्र में हीगल को आधुनिक पूर्णतावादियों का प्रवर्तक होने का श्रेय प्राप्त है। हीगल से ही अनुप्राणित होकर ग्रीन, ब्रेडले, बौसेन्के, मेकेन्जी, म्योरहेड, जेम्स सेथ आदि ने इस पुरातन-नूतन विचारधारा को अग्रसर किया।

नैतिक विकास का अर्थ—पूर्णतावाद ने समझाया कि जैव विकास की भाँति नैतिक विकास यान्त्रिक नहीं है। मनुष्य को अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रयास करना चाहिए यद्यपि विकास के क्रम में मानस आत्म-प्रबुद्धता की ओर बढ़ रहा है। मनुष्य केवल कर्म ही नहीं करता वरन् अपने कर्मों तथा ज्ञान

---

1. Schopenhauer.

पर चिन्तन भी करता है। समसामयिक पूर्णतावादी एक ओर ग्रीन की विचार-धारा से प्रभावित हुए हैं और दूसरी ओर हीगल और कांट की। इन पूर्णता-वादियों के अनुसार जिस सत्ता की पूर्णता को चरितार्थ करना है वह केवल प्रकृति या सार नहीं बल्कि आत्मा और संकल्प है। जो नियम आत्मा की पूर्णता का आदेश देता है वह प्रकृति अथवा किसी अन्य शक्ति का नहीं, आत्मा का नियम है। यह आत्मा वास्तविकता के मूल में है। यह वह शाश्वत ज्ञाता है जिसके हम प्रतिरूप हैं। हीगल तथा कांट से प्रभावित पूर्णतावादियों ने संकल्प के स्वरूप को नीतिशास्त्र के लिए पर्याप्त आधार माना और ग्रीन से प्रभावित पूर्णतावादियों ने आत्मा के स्वरूप को।

पूर्णतावाद और अन्य सिद्धान्त—प्राचीन और अर्वाचीन, दोनों ही काल के, पूर्णतावादियों ने अपने सिद्धान्त को आदर्शवादी तत्त्वदर्शन पर आधारित कर आत्म-साक्षात्कार एवं आत्म-पूर्णता को जीवन का ध्येय माना। शुभ अस्तित्व की परिपूर्णता की प्राप्ति पर निर्भर है और वह अस्तित्व आत्मा या संकल्प है। वह नियम जो आत्म-साक्षात्कार का आदेश देता है अस्तित्व का वह सामान्य नियम नहीं है जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव की पूर्णता को प्राप्त होती है प्रत्युत आत्मा का वह नियम है जो अन्तिम विश्लेषण में समस्त वास्त-विकता का स्रोत है। अपनी आत्मा को विश्वात्मा मानना तथा उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करना ही मनुष्य का ध्येय है। इसी पर आत्मा की परिपूर्णता निर्भर है। अतः जिस आत्मा का साक्षात्कार करना चाहते हैं वह सीमित तथा सामान्य अनुभव द्वारा ज्ञात आत्मा नहीं है बल्कि शाश्वत, आध्यात्मिक ज्ञाता आत्मा है जो अपने को सीमित आत्माओं द्वारा पुनरुत्पन्न करता है। ऐसा सिद्धान्त न बुद्धिवाद, न सहजज्ञानवाद और न प्रकृतिवाद के अन्तर्गत आ सकता है। बुद्धिवादी मनुष्य के मूर्त व्यक्तित्व को समझने में असमर्थ रहे। पूर्णतावादियों ने मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाकर बुद्धिवादियों की इस कमी को दूर किया। उन्होंने कांट की नियमानुवर्तिता की धारणा के बदले उस नियम को दिया जिसे ध्येय की धारणा निर्धारित करती है और जो सम्पूर्ण आत्मा को स्थायी आनन्द देता है। अतः नैतिक नियम रूपात्मक एवं अन्तर्तथ्य

शून्य नहीं है। प्रकृतिवादियों के विपरीत पूर्णतावादियों ने वाह्य प्रकृति को मानस का ही एक रूप माना और समझाया कि अनुभवात्मक और वर्णनात्मक प्रणाली को अपनाकर नैतिक वाध्यता तथा कर्तव्य को नहीं समझाया जा सकता। सहजज्ञानवादियों की भाँति उन्होंने शुभ-अशुभ की विभक्तियों को परम नहीं माना क्योंकि इन्हें दो स्वतन्त्र सत्यों के रूप में नहीं समझाया जा सकता। अशुभ अवौद्धिक प्रवृत्ति या वस्तुओं के एकांगी ज्ञान का सूचक है। प्रकृति और मानस एक-दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि मानस प्रकृति में अन्तर्हित हैं।

विरोधों में सामंजस्य—पूर्णवादियों ने मानव-स्वभाव की संगति को समझाया। दार्शनिक सिद्धान्तों तथा मानव-संस्कृति और सभ्यता का इतिहास बतलाता है कि चिन्तन और व्यवहार के क्षेत्र में हमें सर्वत्र, सभी देश और सभी कालों में वैराग्यवादी और भोगवादी दो दृष्टिकोण मिलते हैं। ये दोनों ही वास्तविक जीवन-समस्या पर आधारित हैं और नैतिक चिन्तन के लिए पर्याप्त सामग्री देते हैं। बुद्धि और भावना दोनों के ही अधिकार को समझना उस व्यापक सिद्धान्त को अपनाना है जो कि मनुष्य के लिए वांछनीय है। ऐसे वांछनीय सिद्धान्त को देने का प्रयास पूर्णतावादियों ने किया है। निःसन्देह नैतिक विज्ञान का काम एक स्थितप्रज्ञ का काम है। अपनी उग्रता के कारण वास्तविक जीवन का निराकरण करने वाली प्रवृत्तियों और विचारों को समत्व के मानदण्ड के अधीन रखना उचित है। अतः दोनों के प्रतिभासित चिर-असंगत विरोधों को दूर करने का श्रेय पूर्णतावाद को है। प्लेटो ने बुद्धि और भावना दोनों के सामान्य जीवन की उस एकता को समझाया जो न्याय और संगति की धारणा से संचालित है। हीगल ने इन्द्रियबोध और बुद्धि में संगति देखी। वह संवेदना और विचार की एकता के मूर्त तथ्य को यह कहकर स्थापित करता है कि वास्तविक ही बुद्धिमय है। ग्रीन ने अपनी पुस्तक[1] में इस संगति को समझाने का सफल प्रयास किया है। भावना और बुद्धि की संगति और

---

१. Prolegomena to Ethics.

एकता को समझने के लिए यह समझना भी अत्यन्त आवश्यक है कि उनमें विरोध है अन्यथा यह संगति सार्थक नहीं होगी। प्राचीन विचारकों ने विरोध को अत्यधिक महत्त्व दिया और इसलिए वे उस जीवन को नहीं समझा पाये जो मानव-जीवन है। आधुनिक विचारकों, विशेषकर, हीगल के मतावलम्बियों ने इन्द्रियों को बुद्धि का प्रतिरूप और सिरनामा कहकर समन्वय की उस समस्या को हटा दिया जो वास्तव में है। किन्तु फिर भी पूर्णतावादियों के लिए यह मानना होगा कि उन्होंने सुखवाद और बुद्धिवाद की एकांगिता से ऊपर उठने का प्रयास किया और उस सर्वग्राही दृष्टिकोण को अपनाने का प्रयत्न किया जिसके आधार पर सम्यक् सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जा सकता है।

कल्याणकारी मार्ग की ओर—जीवन की विभिन्न समस्याओं को व्यावहारिक रूप देने के लिए आत्मा के स्वरूप को जानने का प्रयास करना चाहिए। सभी पूर्णतावादी बुद्धि और भावना के प्रश्न को उठाते हैं और इनके सम्भावित समन्वय की धारणा को लेकर नैतिक समस्याओं को हल करते हैं। इस समन्वय की धारणा के मूल में परम सत्य, चैतन्य तत्त्व, परम प्रत्यय अथवा भगवान् हैं। ऐसी परम एकता को स्वीकार करने पर भी उन्होंने मनुष्य के स्वतन्त्र अस्तित्व को समझने की चेष्टा की है और उसकी योग्यताओं तथा सीमाओं का परीक्षण किया है। अरस्तू का मध्यम मार्ग और ब्रेडले का 'मेरी स्थिति और कर्तव्य' मनुष्य के मूर्त सामाजिक अस्तित्व के सूचक हैं। यद्यपि समाज का मूल्यांकन करते समय हीगल व्यक्तित्व को भूल जाता है फिर भी सामान्य रूप से सभी पूर्णतावादियों ने व्यक्ति और समाज के न्यायोचित अधिकार और स्वतन्त्र किन्तु परस्पर निर्भर मूल्य को समझा है। प्रत्येक व्यक्ति बौद्धिक है। उसका अपना अस्तित्व है। उसके व्यक्तित्व की पूर्णता दूसरों की पूर्णता की अपेक्षा रखती है। जिस स्वार्थ और परमार्थ के प्रश्न को अन्य विचारकों ने शाश्वत समस्या का रूप दे दिया था उसे पूर्णतावादियों ने मानव सत्य के आधार पर समझाया और उसे आकर्षक, सुन्दर, व्यापक, वास्तविक तथा कल्याणकारी रूप दिया। यदि इस सत्य के आधार पर आज के विश्वव्यापी शोषक-शोषित के प्रश्न को सुलझायें तो व्यक्तियों और राष्ट्रों

के ध्वंस के बदले एक उन्नत मानव-जाति का निर्माण हो जाएगा जिसे कि पाशविक प्रवृत्तियाँ छिपाये हुए हैं।

'व्यक्तित्व को प्राप्त करो'—इस कथन द्वारा पूर्णतावादियों ने समझाया कि संकीर्ण आत्मा से ऊपर उठकर बौद्धिक आत्मा की परिपूर्णता को प्राप्त करना चाहिए। इसके लिए आत्मा के स्वरूप को पहचानना आवश्यक है। आत्मा का ज्ञान उन शक्तियों पर नियन्त्रण रखता है जो कि अधोमुखी हैं। वह हमें कर्तव्यबोध देता है। वह हमें यह भी बतलाता है कि प्रत्येक व्यक्ति बौद्धिक है और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। ऐसा ज्ञान उस आत्मत्याग की ओर प्रेरित करता है जो कि आत्म-कल्याण और पूर्णता का सूचक है। संकीर्ण आत्मा की मृत्यु ही आध्यात्मिक आत्मा के जीवन का प्रारम्भ है जो आत्मा और विश्वात्मा को तादात्म्य की ओर ले जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति, सामाजिक उत्तरदायित्व और लोककल्याण की ओर पूर्णतः सचेत रहता है। वह विश्व में सर्वत्र संगति और समानता देखता है। उसका जीवन जन-मंगलमय हो जाता है।

१९

मूल्यवाद

प्रवेश—नीतिशास्त्र आचरण का आदर्श देता है और आचरण स्वेच्छाकृत कर्मों का सूचक है। नैतिक निर्णय कर्मों के शुभ और अशुभ स्वरूप के बारे में बतलाते हैं। सामान्य वार्तालाप में शुभ-अशुभ का प्रयोग कर्मों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं और घटनाओं के लिए भी किया जाता है। इनका ऐसा अनिश्चित प्रयोग उस विज्ञान की अपेक्षा रखता है जो कि इनके विभिन्न अर्थों पर प्रकाश डाले तथा उन अर्थों की पारस्परिक भिन्नता और विशेषता को समझाये। ऐसा सिद्धान्त मूल्यों अथवा मान्यताओं का विज्ञान (Axiology or the science of values) कहलाता है। मूल्यों का विज्ञान सामान्यतः शुभ-अशुभ वस्तुओं का विवेचन करता है : ललित कला, सुन्दर नृत्य, शुभ आचरण, रहस्यानुभूति आदि के बारे में निर्णय देता है। वे नैतिक सिद्धान्त, जो हेतुवादी हैं और जिनके अनुसार वे कर्म शुभ हैं जो मूल्यवान् परिणामों को देते हैं, मूल्यवाद के सिद्धान्त (value theories) हैं। मान्यताओं के विज्ञान का प्रयोग जब नीतिशास्त्र के क्षेत्र में किया जाता है तो उसका सम्बन्ध उन वस्तुओं या दृश्यों से नहीं होता जो सुन्दर हैं, बल्कि उसके द्वारा कर्मों के परिणामों का मूल्यांकन किया जाता है। मूल्यवाद का सिद्धान्त वह सिद्धान्त है जो कर्म के औचित्य या शुभत्व को इस आधार पर आंकता है कि उसका परिणाम एक विशिष्ट अर्थ में शुभ है। प्रश्न यह है, किन मूल्यवाले परिणामों को नैतिक रूप से शुभ कह सकते हैं और मूल्य के क्या अर्थ हैं ?

शुभ और मूल्य—मूल्यवादियों ने शुभ को मूल्य के रूप में समझाया और साध्यगत मूल्य तथा साधनगत मूल्य के भेद द्वारा सिद्ध किया कि साध्यगत

मूल्यों एवं आभ्यन्तरिक मूल्यों की प्राप्ति ही परभ शुभ है जो कि सत्य, सौन्दर्य और शिव का एक-दूसरे के परस्पर उचित सम्बन्ध में रहना है। अतः परम मूल्य दैहिक, सामाजिक और आध्यात्मिक आत्मा की पूर्णता है। परम मूल्य वह है जो सम्पूर्ण आत्मा को सन्तोष देता है। अथवा मूल्यवादियों के अनुसार आत्म-साक्षात्कार विभिन्न मान्यताओं का वह बौद्धिक नियम है जो कि क्रमशः आत्मा की क्षमताओं को सन्तुलित रूप में सशक्त करता है। मूल्य का मानदण्ड[1] उस आचरण की ओर ले जाता है जो निःश्रेयस् अथवा सर्वश्रेष्ठ मूल्यवान की प्राप्ति में सहायक है। विश्व में निहित परम सत्य की प्राप्ति ही परम-ध्येय है। यह निःश्रेयस् है। इससे अधिक मूल्यवान् अन्य कुछ नहीं है। कुछ विचारकों ने भगवान् को परम मूल्य कहा है। वह स्वयंभू पूर्णता है। इतिहास के प्रवाह में व्यक्ति इस सर्वोच्च मूल्य का अनुसन्धान कर रहा है।

मूल्यवाद तथा अन्य विचारक—बुद्धिवादी, सुखवादी, पूर्णतावादी आदि विचारकों ने मूल्यवादियों की भाँति ही नैतिक आदर्श के स्वरूप को समझने का प्रयास किया। बुद्धिवादियों अथवा कांट ने नैतिक आदर्श को नियम के रूप में देखा, सुखवादियों ने सुख और पूर्णतावादियों ने उस पूर्णता के रूप में जो व्यक्ति और समाज के जीवन की चरितार्थता है। कांट का नियमानुवर्तिता का सिद्धान्त अन्तर्तथ्यशून्य है और सुखवादी उस नैतिक सिद्धान्त को देने में असमर्थ हैं जो सार्वभौम और वस्तुगत है। पूर्णतावादियों की पूर्णता की धारणा नैतिकता को एक सत्य तथ्य अवश्य देती है किन्तु वे स्पष्ट और व्यापक रूप से पूर्णता का अर्थ समझाने में असमर्थ रहे। मूल्यवादी पूर्णतावादियों की भाँति नैतिकता की व्याख्या आत्मसाक्षात्कार के रूप में करते हैं। वे अन्य तात्त्विक सिद्धान्तों से इस बात में भिन्न हैं कि नैतिकता की ओर उनका दृष्टिकोण शील की आधुनिकतम विकसित धारणा का है। उनके लिए सामान्य मूल्य (generic value), जो कि नैतिक मूल्य से भिन्न है, अस्तित्व पर निर्भर नहीं वरन् अस्तित्व की बाध्यता पर निर्भर है।[2]

---

१. The Standard as Value.
२. Hill, pp. 273.

वास्तव में, मूल्यवादियों ने उसी प्राचीन किन्तु चिरनूतन प्रश्न को उठाया जिसे कि सुकरात और प्लेटो ने उठाया था : और वह है, शुभ का क्या रूप है ? मूल्यवादी इसी समस्या का हल करने के लिए प्रश्न करते हैं : परम मूल्य से क्या अभिप्राय है ?

मूल्य की समस्या—यदि मूल्य के आधार पर नैतिकता अथवा आचरण के शुभत्व को समझा जाता है तो मूल्य से हमारा क्या अभिप्राय है ? जीवन में उसका क्या स्थान है ? मानस के किसी भी सिद्धान्त, विचार और धारणा को मूल्य का रूप नहीं दे सकते हैं। यदि व्यक्ति किसी सामाजिक प्रचलन के अनुरूप कर्म करता है और सामाजिक दृष्टि से उसका आचरण शुभ है तो नैतिक दृष्टि से उसके आचरण को मूल्य नहीं कहा जा सकता। मूल्य उस सत्य को कह सकते हैं जिसके लिए व्यक्ति या समाज जीवित रहता है और जिसके लिए आवश्यकता पड़ने पर वह संघर्ष करने, दुःख सहने तथा मृत्यु को स्वीकार करने के लिए भी तत्पर है।

मूल्य का आर्थिक प्रयोग—जीवन की आवश्यकताओं ने 'मूल्य' को आर्थिक रूप दिया। सर्वसामान्य के जीवन में मूल्य अपने आर्थिक रूप में ही प्रयोग में आता है। मूल्य के साथ ही उन्हें पैसों का ध्यान आता है, अथवा, वे उस वस्तु को मूल्यवान् मानते हैं जो कि इच्छाओं की तृप्ति करती है। क्षुधा के कारण भोजन एवं खाद्य पदार्थों को और जीवन की कठिनाइयों के कारण निवास और वस्त्र को मूल्यवान् समझा जाता है। जनसामान्य के लिए वे वस्तुएं और विषय मूल्यवान् हैं जो किसी-न-किसी रूप में उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति और इच्छाओं की तृप्ति करते हैं। अर्थशास्त्र ने मूल्य का प्रयोग दो अर्थों में किया है : व्यवहार (उपयोग) के अर्थ में और विनिमय के अर्थ में। व्यवहार के अर्थ में मूल्य वस्तु की उस समता को व्यक्त करता है जो मानव-आवश्यकताओं और इच्छाओं को संतोष देने में सहायक है। विनिमय के अर्थ में यह एक वस्तु का दूसरी वस्तु से आदान-प्रदान का सूचक है जो वर्तमान युग में धन के रूप में किया जाता है, जिसे वस्तु की कीमत या मूल्य कहते हैं। मूल का अर्थशास्त्रीय अर्थ सीमित है। वह जैव आवश्यकताओं के लिए साधन मात्र है।

अपने सीमित अर्थ में प्रत्येक वस्तु, यहाँ तक कि, सुरा का भी मूल्य है क्योंकि यह पीने वाले को तृप्ति देती है। मूल्य के विनिमय के रूपक को भी नीतिशास्त्र में स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि वह वस्तुओं का परिमाणात्मक मूल्यांकन करता है। सुखवादियों की नैतिक गणना ऐसी ही भ्रान्ति पर आधारित है। नैतिकता गुणात्मक मूल्यांकन को स्वीकार करती है, न कि परिमाणात्मक।

मूल्य के दो रूप—आर्थिक और नैतिक मूल्य का भेद आभ्यन्तरिक मूल्य और बाह्य मूल्य[1], परम मूल्य और निमित्त मूल्य[2], तथा स्थायी मूल्य और अस्थायी मूल्य[3] एवं साध्यगत मूल्य और साधनगत मूल्य का है। समस्त व्यवहार का मूल्य, जिससे कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध है, साधनगत मूल्य है। नैतिकता का सम्बन्ध साध्यगत मूल्य एवं परम मूल्य से है। वह वस्तु, जो अपने-आपमें शुभ है, परम मूल्य रखती है। सभी सुखद वस्तुएँ, अथवा वे वस्तुएँ जो किसी-न-किसी रूप में मनुष्य को सन्तोष देती हैं, व्यावहारिक मूल्य रखती हैं। सन्तोष के विषयों का मूल्य उनकी उपयोगिता पर निर्भर है। नैतिक मूल्यवाद यह मानता है कि वस्तुएँ कभी भी केवल इस कारण नैतिक रूप से शुभ नहीं होतीं कि वे सन्तोष या श्लाघा का विषय हैं। इस तथ्य को मानना कि वस्तुएँ नैतिक रूप से शुभ इसलिए हैं कि वे सुखप्रद हैं, प्राकृतिक हेत्वाभास है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रतिदिन के सामान्य वार्त्तालाप में उन वस्तुओं और विषयों को शुभ कहते हैं जो कि व्याख्या करने वाले को सन्तोष देते हैं अथवा जो उसकी दृष्टि में श्लाघनीय हैं, किन्तु मात्र श्लाघा और सन्तोष के विषयों को हम नैतिक मूल्य नहीं प्रदान कर सकते।

मूल्यों के विभिन्न स्तर—जो व्यक्ति मूल्य को महत्त्व देता है उसके लिए अपने-आपमें कोई भी कर्म भला या बुरा नहीं है। वही नियम और कर्म अच्छे हैं जो सर्वोच्च मूल्य की प्राप्ति में सहायक हैं। किन्तु सर्वोच्च मूल्य को विकसित चेतना ही समझ सकती है। चेतना के क्रम-विकास की स्थिति ही मूल्यों के

---

१. Intrinsic value and Extrinsic value.
२. Absolute value and Instrumental value.
३. Permanent value and Transient value.

विभिन्न स्तरों की सूचक है। जिसे हम विभिन्न जातियों और व्यक्तियों के मूल्यों का संघर्ष अथवा एक ही व्यक्ति के आन्तरिक जगत् के मूल्यों का संघर्ष कहते हैं वह बतलाता है कि अपूर्ण विकास एवं सम्यक् ज्ञान का अभाव ही इस संघर्ष के मूल में है। विशिष्ट व्यक्तित्व, परिस्थिति तथा आवश्यकता मूल्य के विभिन्न स्वरूपों को हमारे सम्मुख रखती है। मूल्यों के सापेक्ष रूप तथा उच्च स्थिति को प्राप्त होती हुई क्रमिक शृंखला एवं गुणात्मक भेद बतलाता है कि मूल्य साधारण आवश्यकता से लेकर सर्वोच्च आवश्यकता को समझाता है। मूल्यों की एक ऊपर को उठती हुई श्रेणी है जिसका कि व्यक्ति अपने विकास के क्रम में अनुसरण करता है। मनुष्य अपनी अविकसित अवस्था में मूल्यों की निम्नतर स्थिति में होता है। वह जीवित रहने की इच्छा को इतना अधिक मूल्य प्रदान करता है कि जीवित रहने के लिए पशु-जीवन को भी स्वीकार कर लेता है। मूल्यों का मापदण्ड पशु-जीवन की आवश्यकताओं से निर्वैयक्तिक और सार्वभौम मूल्यों की इच्छा तक विस्तृत है। उदाहरणार्थ, स्वतन्त्रता और नैतिकता—सत्य, न्याय, सौन्दर्य, सेवा, समानता, बन्धुत्व के सिद्धान्त आदि सार्वभौम मूल्यों का आवाहन करते हैं। महान् सन्तों, दार्शनिकों और अध्यात्मवादियों ने भी यह अनुभव किया है कि ये मूल्य परम और शाश्वत हैं, इनका सदैव अस्तित्व रहेगा और ये सबके लिए समान रूप से सत्य रहेंगे। निःसन्देह सत्य, शिव, सौन्दर्य, प्रेम, पूर्णता, स्वतन्त्रता आदि शाश्वत मूल्य हैं फिर भी इनके रूप देश-काल की आवश्यकताओं के अनुसार बदलते रहते हैं। यद्यपि कला के आदर्श और शैलियाँ बदलती रहती हैं किन्तु उनमें सौन्दर्य की ही शाश्वत खोज मिलती है।

आज के युग में बहुतों के लिए धन ही सब-कुछ है, वे धन को ही सर्वोच्च मूल्य प्रदान करते हैं, और कुछ के लिए सफलता संस्कृति का मापदण्ड है; किन्तु नैतिक जीवन के प्रेमियों के लिए यह याद रखना अनिवार्य है कि धन जीवन का एक अंग मात्र है और वह भी सर्वाधिक आवश्यक अंग नहीं है। इसी भाँति सफल होना संस्कृत होना नहीं है। अन्तर्बोध के आदेश का पालन, सेवा, त्याग, सच्चरित्रता, प्रेम, सत्यता आदि शाश्वत मूल्यों की प्राप्ति धन और सफलता से

कहीं अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि मनुष्य और जो कुछ भी हो वह व्यक्ति अथवा आत्मा अवश्य ही है और मानव-मूल्य की पर्याप्त धारणा तब तक नहीं बनायी जा सकती जब तक कि आत्म-साक्षात्कार की धारणा का समावेश नहीं किया जाए। विभिन्न वस्तुओं, आवश्यकताओं और इच्छाओं का गुणात्मक मूल्यांकन आत्म-साक्षात्कार के सम्बन्ध में ही कर सकते हैं। अतः वही आभ्यन्तरिक रूप से मूल्यवान् है जो व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए अनिवार्य है; यह, वास्तव में, धनात्मक और ऋणात्मक मूल्यों के भेद की ओर हमें ले जाता है। धनात्मक मूल्य की वस्तु शुभ है। वह आत्म-पूर्णता में सहायक है; उसके विपरीत, वह वस्तु, जो पूर्णता अथवा साक्षात्कार के मार्ग में विरोध उत्पन्न करती है, ऋणात्मक मूल्य की वस्तु है, तथा अशुभ है।

कांट के अनुसार शुभ संकल्प ही एक मात्र आभ्यन्तरिक मूल्य एवं तात्त्विक मूल्य है। सुखवादियों ने सुख को, बुद्धिवादियों ने बुद्धि को तथा गांधीजी ने सत्य को साध्य मूल्य से युक्त माना है। इसी भाँति अन्य विचारक विवेक, सौन्दर्य, स्वतन्त्रता, प्रेम आदि को परम मूल्यवान् मानते हैं। साध्य मूल्य की विभिन्न धारणाएँ यह बतलाती हैं कि वह वस्तु, जो अपने-आपमें पूर्ण है एवं अन्य वस्तुओं के लिए साधन मात्र नहीं है, परम मूल्यवान् अथवा परम शुभ है। मूल्यवादियों के अनुसार आत्म-साक्षात्कार या आत्म-पूर्णता ही परम शुभ है। वह तात्त्विक मूल्ययुक्त पूर्णता है।

आभ्यन्तरिक शुभ वैयक्तिक भी है—परम मूल्यवान् वस्तु वह नहीं है जो क्षणिक विचारों, भावनाओं और इच्छाओं को तृप्त करती है किन्तु जिसे प्रत्येक विवेकी व्यक्ति मूल्यवान् मानता है। साध्य मूल्य की वस्तु ही परम शुभ है। यह शुभ वस्तुगत होते हुए भी आत्मगत है। परम शुभ सार्वभौम है यद्यपि यह व्यक्ति द्वारा प्राप्त होता है। परम शुभ की प्राप्ति सुख देती है यद्यपि सुख परम शुभ नहीं है। शुभ एवं मूल्य का सुखद होना इस बात का सूचक है कि इसका अनुभव व्यक्ति करते हैं। अतः नैतिक मूल्य वैयक्तिक और सार्वभौम दोनों ही है। मूल्य वह है जिसे व्यक्ति महत्त्व देता है और उसके अनुरूप कर्म करता है। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि मूल्य की धारणा उसकी

अपनी सम्पत्ति है। वह केवल यही नहीं कहता कि मैं इस वस्तु को मूल्य देता हूँ वल्कि उस मूल्य के अनुरूप कर्म करने के लिए सदैव तत्पर भी रहता है। धन को परम मूल्य देने वाला व्यक्ति धन उपार्जन के लिए निन्दनीय कर्मों को सहर्ष स्वीकार कर लेता है और यश का आकांक्षी अपना सर्वस्व त्याग करके यश प्राप्त करना चाहता है। इससे प्रकट होता है कि अपने व्यापार में मूल्य आत्मगत या भाव-प्रधान है और वह प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न है। मूल्य क्रिया-शील भी है। यह मनुष्य के अन्तरतम में जगती हुई वह शक्ति है जो उसे एक विशिष्ट प्रकार से कर्म करने के लिए प्रेरित करती है और उसके जीवन को अपने अनुरूप शासित कर उसे एक विशिष्ट दिशा प्रदान करती है। मूल्य केवल मनुष्य को यह नहीं बताता कि उसे क्या करना चाहिये वरन् उसके आचरण को शासित भी करता है। मूल्य का ऐसा शक्तिमय स्वरूप हमें वतलाता है कि हमें शुभ मूल्यों को समझने का प्रयास करना चाहिये। मूल्य का सम्बन्ध व्यक्ति से है अतः व्यक्तिय को विवेक को जाग्रत करके उस कर्म को अपनाना चाहिये जो कि परिस्थिति-विशेष में आत्म-पूर्णता की प्राप्ति के लिए सर्वोत्तम हो।

मूल्यों का उत्तरोत्तर विकास : तुलनात्मक स्थिति—मूल्य का आत्मगत पक्ष यह भी वतलाता है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के मूल्य भिन्न होते हैं और एक ही व्यक्ति में भी वे उसकी विकास की अवस्था के अनुसार बदलते रहते हैं। अपने बोध और विवेचन की शक्ति (नीरक्षीर विवेक) के अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति एक विशिष्ट तथ्य और विषय को मूल्य देता है। जनसामान्य के जीवन का अध्ययन वतलाता है कि कोई भी मूल्य ऐसा नहीं है जिसके बारे में हम यह कह सकें कि यह प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक राष्ट्र को मान्य है। प्रत्येक अपने स्वभाव, व्यक्तित्व और चेतना के विकास के स्तर के अनुरूप विषय को मूल्यवान् मानता है। अथवा मानव-चेतना की विभिन्न स्थितियों का अध्ययन दैहिक आवश्यकताओं की तृप्ति को मूल्यवान् समझने की स्थिति से आत्मपूर्णता को मूल्यवान् समझने की स्थिति का अध्ययन है। मूल्यवाद किसी भी मूल्य का पूर्ण रूप से निराकरण नहीं करता है किन्तु साथ ही उस परम मूल्य को भी समझने का प्रयास करता है जो शाश्वत और सार्वभौम है। वह निम्नतम मूल्य

से लेकर उच्चतम मूल्य के स्थान को निर्धारित करने का प्रयास करता है। साध्यगत और साधनगत मूल्यों के भेद द्वारा मूल्यवादी साधनगत मूल्यों की उपेक्षा नहीं करते हैं बल्कि यह समझाते हैं कि आर्थिक, दैहिक, मनोरंजन सम्वन्धी मूल्य आभ्यन्तरिक मूल्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं। अथवा आत्मा की विभिन्न आवश्यकताओं—शारीरिक, बौद्धिक, कलात्मक आदि की उचित परिमाण में तृप्ति ही परम शुभ या निःश्रेयस् मूल्य है। आत्म-साक्षात्कार वह है जो विभिन्न अंशों की आवयविक समग्रता एवं एकता है। यह ज्ञान, संस्कृति, सौन्दर्य, सद्गुण आदि के पारस्परिक उचित सम्वन्ध पर निर्भर है। सर्वोच्च शुभ मूल्यों के एक-दूसरे से समुचित प्रकार से सम्वन्धित श्रेणियों को कहते हैं। अतः दैहिक मूल्य से श्रेष्ठ सामाजिक मूल्य है और सामाजिक से श्रेष्ठ आध्यात्मिक मूल्य तथा ज्ञान और सौन्दर्य से श्रेष्ठ नैतिक शुभत्व या सद्गुण हैं। मूल्यों की तुलना करके उनकी क्रमिक श्रेष्ठता के आधार पर हम कह सकते हैं कि आभ्यन्तरिक मूल्य वाह्य मूल्य से श्रेष्ठ हैं और स्थायी मूल्य अस्थायी मूल्य से।

मूल्यों का तुलनात्मक मूल्यांकन बतलाता है कि सब मूल्य सपरिमाण (commensurable) हैं अथवा प्रत्येक शुभ एवं मूल्य को तोला जा सकता है और उसका स्थान निम्नतम से उच्चतम मूल्यों की उत्तरोत्तर विकसित होती हुई श्रेणी में निर्धारित किया जा सकता है। विविध शुभों का स्थान निर्धारित करने के लिए उनकी राशि और गुण दोनों को समझना होगा। मूल्यों का गुणात्मक भेद स्पष्ट बतलाता है कि जब निम्न और उच्च मूल्यों के वीच चयन का प्रश्न उठे तो सदैव उच्च मूल्य का वरण करना चाहिये। यही कारण है कि एक प्रकार का शुभ चाहे राशि में कितना ही अधिक हो वह दूसरे प्रकार के शुभ की पूर्ति नहीं कर सकता है। अतः जब परिस्थितियों के कारण यह असम्भव हो जाता है कि हम सभी प्रकार के शुभों को अपने या दूसरों के लिए प्राप्त कर सकें तब हमें यह निश्चित कर लेना चाहिये कि उनमें से कौनसा सर्वश्रेष्ठ शुभ है जिसे कि प्राप्त किया जा सकता है। नैतिक ज्ञान बतलाता है कि वही कर्म उचित है जो शुभ को उत्पन्न करता है। जब विभिन्न शुभों में से एक शुभ को

चुनने का प्रश्न उठता है तब उस शुभ को चुनना उचित है जो अधिकतर शुभ को उत्पन्न करता है। ऐसा कथन बतलाता है कि सब प्रकार के शुभों की तुलना की जा सकती है और हम सब प्रकार के शुभों को एक ही तुला में तोल सकते हैं तथा प्रत्येक का दूसरों के सम्बन्ध में उचित मूल्य आँककर उनके सापेक्ष मूल्य को निर्धारित कर सकते हैं। सभी मूल्य तोले जा सकते हैं, किन्तु मूल्यों का सपरिमाण होना यह नहीं बतलाता कि एक मूल्य का विशिष्ट परिमाण में होना दूसरे मूल्य के अभाव की कमी पूर्ण कर सकता है और न हम बेंथम की भाँति यही कह सकते हैं कि समान परिमाण होने पर तुच्छ खेल और कविता करने के सुख को समान रूप से शुभ कह सकते हैं। किन्तु यह भी सत्य है कि सामान्य जीवन में सभी मूल्यों की प्राप्ति असम्भव है। अधिकतर भिन्न प्रकार के शुभों के बीच विरोध उत्पन्न हो जाता है, और तब यह आवश्यक हो जाता है कि उचित विवेक और नैतिक चेतना की सहायता से उनका मूल्यांकन करके श्रेष्ठ शुभ को चुना जाय। वैसे सत्य, सौन्दर्य, शुभ एवं सद्गुण उच्चतम शुभ के अंग हैं और आंगिक भाव से सम्बद्ध हैं। हमें प्रत्येक को आवयविक समग्रता के अंग के रूप में समझने तथा प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये, न कि असम्बद्ध इकाई के रूप में। यदि हम उन्हें आवयविक समग्रता के रूप में प्राप्त करने में असमर्थ हों तो हमें चाहिये कि उन्हें एक-दूसरे से पृथक् करके समझने का प्रयास करें और मूल्यों की तुला में उनके स्थान को निर्धारित करें।

आभ्यन्तरिक मूल्य—मूल्यवादी आत्मा के ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और रागात्मक स्वरूपों के आधार पर सत्य, सौन्दर्य और शुभ या सद्गुण को आभ्यन्तरिक मूल्य प्रदान करते हैं। ये अपने-आपमें शुभ हैं। इनकी खोज व्यक्ति इन्हीं के लिए करता है और इसलिए ये साध्य हैं, न कि साधन। सत्य आत्मा के ज्ञानात्मक पक्ष, सौन्दर्य रागात्मक पक्ष और शुभ एवं नैतिक पूर्णता क्रियात्मक पक्ष को तुष्टि प्रदान करता है। ये मूल्य अति वैयक्तिक (over-individual) हैं अतएव सार्वभौम हैं। ये व्यक्तियों से स्वतन्त्र हैं यद्यपि व्यक्ति इनका अनुभव करते हैं। ये तीनों उसी भाँति अपृथक् हैं जिस भाँति कि ज्ञान,

कर्म और भावना। किन्तु फिर भी यह सत्य है कि वौद्धिक रूप से इनकी अभिन्नता को समझने में हम असमर्थ हैं।

शुभ नैतिक कर्त्तव्य या वाध्यता की भावना देता है। नैतिक शुभ की चेतना नैतिक स्थायी भावना से युक्त है। यह सदाचार के मार्ग की ओर ले जाती है। अतः शुभ सत्य तथा सौन्दर्य की भाँति नहीं है। सुन्दर चित्र की प्रशंसा करते समय हम चित्रकार की प्रेरणा, चरित्र एवं व्यक्तित्व पर निर्णय नहीं देते, किन्तु नैतिक शुभ चरित्र पर निर्णय देता है। यह अद्वितीय और अनुपम है। भगवान् को परम मूल्य मानने वाले मूल्यवादी भगवत् प्रेम को आभ्यन्तरिक मूल्य के रूप में स्वीकार करते हैं। भगवान् ही सत्य, सौन्दर्य और शिव की परिपूर्णता है।[1] प्रार्थना और दिव्य मिलन अद्वितीय आनन्द हैं। वे अपने-आप में शुभ हैं। नैतिक मूल्य भगवत् प्रेम की ओर ले जाता है। नैतिकता मानवता के प्रति सेवा और प्रेम को महत्त्व देती है और धर्म भगवत् प्रेम को। नैतिक मूल्य और धार्मिक मूल्य दोनों ही प्रेम को महत्त्व देते हैं और प्रेम ही परोपकारी कर्म का प्रमुख स्रोत है। प्रेम के द्वारा ही हम दूसरे के चरित्र को प्रभावित कर सकते हैं। भगवत् प्रेम का अर्थ सर्वशुभ से है। भगवत् प्रेम और पड़ोसी का प्रेम ही नैतिक शुभ का सार है। वैयक्तिक और सामूहिक जीवन की पूर्णता उस सर्वोच्च शाश्वत मूल्य (भगवान्) पर निर्भर है जिसमें कि सत्य, सौन्दर्य और शिव परिपूर्णता प्राप्त कर चरितार्थ होते हैं।

शुभ, नैतिक शुभ और परम शुभ—शुभ वह है जिसका नैतिक मूल्य है। इसका प्रयोग साधन और साध्य दोनों अर्थों में होता है। शुभ व्यक्ति वह है जो वास्तविक मूल्यों की उन्नति के लिए, चाहे वह साधन रूप में हों या साध्य रूप में, अपनी क्षमता के अनुरूप सतत प्रयत्नशील है। नैतिक मूल्यों की वृद्धि नैतिक

---

१. तुलना कीजिये—

न धनं न जनं न च कामिनीं
कवितां वा जगदीश कामये
मम जन्मनि जन्मनि ईश्वरे
भगवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि।

शुभ की वृद्धि है और नैतिक शुभ परम शुभ की अपेक्षा रखता है। परम शुभ वह है जो बौद्धिक प्राणी को पूर्ण सन्तोष देता है यद्यपि साथ ही यह भी सत्य है कि परम शुभ की प्राप्ति दुर्लभ है। परम शुभ को उस व्यवस्थित बौद्धिक विधान के रूप में समझने पर, जोकि बौद्धिक व्यक्ति को सन्तोष देता है, प्रश्न उठता है कि क्या परम शुभ की ऐसी धारणा वास्तविक है ? ऐसा प्रश्न हमें तत्त्वदर्शन की ओर ले जाता है। तात्विक कठिनाइयों में न जाकर इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि नैतिक शुभ एवं नैतिक मूल्य इस तथ्य पर आधारित है कि मनुष्य वर्तमान स्थिति से उत्पन्न असन्तोष के कारण अपना यह कर्त्तव्य समझता है कि वह स्वेच्छा से उस मार्ग को चुने जिसकी प्राप्ति उसे सन्तोष देगी। ऐसी सन्तोष की स्थिति एवं नैतिक शुभ की प्राप्ति तथा साक्षात्कार के लिए व्यक्ति सदैव प्रयास करता है। वर्तमान असन्तोष उसे इस स्थिति की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है। वह नैतिक शुभ का स्वतन्त्रतापूर्वक वरण करके उस पूर्णता की स्थिति को प्राप्त करना चाहता है जहाँ दुख, असन्तोष और पाप नहीं है। यही पूर्ण शुभ, पूर्ण कल्याण और पूर्ण सौन्दर्य की स्थिति है। ऐसे शुभ का चयन करना और उसे प्राप्त करने के लिए प्रयास करना नैतिक शुभ है। अतः नैतिक शुभ सामान्य शुभ से भिन्न है। सामान्य तौर से उस वस्तु को शुभ कहते हैं जो किसी व्यक्ति-विशेष को सन्तोष देती है। किन्तु नैतिक शुभ पूर्णता की धारणा पर आधारित है। वह अपने-आप में शुभ है चाहे वह व्यक्ति को सन्तोष दे या न दे। वह चाहे व्यक्ति के लिए सुखद हो या दुःखद, वह शुभ है। यदि यह मान लें कि नैतिक शुभ व्यक्ति को सुख देता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि नैतिक शुभ का शुभत्व उसके सुखद होने पर निर्भर है, क्योंकि नैतिक शुभ के लिए व्यक्ति सहर्ष दुःख स्वीकार करता है।

शुभ और औचित्य—आत्मगत और वस्तुगत औचित्य—शुभ-अशुभ का सम्बन्ध ध्येय से है और औचित्य-अनौचित्य का सम्बन्ध साधन से[१]। अतः उचित कर्म शुभ की प्राप्ति के लिए साधन मात्र है। सामान्य रूप से उचित कर्म वह

---

१. देखिये—भाग १, अध्याय १।

है जिसे कि उपलब्ध ज्ञान के आधार पर सभी व्यक्ति उचित कहते हैं। किन्तु अधिकतर देखा गया है कि जिसे सब लोग अच्छा कहते हैं उसे व्यक्ति-विशेष अनुचित कहता है और जिसे व्यक्ति उचित कहता है उसे अन्य लोग अनुचित कहते हैं। ऐसी परिस्थिति आत्मगत और वस्तुगत औचित्य[1] के प्रश्न को उठाती है। स्थूल रूप से व्यक्तिगत कल्याण के अनुरूप कर्म आत्मगत औचित्य वाले होते हैं और मानव-कल्याण के अनुरूप कर्म वस्तुगत औचित्यसम्पन्न हैं। क्या आत्मगत और वस्तुगत औचित्य में भेद है, या वे एक ही हैं? नैतिकता वैयक्तिक शुभ और वास्तविक शुभ में भेद नहीं देखती है। वैयक्तिक दृष्टि से वही शुभ है जो वास्तविक शुभ की प्राप्ति में सहायक है। वैसे आत्मगत औचित्य उसे कहते हैं जिसे कि कर्म करने वाला व्यक्ति उचित समझता है और वस्तुगत औचित्य उसे जो कि वास्तव में शुभ की प्राप्ति में सहायक है। उचित कर्म को समझना कठिन कार्य है। अधिकतर कर्ता कर्म के जिस मार्ग को ग्रहण करता है उसके बारे में वह स्वयं ही अनिश्चित रहता है। जिस साधन को चुनते हैं क्या वह वास्तव में उचित है? सम्यक् वैश्व दृष्टिकोण से कौन-सा मार्ग सर्वश्रेष्ठ है? क्या जो आत्मगत रूप से उचित है वह सदैव ही वस्तुगत रूप से उचित रहेगा? क्या सब कर्म आत्मगत रूप से उचित हैं? क्या सब कर्म वस्तुगत रूप से उचित हैं? क्या वह कर्म वास्तव में शुभ है जिसे व्यक्ति शुभ समझता है? नैतिकता यह मानती है कि वास्तविक शुभ के अनुरूप कर्म आत्मगत और वस्तुगत रूप से उचित है। अतः आत्मगत और वस्तुगत औचित्य परस्पर विरोधी नहीं हैं। फिर भी यदि यह प्रश्न करें कि क्या आत्मगत औचित्य वाला कर्म सदैव ही वस्तुगत रूप से उचित है तो कठिनाई उत्पन्न होती है। सुखवादियों और बुद्धिवादियों ने उचित कर्म की अपूर्ण व्याख्या की है। उदाहरणार्थ, बुद्धिवादियों ने कहा है कि ध्येय की पवित्रता कर्म के औचित्य को निर्धारित करती है। किन्तु ध्येय परिणाम से स्वतन्त्र नहीं है। इसी भाँति केवल परिणाम के आधार पर कर्म का औचित्य नहीं आँका जा सकता। व्यापक ज्ञान की कमी, परिवेश और परि-

---

१. Subjective and Objective rightness.

स्थिति का अज्ञान, क्षीण नैतिक अन्तर्दृष्टि, अनहोनी प्राकृतिक घटनाएँ आदि प्रतिकूल परिणामों को उत्पन्न करके शुभ प्रेरणा के कर्म को वस्तुगत रूप से अशुभ सिद्ध कर देती हैं। क्या हम कह सकते हैं कि सब कर्म वैयक्तिक रूप से उचित हैं ? इसमें भिन्न मत नहीं हो सकता कि कोई भी व्यक्ति जान-बूझकर अपना अहित नहीं करता है। चोर चोरी को उचित समझकर ही करता है। वह अविवेक के कारण उचित और अहितकर स्वार्थ को एक ही मान लेता है और वास्तविक कल्याण को भूल जाता है। आत्मगत औचित्य वाले कर्मों को समझने के लिग सम्यक् ज्ञान और विवेक अनिवार्य है। विवेक उसी कार्य को व्यक्तिगत रूप से अच्छा एवं आत्मगत औचित्यवाला कहता है जिसमें कि व्यक्ति का वास्तविक शुभ है। ऐसा कर्म वह कर्म है जिसमें कि सभी की भलाई निहित है। वास्तविक कल्याण वाले कर्म नैतिक शुभत्व से युक्त हैं। शुभ व्यक्ति वह है जो सक्रिय रूप से साध्यगत या साधनगत वास्तविक मूल्यों की अभिवृद्धि के लिए वहाँ तक प्रयास करता है जहाँ तक कि उसमें क्षमता है। समस्त वास्तविक मूल्यों की अभिवृद्धि अपने भीतर नैतिक शुभत्व की वृद्धि का समावेश करती है। अतः नैतिक शुभत्व को साध्य और साधन दोनों रूपों में समझा जा सकता है।

शुभ-अशुभ से परे—नैतिक शुभ तात्त्विक दृष्टिकोण की ओर ले जाता है। नैतिकता शुभ-अशुभ और पाप-पुण्य के भेद द्वारा यह बतलाती है कि हमें घटनाओं के प्रवाह में आँख मूँदकर नहीं वह जाना चाहिए वरन् अपने विवेक को जाग्रत कर उन कर्मों का वरण करना चाहिए जो शुभत्व की स्थापना में सहायक हैं। नैतिकता विश्व की घटनाओं और कार्यों के सापेक्ष मूल्य को निर्धारित करती है। परिस्थिति, देश, काल और आवश्यकता के अनुसार कर्म को समझना चाहिए। सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान का विकास बतलाता है कि नैतिक निर्णय परिवर्तनशील है। व्यक्ति को रूढ़ि-रीति एवं निश्चित नियमों से ऊपर-उठकर उन कर्मों को समझने का प्रयास करना चाहिए जिन्हें कि वह परिस्थिति विशेष में वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण के लिए सर्वश्रेष्ठ समझता है। ऐसा विवेक नैतिक कल्याण की ओर ले जाता है और नैतिक कल्याण उस तात्त्विक

सत्य की ओर जो हमें बतलाता है कि पाप और पुण्य का भेद अपूर्ण ज्ञान का सूचक है। शाश्वत दृष्टिकोण से विश्व की घटनाएँ परम शुभ को अभिव्यक्त करती हैं। फिर भी जहाँ तक अपूर्ण और सीमित ज्ञान का प्रश्न है, शुभ और अशुभ हैं। अपनी दुर्बलताओं से ऊपर उठने के लिए नैतिक शुभ की धारणा अनिवार्य है। नैतिक शुभ को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। नैतिक शुभ की चरितार्थता ही परम शुभ की ओर ले जायगी और परम शुभ की स्थिति शुभ और अशुभ से परे की स्थिति है।

मूल्यवाद का स्थान—मूल्यवाद का सामान्य अध्ययन बतलाता है कि इसके प्रतिपादकों ने किसी नवीन सत्य को सम्मुख नहीं रखा। उन्होंने उस सिद्धान्त को जिसे कि सामान्य रूप से सभी नीतिज्ञों ने और विशेष रूप से पूर्णतावादियों ने स्वीकार किया, मूल्यवाद का वाना पहना दिया है। 'मूल्य' शब्द की नवीनता तथा सिद्धान्त के प्रतिपादन की शैली को देखकर क्षण-भर के लिए यह अवश्य प्रतीत होता है कि हमें उस सत्य का भास होने जा रहा है जिससे कि अन्य विचारक अनभिज्ञ हैं। पर, हम देखते हैं कि इन्होंने आत्म-साक्षात्कार के स्वरूप को समझने का प्रयास किया। आत्म-साक्षात्कार का प्रश्न परम साध्य, परम ध्येय एवं परम मूल्य का प्रश्न है। प्राचीन यूनानी विचारकों से लेकर विश्व के अर्वाचीन विचारक भी इसी गुत्थी में उलझे हुए हैं कि परम शुभ क्या है? आत्म-पूर्णता के क्या अर्थ हैं? मूल्यवाद के सिद्धान्त की विशिष्टता यह है कि इसने ध्येय की धारणा को व्यक्त करने के लिए अनायास ही एक ऐसे शब्द (मूल्य) का प्रयोग कर दिया है जिसने कि नीति के क्षेत्र में वस्तुवाद और आदर्शवाद के पारस्परिक विरोध की प्रवलता को क्षीण कर दिया है। मूल्यवादी विचारकों के लिए यह कहना कि वस्तुवादियों[1] ने मूल्य की पूर्ण रूप से वस्तुवादी व्याख्या और आदर्श-

---

१. G. E. Moore, Franz Brentano, Alexius von Meinong, Edmund Husserl, Necoli Hartmann, Hastings Rashdall, A. E. Ewing, John Laird आदि।

वादियों ने केवल आदर्शवादी[1] व्याख्या की है, भ्रान्तिपूर्ण होगा; क्योंकि दोनों ने आवश्यकता प्रतीत होने पर एक-दूसरे से सहायता ली है। यही कारण है कि मूल्यवाद एक व्यापक 'वाद' के रूप में हमारे सम्मुख आता है।

१. W. M. Urban, A. Campbell Garnett, W. R. Sorley, A. E. Taylor, Harold Osborne, G. H. Howison, A. C. Knudson, Edgar Sheffield Brightman आदि।



तृतीय भाग

भारतीय नीतिशास्त्र

२०

चार्वाक-दर्शन

चार्वाक दर्शन एवं जड़वाद—भारतीय दर्शन की जड़वादी विचारधारा चार्वाक-दर्शन के नाम से ज्ञात है। दर्शन के जन्म-काल से ही जड़वाद किसी-न-किसी रूप में रहा है, इसमें सन्देह नहीं है। जड़वादियों के अनुसार जड़ का ही एक-मात्र अस्तित्व है। विश्व की विभिन्न वस्तुओं को, यहाँ तक कि मन, आत्मा, चैतन्य आदि को जड़ के ही आधार पर समझा सकते हैं। सृष्टिकर्ता, स्वर्ग, नरक, धर्म, आत्मा की अमरता आदि की कल्पना मिथ्या है। जड़ एवं प्रकृति ही सृष्टि के मूल में है।

उत्पत्ति काल तथा ग्रन्थ—चार्वाक-दर्शन अपनी अप्रस्फुटित तथा अविकसित अवस्था में ऋग्वेद में तथा पूर्व-बौद्ध-युग में वर्तमान रहा है। वैसे विद्रोही सिद्धान्त के रूप में इसका उत्पत्ति-काल ६०० ई० पू० माना गया है। यह वह युग है जिसमें कि बौद्ध और जैन दर्शन का प्रतिपादन हुआ था। चार्वाक-दर्शन पर कोई भी स्वतन्त्र पुस्तक प्राप्त नहीं है। यह कहा जाता है कि वृहस्पति के सूत्र जड़वाद पर शास्त्रीय प्रमाण हैं जो कि नष्ट हो गये हैं। चार्वाक-दर्शन पर एक भी स्वतन्त्र पुस्तक न होने पर भी हम यह नहीं मान सकते कि इस विचार-धारा या सिद्धान्त का अस्तित्व नहीं था। इसके अस्तित्व का सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि इसका उल्लेख वेदों, पुराणों, बौद्धग्रन्थों तथा दार्शनिक ग्रन्थों में मिलता है।

दो वर्ग—चार्वाकों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं : धूर्त तथा सुसंस्कृत। धूर्त चार्वाक वे चार्वाक हैं जिन्होंने कि निकृष्ट इन्द्रिय सुख को वांछनीय बतलाया है। वास्तव में, आलोचकों ने इन अश्लील और पशु-प्रवृत्ति वाले चार्वाकों की ही

आलोचना की है। सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत चार्वाकों ने उत्कृष्ट सुख को महत्व दिया है। उन्होंने राजकीय व्यवस्था, सामाजिक नियमों और दण्डनीति को स्वीकार किया है। वे असामाजिक, स्वार्थपूर्ण वासनाओं की तृप्ति में विश्वास नहीं करते हैं।

सुशिक्षित चार्वाकों में कामसूत्र के रचयिता वात्स्यायन ने प्रसिद्धि प्राप्त की है। इन्द्रियों की तृप्ति एवं पञ्चेन्द्रियों की तृप्ति को सुख एवं काम के मूल में मानकर उन्होंने ब्रह्मचर्य, धर्म तथा नागरिक वृत्ति को साधन रूप में आवश्यक माना। ईश्वर के अस्तित्व और परलोक में विश्वास रखते हुए सुख को परम लक्ष्य माना। वात्स्यायन का कहना है कि आचरण के उन नियमों को स्वीकार करना चाहिए जो सुख-प्राप्ति के लिए उपयोगी हैं। सुख को अन्तिम लक्ष्य मानते हुए उन्होंने शिष्ट सुख को अपनाने के लिए कहा। पाशविक सुख की आत्मघातक प्रवृत्ति से वे परिचित थे। यही कारण है कि उन्होंने तीन पुरुषार्थ माने हैं—धर्म, अर्थ और काम। जीवन में इन तीनों का यथोचित सन्तुलन आवश्यक है यद्यपि धर्म और अर्थ का महत्त्व गौण है। काम सर्वोपरि तथा प्रमुख ध्येय है और शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक है। मनुष्य को चाहिए कि वह पशुओं की भाँति सहज रूप से काम-तृप्ति को न अपनाये। उसे कामतृप्ति के साधनों, उसकी विभिन्न अवस्थाओं एवं जीवन के व्यापक और व्यवस्थित अध्ययन द्वारा उस ज्ञान को प्राप्त कर लेना चाहिए जो कि परम लक्ष्य—काम की प्राप्ति में सहायक है। स्थूल स्वार्थ-सुख के बदले वात्स्यायन ने शिष्ट सुख को उचित बतलाया। उन्होंने यह समझाया कि किशोरावस्था में ब्रह्मचर्य का पालन तथा वेदों का अध्ययन आवश्यक है। चौंसठ ललित-कलाओं के अभ्यास द्वारा इन्द्रियों को शिक्षित, संयमित और सुसंस्कृत भी बनाना चाहिये। इस भाँति वात्स्यायन ने वर्तमान एवं तत्कालीन सुख के बदले सम्पूर्ण जीवन के सुख की ओर ध्यान आकर्षित किया।

शुद्ध बुद्धिमय जीवन अथवा निःस्पृहतावाद की प्रतिक्रिया—हम घोर पारलौकिक प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया के रूप में इस दर्शन को समझ सकते हैं। विचार के क्षेत्र में यह सदैव ही देखते हैं कि जब कोई विशिष्ट विचारधारा अपने आवेश में एकांगी हो जाती है तो मानो उसे सुधारने और स्वस्थ

रूप देने के लिए उतनी ही शक्तिशाली दूसरी विचारधारा जन्म ले लेती है। यूनानी दर्शन में सुखवाद और बुद्धिपरतावाद एक-दूसरे के विरोधी होने पर भी परस्पर पूरक हैं। भारतीय जीवन का अध्ययन बतलाता है कि उपनिषदों का निर्गुण ब्रह्म जनसाधारण के लिए अनाकर्षक और नीरस था। शुद्ध बुद्धिमय जीवन एवं कोरे ज्ञान और अमूर्त सत्य की प्राप्ति के लिए जीवन की उपेक्षा करना जनसामान्य के लिए असह्य हो गया। अत: लुके-छिपे रूप में उन्होंने भोगवाद को महत्त्व देना प्रारम्भ कर दिया। चार्वाक विचारकों का सुसंघटित सम्प्रदाय रहा हो ऐसा नहीं दीखता है। चार्वाक-दर्शन अपने सारांश में यह है : लोकायत एकमात्र शास्त्र है; उसके अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। चार भूत हैं : पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। धन और भोग मानव-अस्तित्व के विषय हैं। जड़ द्रव्य चिन्तन कर सकता है। परलोक की धारणा मिथ्या है। मृत्यु सबका अन्त है।

धर्म की कटु आलोचना—चार्वाकों ने वैदिक आदेश और पुरोहित वर्ग के विरुद्ध अपने मत का प्रतिपादन किया। परात्परवाद, अतीन्द्रियवाद तथा चमत्कारवाद की धारणाओं के साथ ही उन सभी धारणाओं का खण्डन किया जो कि दर्शन, धर्म तथा नैतिकता के मूल आधार हैं। प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानकर उन्होंने ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म, स्वर्ग की धारणा का उपहास किया और कहा कि आध्यात्मिक जीवन एवं चेतना के उच्च स्तर में रहने के बदले भौतिक जगत् के भोग-विलास के स्तर पर रहना चाहिये। विशुद्ध सुख-वाद का प्रतिपादन करके उन्होंने वैयक्तिक सुख को ही जीवन का ध्येय बतलाया। धार्मिक और नैतिक विश्वासों से अपने को मुक्त करके उन्होंने पुरोहितों के एकाधिकार को छीन लिया। धर्म से अपने को मुक्त करने के प्रयास में वे जड़वाद के एकांगी शिखर पर पहुँच गये। धर्मशिक्षकों, वैदिक पुस्तकों तथा यज्ञ एवं शास्त्रविधियों के वे पूर्ण विरोधी थे। उनका कहना था कि वैदिक पुस्तकों में पुनरुक्ति, आत्म-विरोध और असत्य मिलता है। यदि हम स्वर्ग और नरक की धाराओं को समझने का प्रयास करें तो मालूम होगा कि वे धारणाएँ मिथ्या हैं। परलोक का विचार छलपूर्ण है। इस जगत् के अतिरिक्त

अन्य कोई जगत् नहीं है। जगत् के मूल में ईश्वर की सत्ता को मानना अनावश्यक है। जड़भूतों के संयोग से जगत् की उत्पत्ति हुई है। पाखण्डियों और धूर्तों ने अपने स्वार्थ के कारण इन धारणाओं को जन्म दिया और इनका प्रचार किया। धर्म एक मूर्खतापूर्ण भ्रान्ति है, यह मानसिक रोग है। पण्डित और पुरोहित वर्ग ने धन की लिप्सा एवं व्यावसायिक लाभ को सम्मुख रखकर आचरण के नियमों को बनाया है। उन्होंने अपने जीविकोपार्जन के लिए नरक का भय तथा मुक्ति और स्वर्ग का प्रलोभन दिया है। अथवा चार्वाक कहते हैं: यदि बलि का पशु सीधे स्वर्ग पहुँच जाता है तो यजमान अपने ही पिता की बलि क्यों नहीं दे देता ? जब तक जीवन है मनुष्य को सुखपूर्वक रहना चाहिये। ऋण लेकर भी उसे घी पीना चाहिये। जब एक बार देह भस्म हो जाती है तो वह फिर कैसे आ सकती है ? अतः ये जो अनेक धार्मिक विधियाँ दीखती हैं उन्हें ब्राह्मणों ने अपनी जीविका-उपार्जन के लिए ही चलाया है। वेद के प्रणेता भांड, धूर्त और पिशाच थे। धूर्त पण्डितों ने अलौकिक सत्ता, ईश्वर, आत्मा तथा स्वर्ग का प्रलोभन देकर क्षीण बुद्धि वालों को बेवकूफ बनाया।

जड़वादी दर्शन : प्रत्यक्ष पर आधारित—निश्चित अथवा यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं और चार्वाक यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान ही प्रमा है। ज्ञान को प्रत्यक्ष तक सीमित करके उन्होंने शब्द (लौकिक और वैदिक), अनुमान, कार्य-कारण सम्बन्ध अथवा किसी अन्य प्रकार की व्याप्ति को अस्वीकार कर दिया। ज्ञान विशिष्ट संवेदनों तक सीमित है। वस्तुओं के अनिवार्य सम्बन्ध की स्थापना नहीं कर सकते। स्वर्ग, नरक, भगवान्, परलोक, आत्मा की अमरता आदि, किसी के बारे में कुछ नहीं कह सकते। अतीत गत हो चुका है और भावी अनागत तथा अज्ञेय है। प्रत्यक्ष के आधार पर वर्तमान ही एकमात्र सत्य है। हम यह नहीं जानते कि मृत्यु के बाद शरीर कहाँ जाता है अथवा यह शरीर दुबारा मिलेगा या नहीं। अनुभव बतलाता है कि मृत्यु सबका अन्त है: जो प्रत्यक्ष है वही सत्य है, और जो अप्रत्यक्ष है वह अस्तित्वरहित है।

जड़ ही एकमात्र सत्य है। इसका ज्ञान इन्द्रियों से प्राप्त होता है। ऐसे

वस्तुवाद के साथ चार्वाकों ने अनेकतावाद को भी अपनाया है। उनके अनुसार चार स्थूल भूत हैं : पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। वे आकाश और इन भूतों के सूक्ष्म रूपों को स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनका इन्द्रियजन्य ज्ञान असम्भव है। उनके अनुसार स्थूल भूतों के आधार पर विश्व की प्रत्येक वस्तु को समझा सकते हैं। भूतों के स्वतःसम्मिश्रण एवं अन्तर्निहित स्वभाव के आधार पर प्रोटोज़ुआ से लेकर दार्शनिक के विकास तक को समझा सकते हैं।

आत्मा के अस्तित्व को उसके प्रचलित अर्थ में स्वीकार नहीं कर सकते हैं। आत्मा को परम सत्य नहीं मान सकते हैं क्योंकि इसका इन्द्रियजन्य ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। आन्तरिक प्रत्यक्ष द्वारा चैतन्य को समझा सकते हैं। चैतन्य है किन्तु वह कोई अभौतिक तत्त्व या आत्मा का गुण नहीं है। जिस भाँति विभिन्न तत्त्वों के मेल से मदिरा बनती है और उसमें मादकता का गुण आ जाता है उसी भाँति चार भूतों एवं शरीर के तत्त्वों के मेल से चैतन्य बनता है। देह के विभिन्न भूतों के मिश्रण से उत्पन्न होने के कारण यह देह की विशेषता या गुण है। इसे अभौतिक तत्त्व या आत्मा का गुण नहीं मान सकते। चैतन्य परम सत्य या शाश्वत सत्य नहीं है और न इसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही है। यह सदैव देह से युक्त रहता है। इसे देह से भिन्न किसी ने नहीं देखा। यह एक प्राकृतिक घटना मात्र है। चैतन्य को शरीर का गुण कहकर अथवा चेतन को ही आत्मा कहकर जड़वादियों ने संस्कार, प्रारब्ध, भाग्यवाद, कर्मवाद आदि को अपने दर्शन में स्थान नहीं दिया। भावी जीवन, पुनर्जीवन, स्वर्ग, नरक आदि का भय या प्रलोभन अर्थशून्य हो जाता है क्योंकि आत्मा की अमरता मिथ्या है और मृत्यु जीवन का अन्त है।

चार्वाक नैतिकता—आत्मा, ईश्वर, स्वर्ग, कर्मभोग की धारणाओं का निराकरण करके चार्वाक ने त्याग, अपरिग्रह, संन्यास, सार्वभौम परोपकारिता की उपेक्षा की और कहा है कि वैयक्तिक सुख ही एकमात्र सत्य है। जड़वादी दृष्टिकोण से उन्होंने जीवन के मूल्य को समझने का प्रयास किया और सुख-भोग को ही परम और प्रत्यक्ष ध्येय माना। चार्वाक का जड़वादी दृष्टिकोण उसे भोग-विलास की ओर ले जाता है। जीवन के मूल में स्त्री और पुरुष का

मिलन है। इन्द्रियों का सम्भोग या विलास ही जीवन है। जीवन सुखभोग के लिए है। उसकी उपेक्षा करना हास्यास्पद है। यह पेड़ की उस शाखा को काटना है जिस पर कि व्यक्ति स्वयं बैठा है।

परम ध्येय : काम—भारतीय दार्शनिकों ने चार पुरुषार्थ (मानवोचित गुण) माने हैं : अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। किन्तु चार्वाक-दर्शन ने अर्थ और काम को ही स्वीकार किया है। धर्म और अधर्म एवं पाप और पुण्य का भेद शास्त्रसम्मत है और शास्त्र को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। शरीर का सुख-दुःख-से अविच्छेद्य सम्बन्ध है तथा सुख-दुःख सापेक्ष हैं। अतः मोक्ष एवं दुःख-विनाश मृत्यु का सूचक है। मृत्यु की कामना करना विवेक-सम्मत नहीं है। उपर्युक्त तर्क के आधार पर चार्वाक यह समझाते हैं कि धर्म और मोक्ष को हम जीवन का लक्ष्य नहीं मान सकते। अर्थ साधन मात्र है और इसलिए अभीप्सित है।

निःस्पृहता अवाञ्छनीय—सभी भारतीय दार्शनिकों की भाँति चार्वाक यह मानते हैं कि जीवन में दुःख है। दुःख को स्वीकार करने पर भी चार्वाक-दार्शनिकों का अन्य दार्शनिकों से मतभेद है। अन्य दार्शनिकों का यह कहना है कि दुःख की पूर्ण निवृत्ति या विनाश सम्भव है और दुःख-विनाश की यह अवस्था ही मुक्ति है। कुछ यह मानते हैं कि मुक्ति मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होती है और कुछ इसी जीवन में मुक्ति की प्राप्ति सम्भव बतलाते हैं। चार्वाक मुक्ति या अपवर्ग के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते हैं। यदि मुक्ति का अर्थ आत्मा का देह के बन्धन से मुक्त होना है तो यह सम्भव नहीं है। आत्मा और देह अभिन्न हैं, इसलिए आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतः आत्मा का देह से वियोग मृत्यु का सूचक है, न कि अपवर्ग का। यदि मुक्ति का अर्थ दुःख का पूर्ण विनाश है तो यह भी असम्भव है। सुख-दुःख देह की विशेषताएँ हैं और इनका देह से अभिन्न सम्बन्ध है। इस जीवन में दुःख का पूर्ण विनाश अचिन्तनीय है। कुछ विचारकों ने सुख-दुःख के सापेक्ष सम्बन्ध को समझाते हुए दुःख से छुटकारा पाने के लिए इच्छाओं और स्वाभाविक प्रवृत्तियों के नियन्त्रण और हनन को महत्त्व दिया है और सुख-दुःख के प्रति

तटस्थता या निःस्पृहता को वांछनीय बतलाया है। किन्तु दुःख के भय से सुख से विरक्त होना उचित नहीं है। मछली में काँटे होते हैं और धान-गेहूँ में छिलका होता है किन्तु कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति उनको खाना नहीं छोड़ता। इस प्रकार चार्वाक अनेक उदाहरण देकर जीवन के सुखों के प्रति मनुष्य को आकृष्ट करते हैं। हमें वर्तमान के निश्चित सुख का भविष्य के संदिग्ध सुख की आशा में त्याग नहीं करना चाहिये। 'मोर को पाने की आशा से हाथों में आये हुए कबूतर को नहीं छोड़ना चाहिये।' भविष्य अनिश्चित, संदिग्ध एवं अज्ञेय है। वर्तमान ही एकमात्र सत्य है। हमें वर्तमान जीवन में उसी कर्म को करना चाहिए जो कि अधिक-से-अधिक सुख और कम-से-कम दुःख दे। यदि जीवन में दुःख सहना पड़ता है तो उससे डरकर इच्छाओं का विनाश नहीं करना चाहिये बल्कि पूर्ण लगन से सुखभोग करना चाहिये। काम ही एकमात्र नैतिक ध्येय है। इच्छाओं से ऊपर उठने के बदले आत्म-विभोर होकर कामुकता का आलिंगन करना चाहिये।

आलोचना

भोगवादी—चार्वाक भोगवादी है। इन्द्रिय-सम्भोग को महत्त्व देने के लिए उन्होंने सद्गुण को भ्रान्ति कहा और भोग को एकमात्र सत्य कहा। जो कुछ भी शुभ, श्रेष्ठ, पवित्र और दयापूर्ण है उस पर अविश्वास प्रकट किया। भोग-विलास या काम का मुक्त समर्थन किया। जनसामान्य जिन गुणों का अर्जन और पालन करता है वे प्रचलन और उसकी मन्द सांसारिक बुद्धि के सूचक हैं। ऐसा इन्द्रिय-सम्भोग वैयक्तिक सुख का प्रतिपादक है। निजी इन्द्रिय-सुख के लिए जो कर्म और नियम उपयोगी हैं उन्हें ही बुद्धिमान् व्यक्ति अपनाता है। इस आधार पर चार्वाक ने त्याग और परहित की धारणाओं को अवाञ्छनीय कहा। ऐसा स्थूल उपयोगितावादी दृष्टिकोण नैतिक और आध्यात्मिक मान्यताओं, योग और साधना तथा सदाचार और संयम का विरोधी है। कुछ देर के लिए यह कल्पना करना कठिन हो जाता है कि कभी भी मानवोचित स्तर एवं बौद्धिक धरातल पर एक ऐसे सम्प्रदाय का अस्तित्व रहा जिसने कि

स्वेच्छा से सुख के लालच में पशु-जीवन को अपना लिया। यदि यह मान भी लें कि मृत्यु के बाद कुछ नहीं रहता तो भी क्या यह कहना मानव-गौरव के अनुकूल होगा कि इन्द्रिय-सम्भोग ही एकमात्र सत्य है। आत्म-प्रबुद्ध प्राणी उस धरातल पर सदैव नहीं रह सकता है जिससे कि वह ऊपर उठ आया है। आत्म-त्याग और आत्म-संयम की पुकार उसकी उस आत्मा की पुकार है जो कि अपनी ही पशु-प्रवृत्तियों से ऊब गयी है। इसमें भी सन्देह नहीं है कि भोगवादी विचारधारा कठोर वैराग्यवाद की पूरक है किन्तु आत्मरति का ऐसा उच्छृङ्खल, मुक्त और वीभत्स गान मनुष्य के लिए असह्य हो जाता है। आलोचकों ने अपनी असहनशीलता और घृणा को व्यक्त करने के लिए ही चार्वाक को सन्देहवादी, संशयवादी, नास्तिक-शिरोमणि, धर्मनिन्दक और भोगवादी कहा है।

अनैतिक—यह भी विवादपूर्ण है कि आलोचकों ने चार्वाक-दर्शन को जितना निम्न और हेय दिखलाया है क्या वह वास्तव में वैसा ही था। यह सम्भव है कि आलोचना के आवेश में उन्होंने अतिशयोक्ति को अपना लिया हो। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि चार्वाक-दर्शन जिस कटु और तीव्र आलोचना का विषय बन गया है उसका कारण उसी की आन्तरिक दुर्बलता है। अपने व्यावहारिक पक्ष में उसने सामाजिक व्यवस्था और नैतिक दायित्व को समूल नष्ट करना चाहा। यह न तो उस भगवान् को मानता है जो विश्व में सदाचार की स्थापना के लिए जन्म लेता है या नैतिक व्यवस्था का संचालक है और न उस आन्तरिक बोध या ध्वनि को जो सदाचार के मार्ग पर चलाती है। यह सदाचार के मूल आधारों और मान्यताओं—पुनर्जन्म, आत्मा की अमरता, ईश्वर का अस्तित्व, कर्मवाद—को तिरस्कृत करके उन्हें असत्य कहता है। श्रेष्ठ नैतिक जीवन से मनुष्य को स्खलित करके उसे इन्द्रिय-सम्भोग की ओर ले जाना वह अपना श्लाघनीय ध्येय मानता है। इन्द्रिय-सम्भोगवाद परहित की छाया से भी दूर रहना चाहता है। उस सामान्य शुभ की स्थापना भी नहीं करना चाहता जिसके अधीन मनुष्य का स्वार्थ है। इसके अनुसार यदि सामूहिक सुख है तो वह व्यक्तियों के सुख द्वारा ही व्यक्त होता है।

उपनिषदों के कष्ट-सहिष्णुता, त्याग और कठोर वैराग्य के बदले चार्वाक ने अनियन्त्रित प्राणशक्ति का सिद्धान्त दिया। सब प्रकार के आदेशों के प्रति उन्होंने आत्म-दृढ़ता के साथ असम्मान और प्रगल्भता व्यक्त की है। सार्वभौम परोपकारिता, प्रेम और आत्म-संयम के लिए जीवन में स्थान नहीं है। मनुष्य ने काम-प्रवृत्ति को प्रकृति से दाय-रूप में प्राप्त किया है। इसकी तृप्ति ही परम ध्येय है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चार्वाक ने ढीठ हठधर्मी के साथ मानव-जगत् को उसकी समस्त मान्यताओं से दूर कर दिया। ईश्वर पर विश्वास और परलोक की धारणा को दुर्बलता, कायरता, मिथ्याचार और धूर्तता का चिह्न कहा। मनुष्य की नैतिक प्रकृति को अनैतिक प्रकृति का सन्देश दिया।

अन्तर्निहित सत्य—दुर्बलताओं और सीमाओं से घिरे होने पर भी चार्वाक-दर्शन सत्यांश से युक्त है। वैराग्यवाद को श्मशान की निद्रा से जगाने के लिए इन्द्रियपरक आत्मा की तीव्र और लालसा-भरी पुकार आवश्यक है। उपनिषदों के त्याग, वैराग्य और संन्यास के गीत आत्मा के मूर्त व्यक्तित्व से दूर होते जा रहे थे। एक ऐसी धारणा की आवश्यकता थी जो कि भावना के समानाधिकार को सम्मुख रख सके। बुद्धि के एकाधिपत्य के समान्तर में भावना के एकाधिपत्य को खड़ा करके यह बतला सके कि किसी के भी अधिकार को छीन नहीं सकते हैं।

चार्वाक-विचारधारा भारतीय दर्शन के व्यापक दृष्टिकोण और उदार चेतना को समझाती है। वह बतलाती है कि भारतीय दर्शन संन्यासवाद तक ही सीमित नहीं है, उसमें सभी प्रकार के विचार मिलते हैं। निम्न से निम्न और उच्च-से-उच्च विचार व्यक्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र है। चार्वाक-दर्शन मनुष्य की स्वतन्त्रता की चेतना के जागरण का सूचक है। संकीर्ण धर्म, जादू-टोना, परम्परा, चमत्कारवाद, रूढ़िवाद तथा वाह्यादेशों का खण्डन करके इस दर्शन ने स्वतन्त्र विचार और विद्रोह की उस लहर को जन्म दिया जो कि आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक है। इसने यह समझाया कि उसी सत्य को स्वीकार करना चाहिये जिसका अनुमोदन बुद्धि करती है। नि:सन्देह चार्वाक-दर्शन के मूल में सन्देहवाद और अज्ञेयवाद मिलता है किन्तु

यह प्रगति के शिखर का अनिवार्य सोपान है। जब एक विचारधारा रूढ़िग्रस्त और एकाङ्गी हो जाती है तो उसका विकास रुक जाता है। विकास की प्रगति के लिए सन्देहवाद एवं संशयवाद अत्यन्त आवश्यक है। चार्वाक ने भविष्य को अज्ञेय कहकर और प्रत्यक्ष को ही सत्य का मानदण्ड मानकर उन असंख्य समस्याओं और कठिनाइयों को उपस्थित कर दिया जिनको समझने और सुलझाने में विरोधी दर्शनों का दृष्टिकोण अधिक व्यापक हो गया। चार्वाक-दर्शन की अपूर्णता, सांसारिकता और घोर इन्द्रियता ने अन्य दार्शनिकों को प्रेरित किया कि वे अपने दर्शन का नीर-क्षीर विवेचन करके तथा पुष्ट तार्किक प्रमाण देकर उसकी पूर्णता स्थापित करें। विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययन यह बतलाता है कि अपने सिद्धान्त की प्रामाणिकता को स्थापित करने के लिए भारतीय दार्शनिकों ने चार्वाक-दर्शन को असत्य सिद्ध करना अपना प्रमुख लक्ष्य माना।

अमान्य और अवाञ्छनीय दर्शन—उपर्युक्त सत्यांश होने पप भी चार्वाक-दर्शन को मान्य और वाञ्छनीय सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते हैं। चार्वाक ने समझाया कि नैतिक नियम प्रचलन मात्र है। प्रचलनों का अन्धानुकरण करने के आवेश में हमें मुख्य ध्येय को नहीं भूलना चाहिये। जब हम प्रश्न करते हैं कि बौद्धिक प्राणी के लिए वह ध्येय क्या है जिसका निरन्तर स्मरण आवश्यक है तो हमें उत्तर मिलता है कि जीवन का अभीप्सित ध्येय काम है। व्रत, संयम, नियम, त्याग, सार्वभौम परोपकारिता आदि छूंछी मान्यताएँ हैं। मनुष्य स्वतन्त्र है। वहइन्द्रिय-सम्भोग का अधिकारी है। अतः चार्वाक आत्म-त्याग के बदले आत्म-रति की धारणा देते हैं। जिस वैयक्तिक स्वतन्त्रता और काम-वासना को चार्वाक ने महत्त्व दिया है वह मनोवैज्ञानिक, जैव, नैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से घातक है। जीवन के तथ्य बतलाते हैं कि ऐसा व्यक्ति सामाजिक हित की हत्या करने के साथ ही अपनी हत्या भी करता है। वह आत्मघाती है क्योंकि नैतिकता के बदले पशुत्व को स्वीकार करता है।

२१
गीता

रचनाकाल और रचयिता—गीता महाभारत के भीष्मपर्व का एक अंश है। इसके रचनाकाल के बारे में विद्वानों में मतभेद है। इसका काल १०० ई० पू० से लेकर ५०० ई० पू० के बीच माना जाता है। इसके रचयिता के बारे में भी हमारा ज्ञान सन्दिग्ध है। धार्मिक आस्था व्यास को इसका रचयिता मानती है जो कि महाभारत, भागवत आदि अनेक ग्रन्थों के रचयिता माने जाते हैं।

गीता की समन्वयात्मक दृष्टि—गीता के दर्शन को समझाने के लिए यह कहा जाता है कि गीता उपनिषदों का सार है। कृष्ण दुहने वाले हैं; अर्जुन बछड़ा है; उपनिषद् गायें हैं। यदि ज्ञानी व्यक्ति चाहे तो अमृत सदृश गीता के उत्तम दूध का पान कर सकता है। यह उपमा सत्यांश युक्त है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि गीता केवल उपनिषद् है। गीता की दृष्टि समन्वयात्मक है। उसका क्षेत्र सर्वग्राही है और सन्देश व्यापक है। उसने विभिन्न सिद्धान्तों और प्रचलित मान्यताओं के सार को ग्रहण करके उन्हें व्यवस्थित और आकर्षक रूप दिया है। वेद, उपनिषद्, श्रीमद्भागवत् एवं वैष्णव धर्म, सांख्य, योग, एकवाद आदि के बीच उसने संगति स्थापित की और साथ ही प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का निष्काम कर्म के रूप में समन्वय किया। अतः यह कहना भ्रान्तिपूर्ण है कि गीता ने किसी सिद्धान्त-विशेष का तार्किक और दार्शनिक रूप से प्रतिपादन किया।

नैतिक मूल्य—गीता का ध्येय किसी ऐसे गुह्य ज्ञान को देना नहीं है जिसे कि इने-गिने लोग ही समझ सकते हैं बल्कि एक ऐसे सरल और सुगम सन्देश को देना है जो कि मानवता के लिए हितकर है। गीता यह भली-भाँति समझती

है कि अधिकांश व्यक्ति अज्ञानवश संसार में दुःख भोगते हैं। अपने ध्येय और कर्म-पथ को समझने में असमर्थ होने के कारण वे भटकते रहते हैं। गीता ने एक ऐसे विश्वव्यापी, सार्वभौम और शाश्वत सन्देश को दिया है जो देश, काल, परिस्थिति तथा राष्ट्र, जाति, वर्ण के भेद से अछूता है। वह सभी नैतिक जिज्ञासुओं को उस आन्तरिक मार्ग का ज्ञान देती है जो भगवत्-प्राप्ति में सहायक है। गीता ने कर्म का सन्देश दिया और यह सन्देश जीवन के दर्शन पर आधारित है। तात्त्विक सत्य का ज्ञान ही कर्म की ओर ले जाता है। गीता ने ब्रह्म विद्या और योग-शास्त्र दोनों को समान माना है। जीवन का तात्त्विक रूप हमें कर्म का आदेश देता है। कर्म एवं कर्तव्य द्वारा हम जीवन की समस्याओं को सुलझाकर उनके स्वामी वन जाते हैं। गीता ने नैतिक समस्या—कर्तव्य—को कृष्ण और अर्जुन के वार्तालाप द्वारा समझाया है।

कृष्ण तथा अर्जुन का व्यक्तित्व—महाभारत कृष्ण के ऐतिहासिक व्यक्तित्व एवं वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करता है और साथ ही उनकी अवतार के रूप में पूजा करता है। किन्तु इतिहास कृष्ण के वास्तविक अस्तित्व को सिद्ध करने में अभी तक असमर्थ है। ऐतिहासिक दृष्टि से कृष्ण पौराणिक नायक हैं। महाभारत के अनुसार अर्जुन कुन्ती के पुत्र हैं। वे अपने अधिकार, धर्म और सत्य की रक्षा के लिए युद्ध-क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। गीता के अनुसार अर्जुन वह व्यक्ति है जो अज्ञान और हृदय की दुर्बलता के कारण मानसिक संघर्ष की स्थिति में पड़ा है तथा कर्तव्य एवं सदाचार के मार्ग को निर्धारित करने में असमर्थ है।

नैतिक समस्या और उसका समाधान—युद्ध का रूपक लेकर गीताकार ने कर्तव्याकर्तव्य के प्रश्न को उठाया है। यह जीवन धर्म-क्षेत्र है इसलिए सदाचार का मार्ग ही एकमात्र वाञ्छनीय मार्ग है। सदाचार का क्या अर्थ है ? जीवन का ध्येय क्या है ? क्या युद्ध उचित है ? क्या अपनों का हनन करके विजयी होना न्यायसंगत है ?

अर्जुन का मन अस्थिर और दुःखी है। ममत्व, भावावेश और क्लीवता ने उसके विवेक को कुण्ठित कर दिया है। क्षात्र धर्म और अग्रजों का आदेश उसे युद्ध करने के लिए प्रेरित करता है किन्तु उसका अज्ञान उसे दुविधा में डाल

देता है। वह अनेक तर्क-वितर्क करता है। यदि युद्ध में पराजय प्राप्त हुई तब क्या होगा ? यदि स्वजनों का हनन करके विजय भी मिली तो उसमें ही क्या सुख होगा ? ऐसे तर्क उसे कर्तव्य-विमूढ़ बना देते हैं। वह बारम्बार इस पर विचार करता है कि क्या करना उचित है और क्या करना अनुचित। अन्त में वह श्रीकृष्ण से प्रश्न करता है कि मैं क्या करूँ ? श्रीकृष्ण उसे समझाते हैं कि कर्तव्य का मार्ग स्वार्थ, ममत्व और भावना के मार्ग से भिन्न और श्रेष्ठ है। अपने ऐसे कथन के प्रतिपादन के लिए वे अनेक युक्तियाँ देते हैं। उदाहरणार्थ, वे कहते हैं कि सर्वत्र एक ही सत्य की अभिव्यक्ति है। व्यक्ति और विश्व एक ही सत्य के अंश हैं। अतः सर्वभूतों में एक ही सत्य व्याप्त है। इसलिए सत्य के लिए युद्ध करने में विमुख नहीं होना चाहिये। भगवत्-प्राप्ति के लिए सदाचार अनिवार्य है। यदि युद्ध एवं ध्वंस सदाचार के लिए आवश्यक है तो उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिये। परिणाम की चिन्ता नहीं करनी चाहिये और यदि अर्जुन यह सोचता है कि वह युद्ध द्वारा आत्मजों का हनन करेगा तो वह भ्रम में है। मनुष्य का आन्तरिक रूप नित्य सत्य है। आत्मा अमर है, 'जल उसे भिगो नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती और अस्त्र छेद नहीं सकते।' इसलिए यह सोचना व्यर्थ है कि हम किसी का हनन करते हैं अथवा किसी का हनन हो सकता है। स्वधर्म को छोड़ना अनुचित है। अर्जुन क्षत्रिय है। क्षत्रिय का धर्म राज्य तथा समाज के कल्याण के लिए युद्ध करना है। यदि वह युद्ध-पराङ्मुख होगा तो उसके परिवार तथा समाज के लोग उसे कायर समझकर उसका अपमान करेंगे।

कर्म, अकर्म का प्रश्न—गीता यह समझाने का प्रयास करती है कि अपनी चेतना के उच्चतर स्तर में रहकर भी व्यक्ति कर्म कर सकता है। इसीलिए उसने सदाचार के प्रश्न को उठाकर कर्तव्य का सन्देश दिया है। कर्तव्य के सन्देश के मूल में जगत् की सत्यता की धारणा है। गीता अकर्म एवं कर्मत्याग या कर्म-संन्यास को स्वीकार नहीं करती है। वह आत्मशुद्धि के द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति बतलाती है और आध्यात्मिक ज्ञान उचित कर्म की प्रेरणा देता है। अतः गीता ने ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र को एक ही माना है। गीता कर्मयोग की स्थापना करती है।

कर्म का सन्देश देने के लिए गीताकार ने कृष्ण के मुख से यह कहलाया है कि 'जब-जब धर्म का ह्रास होता और अधर्म का विकास होता है तब-तब मैं अवतार लेता हूँ।' जब स्वयं कृष्ण, जो कि पूर्णकाम हैं, सदाचार की स्थापना के लिए कर्म करते हैं तो मनुष्य अकर्म को कैसे अपना सकता है ? यह अवश्य है कि मनुष्य को कर्म सदैव धर्म या सदाचार के लिए करने चाहिये, न कि स्वार्थ-सिद्धि अथवा स्वर्ग और धन की कामना से प्रेरित होकर।

कर्मयोग और कर्मसंन्यास—गीता में योग की अनेक व्याख्याएँ मिलती हैं, जैसे 'समत्वं योग उच्यते' या 'योगः कर्मसु कौशलम्' इत्यादि। जब कर्म के सन्दर्भ में योग का अर्थ समझने का प्रयास करते हैं तो योग से गीता का अभिप्राय 'युक्त' करने से है। अपने को सामाजिक यज्ञ-कर्म अथवा कर्तव्य से युक्त करना ही कर्मयोग है। कर्मयोग के द्वारा गीता ने उन सभी सामाजिक कर्तव्यों को मान्यता दी है जिन्हें कि सब व्यवस्थित समाज स्वीकार करते हैं। जगत् और जीव एवं अनेकता को सत्य मानकर गीता ने कर्मयोग को महत्त्व दिया है। गीता के अनुसार जीव, आत्मा और देह का योग है और कर्म देह एवं प्रकृति का गुण है। अतः जब तक देह है, कर्म भी है। कर्म से मुक्ति असम्भव है। कर्मयोग न्याय-संगत और उचित है। कर्म से संन्यास लेना भ्रान्तिपूर्ण है। कर्म का त्याग करने के बदले हमें अपने को कर्ता समझने की भावना का तथा कर्मफल का त्याग करना चाहिये। कर्म देह का गुण है।

शरीर मात्र ही कर्म करता है। व्यक्ति को निःसङ्ग अथवा अनासक्त रहकर अपने को अकर्ता जानना चाहिए। भगवान् वास्तविक कर्ता है। वह सम्पूर्ण विश्व का सञ्चालक है। कर्तव्य करने के लिए कर्ताभाव का त्याग आवश्यक है क्योंकि वह अहङ्कारजन्य है। मनुष्य अविद्या और अहङ्कार के कारण सोचता है कि मैंने अपने शत्रु को पराजित किया अथवा मैंने यह किया, वह किया। वास्तव में भगवान् ही सब-कुछ करवाते हैं। मनुष्य तो निमित्त मात्र है। अर्पण-बुद्धि एवं भगवत् संकल्प से अपने संकल्प को युक्त करके कर्म करना चाहिये। निष्क्रियता और अकर्म के लिए उस जीवन में स्थान नहीं है जो कि आध्यात्मिक है। अकर्मण्यता आध्यात्मिक ज्ञान और स्वतन्त्रता (बन्धन से

मुक्ति) का सूचक नहीं है। कर्तृत्वभाव और फलेच्छा बन्धन में डालती है। निष्काम कर्म को अपनाकर वन्धन से मुक्त हो सकते हैं। कर्मत्याग एवं अकर्म अवाञ्छनीय है। सम्यक् एवं सत्य ज्ञान मनुष्य को कर्म से युक्त करता है। वह विश्व के आर्त प्राणियों के कल्याण के लिये प्रयास करता है और सामाजिक कर्म से विमुख नहीं होता है। ऐसा निःस्वार्थ कर्म बन्धन में नहीं डालता। कर्म करने मात्र से दोष नहीं लगता है। स्वार्थी इच्छाएँ और निम्न प्रेरणाएँ कर्म को दोषयुक्त करती हैं। इनके ऊपर उठकर शुभ कर्म करने चाहिए। कर्म का त्याग अथवा कर्मसंन्यास ग्रहण करने से अधिक वाञ्छनीय और श्रेयस्कर निष्काम कर्म है।

निष्काम कर्म : प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का समन्वय—गीता के नैतिक सिद्धान्त का केन्द्रविन्दु कर्मफलत्याग एवं निष्काम कर्म है। यह वह सेतु है जो निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग को संयुक्त करता है। गीता का काल वह काल था जब कि जीवन के दो विरोधी आदर्श समाज में प्रचलित थे : कर्मयोग और कर्मसंन्यास, सांसारिक, जीवन चिन्तनप्रधान पारलौकिक जीवन, तपपूर्ण एकाकी जीवन और कर्मप्रधान जीवन, यही दो आदर्श निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं। निवृत्तिमार्गियों ने कर्मत्याग को महत्त्व देकर संन्यासवाद एवं वैराग्यवाद का समर्थन किया। इच्छा कर्म का अनिवार्य अङ्ग है और वह स्वार्थी भावनाओं को जन्म देती है। स्वार्थ व्यक्ति के ज्ञान को भ्रम में डाल देता है। उसे औचित्य के मार्ग से हटा देता है। ज्ञानी व्यक्ति को चाहिए कि कर्म का त्याग कर दे। किन्तु प्रवृत्तिमार्गी सामाजिक कर्तव्य को अनिवार्य मानते हैं। वे कर्मकाण्ड एवं शास्त्र-विधियों को भी स्वीकार करते हैं। ऐसे कर्म मुक्ति, स्वर्ग और ऐश्वर्य की कामना से किये जाते हैं। परलोक के सुख की चिन्ता निम्न प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण अवश्य रखती है पर साथ ही स्वार्थ को पल्लवित करती है। इस भाँति यह वैयक्तिक शुभ एवं स्वार्थ को स्वीकार करती है।

गीता ने निवृत्ति और प्रवृत्तिमार्ग के मूल में स्वार्थपूर्ण इच्छाओं को देखा और स्वार्थपूर्ण इच्छाओं के त्याग के लिए निष्काम कर्म को आवश्यक बतलाया। गीता ने समझाया कि देहधारी के लिए कर्म का त्याग असम्भव है। इसलिए

जीवन का आदर्श कर्मत्याग का आदर्श नहीं हो सकता। यह कर्म में त्याग का आदर्श है। स्वार्थपूर्ण इच्छाओं के जाल से मुक्त होने के लिए ही गीता कहती है कि परिणाम की ओर से विरक्त होकर कर्म करना चाहिए। कर्तव्य करना ही मनुष्य का कर्म है। परिणाम एवं फल दैवाधीन है। फलासक्ति छोड़कर कर्म करना चाहिए। आशारहित होकर कर्म करना उचित है। कर्म से मुक्ति असम्भव है। कर्म को छोड़ना गिरना है। जो परिणाम से विमुख होकर कर्म करता है वह भगवान् को पाता है। यदि कर्म करने में एकमात्र दोष यह है कि कर्म के द्वारा ममत्व, अहङ्कार, राग, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि निम्न और स्वार्थपूर्ण इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं तो इस दोष से मुक्ति सम्भव है। आसक्ति और फलेच्छा से मुक्त कर्म करने चाहिए। कर्तव्य की प्रेरणा दिव्य प्रेरणा है। इस प्रेरणा के द्वारा इच्छाओं का उन्नयन और सुधार कर सकते हैं। वही कर्म शुभ है जो कर्त्तव्य की प्रेरणा से सञ्चालित है और परिणाम की ओर से तटस्थ है। यही गीता का निष्काम कर्म है। इसके द्वारा निवृत्ति और प्रवृत्तिमार्ग के बीच सङ्गति स्थापित करके अथवा उनकी एकता को समझाकर गीता ने निवृत्तिमार्ग को आकर्षक बनाया और प्रवृत्तिमार्ग को श्रेष्ठता प्रदान की।

आत्मशुद्धि और अर्पण बुद्धि निष्काम कर्म के लिए अनिवार्य—अर्जुन निष्पक्ष चिन्तन करने में असमर्थ है क्योंकि ममत्व के बोझ के कारण उसका हृदय क्लान्त हो गया है। वह हृदय की दुर्बलता के कारण मानसिक सन्तुलन (समत्व) खो बैठा है और तटस्थ बुद्धि से कर्तव्य को समझने के बदले लाभ-हानि, जय-पराजय, अपना-पराया अथवा स्वार्थ और परिणाम के सम्बन्ध में सोचता है। भगवान् ही परमकर्ता हैं तथा कर्म देह का गुण है। मनुष्य निमित्त मात्र है। कर्म का परिणाम दैवाधीन है। ऐसी स्थिति में परिणाम की चिन्ता अविवेकी ही करते हैं। विवेकी व्यक्ति फलासक्ति का त्याग करके निष्काम कर्म करता है। निष्काम कर्म के लिए दो बातें आवश्यक हैं: आत्मशुद्धि तथा अर्पण-बुद्धि। आत्मशुद्धि द्वारा गीता ने यह समझाया कि निम्न इच्छाओं का परिष्कार करना आवश्यक है। हमें अपने को सङ्कीर्ण इच्छाओं, कामनाओं और वासनाओं के बन्धन से मुक्त करके कर्तव्य के मार्ग को अपनाना चाहिये। सब इच्छाएँ कर्तव्य के अधीन होनी

चाहिए। मनुष्य आध्यात्मिक प्राणी है। उसके जीवन का ध्येय उच्च है, भगवत्-प्राप्ति है। इस ध्येय की प्राप्ति के लिए इच्छाओं का उन्नयन अनिवार्य है। सङ्कीर्ण इच्छाओं से ऊपर उठकर आत्मशुद्धि द्वारा व्यक्ति अपने अन्तरतम की दिव्य ध्वनि को सुन सकता है। उस आदेश अथवा भगवत् सङ्कल्प के अनुरूप कर्म करना ही व्यक्ति का कर्तव्य है। अतः आत्मशुद्धि अर्पण-वुद्धि को जाग्रत करती है। भगवान् ही हमारी वास्तविक आत्मा है। वह सव भूतों का आन्तरिक सत्य है। उन्हें पूर्ण आत्म-समर्पण कर देना चाहिए।

वसुधैव कुटुम्वकम् : व्यक्ति और समाज—अर्पण-वुद्धि विश्वकल्याण की वुद्धि है। सर्वत्र एक ही सत्य की अभिव्यक्ति है। अतः भेद-भाव मिथ्या है। व्यक्ति और समाज एक ही हैं। दोनों में ही ईश्वर है। ईश्वर ही सव प्राणियों का आन्तरिक सत्य है। जव व्यक्ति भगवान् को पूर्ण आत्म-समर्पण कर देता है तव वह भगवद्-वुद्धि से जनता को जनार्दन मानकर उसकी सेवा करने लगता है। अतः समाज की सेवा करना भगवान् की सेवा करना है। सव प्राणियों में भगवान् को देखना अथवा एकता का वोध विश्ववन्धुत्व एवं 'वसुधैव कुटुम्वकम्' के भाव का जनक है। जव दूसरों के लिए त्याग करते हैं तो यह नहीं समझना चाहिए कि हम दूसरों का उपकार कर रहे हैं। वे दूसरे नहीं हैं उनमें भी हमारी ही आत्मा है। समाज-सेवा द्वारा व्यक्ति संङ्कीर्ण आत्मा से ऊपर उठकर विश्वात्मा को प्राप्त करता है। आत्मत्याग आत्मोन्नति है। गीता के अनुसार सर्वभूतों के हित के लिए कर्म करना चाहिए। लोकमङ्गल ही ध्येय है। इस ध्येय की प्राप्ति के लिए निम्न और स्वार्थी इच्छाओं का दिव्यीकरण आवश्यक है। ऐसा व्यक्ति धीर प्रकृति एवं सम-दृष्टि का व्यक्ति है। उसके लिए दुःख-सुख, निन्दा-प्रशंसा और घृणा तथा स्नेह समान हैं। वह न तो शत्रु की निन्दा करता है और न मित्र की प्रशंसा। शम, दम, तप, सत्य, अहिंसा, दान, दृढ़सङ्कल्प, करुणा, सन्तोष, विनम्रता, विश्वप्रेम आत्मोन्नति में सहायक हैं और हिंसा, अहङ्कार, राग, द्वेष, घृणा, लोभ, मोह, आत्मश्लाघा आदि आत्म-विनाशक हैं। अथवा गीता उन सभी प्रवृत्तियों को शुभ कहती है जो निःस्वार्थ भाव से लोकमङ्गल के लिए प्रयास करती हैं और भगवत्-प्राप्ति में सहायक हैं। इसके विपरीत वे प्रवृत्तियाँ जो

कर्तृत्वभाव, अहङ्कार, स्वार्थ और कर्मफल की आशा करती हैं, अशुभ हैं।

कर्मवाद : स्वतन्त्रता का प्रश्न—गीता कर्मवाद को मानती है और यह कहती है कि पूर्वजन्म के संस्कार वर्तमान जीवन को निर्धारित करते हैं। पूर्वजन्म के कर्मानुसार ही मनुष्य विशिष्ट जाति और कुल के वातावरण में जन्म लेता है तथा दुःख-सुख पाता है। तो क्या गीता के अनुसार मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है ? सब-कुछ पूर्वनिर्धारित और निश्चित है ? क्या गीता का कर्मवाद निराशावादी है ? क्या मुक्ति एवं मोक्ष के लिए प्रयास करना व्यर्थ है ? गीता का कर्मवाद आशावादी है ? वह हमारे सामने उज्ज्वल भविष्य रखता है। गीता आत्म-स्वातन्त्र्य में विश्वास रखने के कारण ही कर्मवाद को अपनाती है। व्यक्ति कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है पर प्रत्येक कर्म फल से युक्त है। अतः उसे चाहिए कि सहजप्रवृत्तियों, आवेगों, उद्दाम इच्छाओं और सङ्कीर्ण भावनाओं के प्रवाह में न वहे। समझ-बूझकर कर्म करे। बौद्धिक प्राणी होने के कारण वह अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है। अशुभ कर्म का अशुभ परिणाम उसे भुगतना पड़ेगा। दुःख अशुभ कर्म का परिणाम है। अतः धीर व्यक्ति दुःख को अवश्यम्भावी मानता है। शुभ परिणाम के लिए शुभ कर्म करना अनिवार्य है। मनुष्य वर्तमान स्थिति से ऊपर उठकर अपनी पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। आध्यात्मिक प्राणी के जीवन का ध्येय भगवत्-प्राप्ति है और इस ध्येय को पाने के लिए वह स्वतन्त्र है। आत्म-नियन्त्रित कर्मों द्वारा अथवा आन्तरिक सत्य के अनुरूप कर्म करने पर वह अपने इष्ट को प्राप्त कर सकता है। इस भाँति गीता कर्मवाद को महत्त्व देकर समझाती है कि व्यक्ति का भविष्य उसके हाथ में है अतः उसे अबौद्धिक और अनुचित कर्म नहीं करने चाहिए। नैतिक आचरण से एक क्षण के लिए भी मुक्ति सम्भव नहीं है। अपने नियतिवाद एवं कर्मवाद द्वारा एक ओर तो गीता हमें अनैतिक कर्मों के गर्त में गिरने से बचाती है और दूसरी ओर हमारे अन्दर उत्तरदायित्व और आत्मश्रेष्ठता के भाव को जगाती है।

आलोचना

मार्गनिर्देशन—गीता ने यह भलीभाँति समझाया कि आचरण की समस्या

आत्म-प्रबुद्ध प्राणी के लिए मुख्य समस्या है । व्यक्ति केवल जैव आवश्यकताओं का प्राणी नहीं। वह पशु-जीवन को अपनाकर सुखी नहीं रह सकता । वह आध्यात्मिक प्राणी है, वह जीवन के अर्थ और मूल्य को जानना चाहता है । उसके कर्म विवेक से सञ्चालित होने चाहिए । अतः गीता ने नैतिक समस्या को तत्त्वदर्शन पर आधारित किया । जीवन के आदर्श को तत्त्वदर्शन की पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है । नैतिक समस्या को एक मूर्त रूप देने के लिए ही गीताकार ने एक विशिष्ट स्थिति को लिया और उस स्थिति के आधार पर समझाया कि मानसिक द्वन्द्व एवं नैतिक समस्या को कैसे सुलझा सकते हैं। वार्तालाप की सरल शैली कों अपनाकर नैतिक सन्देश को जनसामान्य के लिए आकर्षक और ग्रहणीय बना दिया ।

संसार में भलीभाँति रहने के लिए अधिकांश व्यक्तियों को मार्ग निर्देशन की आवश्यकता होती है । अविकसित बुद्धि के कारण अथवा आवेगजन्य प्रवृत्ति तथा स्वार्थान्ध होने के कारण मनुष्य की नैतिक बुद्धि मन्द पड़ जाती है । वे कर्म के औचित्य-अनौचित्य पर विचार नहीं करते । गीता ने सदाचार को दृढ़ दार्शनिक संवल देकर तथा कर्मवाद को स्वीकार करके ऐसे अनैतिक प्राणियों को चेतावनी दी है । नैतिक जिज्ञासुओं को मूलगत नैतिक तत्त्वों की ओर आकर्षित किया है। आचारण के व्यापक नियमों की संहिता असम्भव है अतः गीता ने संहिता देने का प्रयास नहीं किया । फिर भी यह सत्य है कि अपने समय की सामाजिक स्थति की उपेक्षा कोई भी नैतिक सिद्धान्त नहीं कर सकता अतः गीता भी इससे अछूती नहीं है । इसलिए आज के नीतिज्ञ के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि आज की सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना के आधार पर गीता की पुनर्व्याख्या करे ।

फलासक्ति अनुचित—लोकमङ्गल को महत्त्व देने के कारण ही गीता ने यह समझाया है कि फलासक्ति की इच्छा से कर्म नहीं करने चाहिए। जो मनुष्य परिणाम पर विचार करते हैं वे अधिकतर कर्तव्यभ्रष्ट हो जाते हैं। स्वार्थ एवं सुखभोग की कामना विवेक को अज्ञान से आच्छादित कर देती है। अर्जुन फल की चिन्ता करके कर्म को साधन मान लेता है और इसलिए उसका

नीति-अनीति का विवेक कुण्ठित हो जाता है। कर्म के आन्तरिक शुभत्व को समझना चाहिए। कर्म अपने-आपमें साध्य है। परिणाम को महत्त्व देकर गीता ने यह नहीं समझाया है कि कर्म परिणाम से युक्त नहीं है। वरन् यह कहा है कि परिणाम को महत्त्व देने वाला व्यक्ति आत्मस्वार्थ से ऊपर नहीं उठ सकता। वह शुभ को ध्येय मानने के बदले आत्मस्वार्थ को ध्येय मान लेता है। अतः परिणाम से तटस्थ रहकर ही व्यक्ति संकीर्ण स्वार्थ से ऊपर उठकर लोक-कल्याण की स्थापना करता है।

वैराग्यवाद को अस्वीकार—गीता ने अनासक्ति योग को महत्त्व देकर यह बतलाया कि मनुष्य को सदाचार के लिए स्वार्थ का त्याग करना चाहिए। शुभ ध्येय की प्राप्ति के लिए निम्न इच्छाओं का उन्नयन करके उनका दिव्यीकरण करना चाहिए। कुछ आलोचकों का यह कहना है कि गीता ने अनासक्ति योग एवं निष्काम कर्म को महत्त्व देकर वैराग्यवाद और कठोर संन्यासी-जीवन का यशगान किया है। गीता वैराग्यवाद को स्वीकार नहीं करती है, उसने मनुष्य की अनुभवात्मक आत्मा एवं जीवात्मा के स्वरूप को भली-भाँति समझा है। कांट की भाँति गीता अमनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाकर इच्छाओं का समूल नाश करने के लिए नहीं कहती बल्कि उनका दिव्यीकरण करने के लिए कहती है। इच्छा स्वेच्छाकृत कर्म का अनिवार्य अङ्ग है। बिना इच्छा के कर्म सम्भव नहीं। इच्छाहीन जीवन अमानवीय, सारहीन और अनाकर्षक है। गीता यह कहती है कि केवल इन्द्रियसुख, भोगविलास और स्वार्थपूर्ण इच्छाएँ बुरी हैं। वे आत्मघातक हैं और व्यक्ति को विषयान्ध बनाकर उसकी पूर्णता के मार्ग में बाधा उत्पन्न करती हैं। इन इच्छाओं का उन्नयन करना अनिवार्य है। इन्हें सदाचार की इच्छा के अधीन होना चाहिए। सदाचारी इच्छा दिव्य है। सदाचार की प्रेरणा से कर्म करके व्यक्ति अद्वितीय आनन्द और पूर्णता को प्राप्त कर सकता है।

व्यक्ति नगण्य नहीं है—गीता के अनुसार मनुष्य को अपने को समझना चाहिए। आत्मज्ञान बतलाता है कि भेदभाव मिथ्या है। अज्ञान भेदमूलक या द्वैतमूलक है। यही शत्रु-मित्र, अपना-पराया, व्यक्ति-समाज तथा स्वार्थ और

परमार्थ के द्वैत के मूल में है। व्यक्ति की आत्मा विश्वात्मा है। अतः जब वह लोकहित और लोक-कल्याण के लिए प्रयास करता है तब वास्तव में वह अपनी संकीर्ण आत्मा का वास्तविक आत्मा के लिए त्याग करता है और आत्मत्याग द्वारा आत्मोन्नति और पूर्णता को प्राप्त करता है। गीता ने व्यक्ति को महत्त्व दिया है। व्यक्ति को नगण्य न मानने के कारण ही उसकी पूर्णता के लिए प्रयास किया और कहा है कि स्थायी आत्मानन्द के लिए संकीर्ण प्रवृत्तियों का त्याग अनिवार्य है।

गीता का सन्देश विश्वव्यापी और शाश्वत है, वह सामयिक और संकीर्ण नहीं है। गीता ने उच्च और निम्न आत्मा के संघर्ष के प्रश्न को उठाकर यह समझाया है कि जीवात्मा अपने बन्धनों से मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। परमात्मा का सान्निध्य एवं उसकी प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है क्योंकि जीवात्मा का अन्तरतम सत्य परमात्मा है। परमात्मा को प्राप्त करने के लिए अथवा भगवत् साक्षात्कार के लिए भेदभाव को भूलना होगा। समानता का भाव उस बुद्धि को देता है जो जनमङ्गल और भूमङ्गल का प्रतीक है। निःसन्देह जब तक मनुष्य समाज में रहेगा वह गीता के लोक-कल्याणकारी ज्ञान आश्रय लेता रहेगा।

२२

गांधीजी

जीवनी—मोहनदास कर्मचन्द गांधी का जन्म सन् १८६९ में तारीख २ अक्तूबर को पोरबन्दर (काठियावाड़) में हुआ। वैष्णव परिवार में पलने के कारण उनके मन में बचपन से ही धार्मिक संस्कारों ने घर कर लिया था। फलतः वेद, उपनिषद् और विशेषतः रामायण के प्रति उनके मन में अगाध श्रद्धा पैदा हो गई जो आगे चलकर अनन्य रामभक्ति में परिणत हो गई। बालक मोहनदास के हृदय में सदाचार तथा सत्य के प्रति एकान्त आग्रह रहा। जब वह पीछे बैरिस्टरी पढ़ने के लिए विदेश भेजे गए तब उन्होंने विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन कर उन्नत आदर्शों को आत्मसात् कर लिया। इस प्रकार उनके भीतर होनहार महात्मा ने विलायत में ही जन्म ले लिया। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने अपने आदर्शों को प्रयोग की कसौटी पर कसा और प्रवासी भारतवासियों पर हो रहे गोरों के अत्याचारों से पीड़ित होकर अपने प्रसिद्ध सत्याग्रह आन्दोलन को जन्म दिया। भारत लौटने तक गांधीजी एक सिद्ध जननायक बन चुके थे। यहाँ पहुँचने पर सालभर बाद ही उन्होंने भारतीय जनता में राष्ट्रीय जागरण तथा स्वतन्त्रता की चेतना भरने का व्रत लिया। सन् १९२१ में उन्होंने अपना पहला सत्याग्रह आन्दोलन छेड़ा और कई वर्षों तक लगातार सविनय अवज्ञापूर्वक अपने अहिंसात्मक आन्दोलन से १५ अगस्त १९४७ में भारत को दासता के बन्धनों से मुक्त करा दिया। यह स्वतन्त्रता का रक्तहीन संग्राम संसार के इतिहास में अद्वितीय था। इसके आदर्शप्राण जननायक ने सत्य और अहिंसा का सामूहिक प्रयोग कर मानव-जाति के सामने एक महान् मानवीय आदर्श उपस्थित कर दिया। ३० जनवरी १९४८ में जब गांधीजी प्रार्थना-सभा में जा रहे थे तो गोडसे नामक

एक व्यक्ति ने गोली चलाकर इस अमर प्रकाश को सदैव के लिए भौतिक शरीर से छुटकारा दिला दिया।

महत्त्वाकांक्षा : पृथ्वी पर राम-राज्य की स्थापना—जीवमात्र के सुख तथा कल्याण की भावना ही गांधीजी की अन्तरात्मा की पुकार थी। उनके मनोजगत् पर दार्शनिक सिद्धान्तों से अधिक धार्मिक विश्वासों का प्रभाव था। वे विश्वास वैज्ञानिक अथवा तार्किक नहीं कहे जा सकते किन्तु वे महत् धारणाओं और उच्च भावनाओं से अनुप्राणित थे। गांधीजी का मङ्गलमय भगवान् के प्रति अखण्ड विश्वास था। उनका कहना था कि मङ्गलमय तथा लोक-कल्याणमय जगत् की स्थापना सात्विक तथा नैतिक गुणों के अर्जन से ही सम्भव है। व्यक्ति को अपनी मुक्ति के लिए सात्विक नियमों का पालन करने का प्रयास करना चाहिये। उनका यह भी कहना था कि वैयक्तिक साधना सामूहिक निर्माण अथवा विकास का एक आवश्यक अङ्ग है। समस्त संसार को 'सियाराममय' मानने के कारण ही उन्होंने यह कहा और इसीलिए जीवन भर लोक-सेवा और लोक-कल्याण में निरत रहे। उन्होंने आत्मोत्थान को लोक-कल्याण का एक सफल साधन माना। पृथ्वी पर आदर्श जीवन अथवा रामराज्य की स्थापना के लिए उन्होंने साध्य और साधन को समान महत्त्व दिया। भौतिक सुख-सम्पन्न सामाजिक जीवन से अधिक प्रधानता एक पवित्र, सरल, सदाचारपूर्ण कर्तव्यनिष्ठ जीवन को दी। उनके रामराज्य का ध्येय एक उन्नत आदर्शमय मनोजीवन का ध्येय है।

गांधी-दर्शन : सत्य की परिभाषा—गांधीजी का दर्शन गीता तथा उपनिषद् के दर्शन से भिन्न नहीं है। भारतीय दर्शन ने सत्य के जिस चिरन्तन तथा शाश्वत स्वरूप की चर्चा की है, गांधीजी ने उसी को अपने जीवन में अनुभव करने का प्रयत्न किया है।[1] उसी की प्राप्ति के लिए सदाचरण और

---

१. 'मैं यह दावा नहीं करता कि मैंने कुछ नये सिद्धान्तों और तत्वों का आविष्कार किया है। मैंने अपने ही ढंग से शाश्वत सत्यों को प्रति-दिन के जीवन की समस्याओं में अनूदित करने का प्रयत्न किया है।'

साधना को महत्ता दी। उनके जीवन में भक्ति तथा कर्मयोग का अद्वितीय समन्वय मिलता है। यह गीता के निष्काम तथा अनासक्त कर्म की व्याख्या पर आधारित है। उनकी भक्ति का केन्द्र-बिन्दु मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम का सात्विक चरित्र रहा है और उनका राम गीता तथा उपनिषद् का शाश्वत तथा सनातन पुरुष रहा है। उनकी दृष्टि में सत्य ही ईश्वर है। 'सत्य के बिना ईश्वर कहीं नहीं है।' सत्य का ज्ञान भगवद्ज्ञान है। भगवद्ज्ञान के अनुसार भगवान् की अनुभूति अथवा उनकी सेवा उनके व्यापक सगुण तथा व्यक्त स्वरूप की सेवा द्वारा ही सम्भव है। सम्पूर्ण सृष्टि एवं समस्त जीव भगवान् के ही अंश हैं। इसीलिए विश्व-बन्धुत्व तथा जीव-प्रेम की भावना सत्य के ज्ञान की द्योतक है।

सत्य का नैतिक स्वरूप—सदाचार ही सत्य का नतिक तथा व्यावहारिक पक्ष है। इसके लिए तप और त्याग आवश्यक हैं। तप की आवश्यकता आत्मशुद्धि के लिए और त्याग की आवश्यकता मोह तथा स्वार्थ की भावना से मुक्त होने के लिए है। स्वार्थ और मोह दृष्टि में आवरण की तरह पड़े रहते हैं और सत्य के दर्शन में बाधक होते हैं। स्वार्थ त्याग तथा जीवों की सेवा द्वारा मनुष्य सत्य के निकट पहुँचता है। सत्य को समझने के लिए हठधर्मी एवं कट्टरता से ऊपर उठना आवश्यक है। उसके लिए भ्रमात्मक तथा एकांगी सिद्धान्तों से दूर रहकर पूर्वग्रहों और दोषों से अपने को मुक्त करना चाहिये।

यदि सदाचरण ही जीवन में महत्त्वपूर्ण है और वही जीवन का ध्येय है तो सदाचरण का क्या रूप हो? गांधीजी का नीतिशास्त्र श्रद्धा तथा विश्वास-मूलक है। वह सैद्धान्तिक नहीं है, किन्तु जीवन-सत्य पर आधारित है। गांधीजी ने अपने सहज विश्वास के कारण, अनेक धर्मों, दर्शन-ग्रंथों के अध्ययन, मनन, चिन्तन तथा निरन्तर आत्म-साधना के कारण सदाचरण के सम्बन्ध में आन्तरिक अनुभूति प्राप्त कर ली थी। उनका नैतिक आदर्श काल्पनिक नहीं है, वह जन-जीवन के वास्तविक ज्ञान पर आधारित है। उन्होंने सत्य के शाश्वत तत्त्वों पर व्यावहारिक तथा नैतिक प्रकाश डाला। उनके अनुसार

ज्ञान सद्गुण है। सत्य का ज्ञानी सत्य के अनुसार ही कर्म करेगा। उसके विपरीत कर्म करना असह्य है; वह जीवित मृत्यु है। जनता के सम्मुख उन्होंने, अपने जीवन के रूप में, सत्य के क्रियात्मक आदर्श को सम्मुख रखा। अपने चारों ओर व्याप्त युग-जीवन के घनिष्ठ सम्पर्क में आने के कारण उन्होंने साम्प्रदायिक वाद-विवादों के ऊपर एक मानवीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अतः उनके नैतिक नियम किसी विशिष्ट वाद के अन्तर्गत नहीं आते हैं। जैसा कि गांधीजी स्वयं कहते हैं, "मैं तो किसी का बाजा बजाता नहीं या फिर सारे जगत् का बजाता हूँ।" गांधीजी की नैतिकता मानव-जीवन के कल्याण की नैतिकता है। गांधीवाद—यदि उसे वाद कहना आवश्यक ही है—किसी प्रकार के कोरे सङ्कीर्ण सिद्धान्तों का संग्रह नहीं है। वह जीवन-सत्य के व्यापक क्रियात्मक स्वरूप का प्रतिपादन करने की ओर प्रयत्नमात्र है। यह प्रयत्न दर्शन के शाश्वत तत्त्वों, धर्मों के मौलिक सिद्धान्तों तथा मनोविज्ञान के स्वस्थ नियमों[1] का सन्तुलित सङ्कलन है। गांधीवाद के अनुसार अन्तःसत्य बाह्य जीवन का आवश्यक अङ्ग है। मनुष्यों में सत्तात्मक एकता है। विश्व की विविधता एकता के सूत्र में पिरोयी हुई है। भिन्नता केवल अविद्या की देन है। अतएव यह नैतिक कर्तव्य है कि मनुष्य एक-दूसरे के सुख-दुःख को समझे और संसार से अन्याय, दरिद्रता और दुःख को मिटाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहे एवं लोक-कल्याण की वृद्धि करे। संक्षेप में, गांधीजी की नैतिकता 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की नैतिकता है; उसमें विश्व-प्रेम अथवा मानव-प्रेम ही एकमात्र साध्य और साधन है।

अहिंसा—गांधीजी के भीतर प्रतिष्ठित मनुष्यत्व की भावना उनके सत्य और अहिंसा के आदर्शों के द्वारा अभिव्यक्त होती है। गीता में कर्मयोग ढूँढ़ने-वाले गांधीजी ने सत्य और अहिंसा को एक-दूसरे का पूरक कहा है। उन्होंने सत्यज्ञान को ही सदाचार कहा है। सत्य का क्रियात्मक रूप ही अहिंसा है।

---

१. परिपूर्ण मङ्गलमय जगत् अथवा रामराज्य के आदर्श को सम्मुख रखते समय उन्होंने मानव-स्वभाव के दोनों पक्षों—बौद्धिक और भावुक—को समझा।

सत्यज्ञान तथा अहिंसा द्वारा ही अज्ञान, अन्याय और अधर्म दूर हो सकते हैं और मानव-हृदय में प्रेम का सङ्गीत तथा उसकी श्वासों में शान्ति की सुगन्ध भरी जा सकती है। अहिंसा (विश्वप्रेम) ही सत्यज्ञान तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त की सार्थकता है। अहिंसात्मक निष्काम लोक-कार्य ही जीवन का ध्येय है। सब व्यक्तियों में एक ही सर्वव्यापी ईश्वर व्याप्त है। यह सर्वात्मबोध ही आत्मबोध है। दूसरों का दुःख अपना दुःख है। उसे हटाना हमारा कर्तव्य है। वास्तविक शान्ति जीवमात्र को स्नेह और प्रेम का पात्र समझने से ही प्राप्त हो सकती है। पाप से घृणा करना उचित है, पापी से नहीं।[1] पापी स्नेहास्पद है। पापी को प्यार करते हुए पाप और अधर्म के विरुद्ध अहिंसात्मक युद्ध करना ही मनुष्य का कर्तव्य है। गांधी-दर्शन यह अखण्ड विश्वास देता है कि सभी प्राणियों में एक ही चेतन-शक्ति व्याप्त है। सब एक ही पिता के पुत्र हैं। इसी को लक्ष्य करते हुए गांधीजी कहते हैं कि मनुष्य का आचरण धार्मिक—सर्वकल्याणकारी—होना चाहिये। अहिंसा मानवीय सत्य का ही सक्रिय गुण है। इसके दो रूप हैं: भावरूप या धनरूप और अभावरूप या ऋणरूप। अभावात्मक रूप के अनुसार किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिये। पर-पीड़न पाप है। शारीरिक अथवा मानसिक पीड़ा पहुँचाना पाप है। गांधीजी तत्व-ज्ञानी होने के नाते अहिंसा का व्यापक अर्थ[2] लेते हैं। अहिंसा का भावात्मक रूप सर्वकल्याणकारी है। लोकमङ्गल के हेतु विश्व-प्रेम को स्वीकार करना ही

---

१. मनोवैज्ञानिकों के अनुसार विचार-साहचर्य के नियम इस बात की पुष्टि करते हैं कि पापी और पाप में तादात्म्य स्थापित हो जाता है। उसके विरुद्ध इतना ही कहना है कि गांधीजी ने जो कुछ भी कहा उसका पहले अपने जीवन में अभ्यास और अनुभव कर लिया। फिर भी यह मानना उचित है कि साधारण व्यक्ति के लिए यह कठिन कार्य मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति से ही सम्भव है।

२. अपने संकीर्ण अर्थ में अहिंसा का अभिप्राय अधिकतर कायिक और दैहिक हिंसा न करने से रहता है। गांधीजी ने गौतम बुद्ध के समान ही अहिंसा का व्यापक अर्थ लिया। गौतम बुद्ध और गांधी, दोनों ने ही मानवता के कल्याण के लिए विश्वप्रेम, करुणा, सेवा और निःस्वार्थ-भाव को अपनाने की लोगों से प्रार्थना की।

अहिंसा है। अहिंसात्मक व्यक्ति के लिए राग, द्वेष, क्रोध, मोह, लोभ और घृणा आदि मन के विकार अधर्म हैं। उसे मनसा, वाचा, कर्मणा, पवित्र तथा संयमी होना चाहिये। जीवनरूपी कर्मक्षेत्र में उसे हिंसा तथा असत्य के विरुद्ध निरन्तर संग्राम करना चाहिये। कर्मक्षेत्र में अकर्मण्यता के लिए स्थान नहीं है। सदैव धर्म की स्थापना के लिए प्रयास करना चाहिये। परिणाम से डर कर कर्तव्य से विमुख होना पाप है। मनुष्य को अहिंसा आत्मबल देती है। वह उसे क्षुद्र इच्छाओं तथा दाम्भिक भावनाओं से ऊपर उठाती है। उसे स्वार्थहीन तथा आत्मविजयी बनाकर विश्वात्मा की अनुभूति कराती है। गांधीजी के अनुसार सत्य और अहिंसा दोनों ही प्राचीन तथा शाश्वत[1] हैं। सत्य ही सच्चिदानन्द भगवान् है और अहिंसा उसकी प्राप्ति का साधन है। अभीष्ट (सत्य) की प्राप्ति के लिए अहिंसा एकमात्र साधन है।

सत्याग्रह—सत्याग्रह[2] का अर्थ है सत्य के प्रति आग्रह। सत्य व्यक्ति-

---

१. सत्य और अहिंसा गांधीजी के अनुसार उतने ही प्राचीन हैं जितने कि पर्वत। उनका कहना है कि मैं दुनिया को कोई नई बात नहीं बता रहा हूँ। मुझे सत्य की खोज करने में सत्य और अहिंसा का बोध हुआ। अहिंसा का सिद्धांत अत्यन्त प्राचीन है। वह ऋग्वेद में भी पाया जाता है। उपनिषदों में भी ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनके द्वारा विश्वप्रेम का प्रतिपादन हुआ है। गीता, बौद्धधर्म, ईसाई धर्म में भी इसे मान्यता दी गई है। इसे सर्वोत्तम नीति बताया गया है।

२. सत्याग्रह का जन्म दक्षिण अफ्रीका में हुआ। इसके द्वारा गांधीजी ने वहाँ के काले लोगों को बताया कि अपने अधिकारों के लिए जाग्रत होओ। वहाँ उन्होंने 'टाल्सटाय फार्म' खोलकर लोगों को स्वावलम्बी बनने का आदेश दिया। आत्मबल और संघटित शक्ति में जोर दिया। लोक-सेवा और नैतिक जीवन की ओर ध्यान आकर्षित किया। प्राकृतिक उपचार, सफाई और मिताहार का पाठ पढ़ाया। सत्याग्रह का पूर्ण विकास भारत में हुआ। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने लोगों के स्वाभिमान की रीढ़ तोड़ दी थी। वे अपनी संस्कृति से विमुख हो गए थे। मानसिक और सांस्कृतिक दासता स्वीकार कर चुके थे। गांधीजी ने सत्याग्रह तथा असहयोग आन्दोलनों, देशव्यापी हड़तालों और कठोर दीर्घकालीन उपवासों द्वारा नैतिक पतन से भारतीयों को बचाया। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, आत्मनिग्रह आदि का कठोर व्रत लोगों को सिखाया। आत्म-त्याग और बलिदान द्वारा

विशेष तक ही सीमित नहीं है। अपने व्यापक रूप में वह सर्वशक्तिसम्पन्न है; उसी के प्रति आग्रह सत्याग्रह है। केवल विचारों से अहिंसात्मक होना पर्याप्त नहीं है। उसे कर्मक्षेत्र में प्रतिष्ठित करना चाहिये। असत्य के विरुद्ध खड़े होकर और सत्य के प्रति जागरूक रहकर ही अहिंसा को व्यवहार में लाया जा सकता है। सत्याग्रही के लिए अन्याय, अत्याचार, क्रूरता, अनीति आदि को स्वयं सहना अथवा दूसरे को उन्हें सहते हुए देखना असह्य है। अधर्म और अनैतिकता को हटाने के लिए वह अहिंसात्मक सत्याग्रह करता है। सत्याग्रह के द्वारा वह लोकजीवन के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करके अपने अधिकारों का भोग करता है। सत्याग्रही कर्म करते समय विपक्षी अथवा कठोर-से-कठोर अत्याचारी के सम्मुख भी नहीं झुकता। प्राणिमात्र को अत्याचार से मुक्त करना उसका ध्येय है। किन्तु इस मुक्ति को प्राप्त करने के लिए अहिंसा ही एकमात्र साधन है। द्वेष, घृणा, अन्याय को प्रेम से जीतना चाहिये। प्रतिशोध की भावना पाप[1] है। घृणा के प्रति घृणा अथवा पशुबल के प्रति पशुबल अनुचित है। हिंसा को अहिंसा से अथवा पशुबल को आत्मबल से जीतना चाहिये। समस्त मनुष्य एक ही परिवार के प्राणी हैं। हिंसा से (विवश करके अथवा डरा-धमकाकर) उनका हनन करने के बदले प्रेम से उनका सुधार करना चाहिये। गांधीजी का सत्याग्रह सौम्य, शिष्ट, प्रेम का ही एक रूप है। सत्याग्रह के

लोकसेवा अथवा आत्मसन्तोष का मार्ग दिखाया। लोक-जीवन और मानव-स्वभाव का उन्हें गूढ़ ज्ञान था। लोकरक्षा और संस्कृति के मूल तत्त्वों की रक्षा के लिए ही उन्होंने ब्रह्मचर्य की शिक्षा दी।

१. अपनी आत्मकथा में गांधीजी कहते हैं कि वे 'अवगुण बदले गुण करे, सत्य धर्म का मर्म है''—इस कथन से प्रभावित हुए। यीशू के अनुसार भी हमें बुराई को बुराई से नहीं रोकना चाहिए। बदला नहीं लेना चाहिए। यही बात रहीमदासजी ने भी कही है—'जो तोकूं काँटा बुवै, ताहि बोय तूं फूल।' राजनीति के क्षेत्र में यह विचित्र अथवा अव्यावहारिक कथन लगता है। गांधीजी ने भारत को अहिंसात्मक आत्मबल तथा सत्याग्रह द्वारा स्वतन्त्रता दिलाकर उसकी वास्तविकता को केवल सिद्ध ही नहीं किया वरन् विश्व के इतिहास में एक नई राजनीति को जन्म और स्थान दिया है।

लिए भी उनका कहना है कि यह उनका मौलिक सिद्धान्त नहीं है। यह सनातन धर्म अथवा शाश्वत सत्य का यथार्थ तथा व्यावहारिक रूप है। 'सत्याग्रह आत्मशुद्धि की लड़ाई है; वह धार्मिक लड़ाई है।'[1] सत्याग्रह के लिए सम्यक् बोध तथा व्यापक प्रेम की आवश्यकता है। दूसरे के मन में सत्य का बोध जाग्रत कर प्रेम से उसे आकर्षित करना ही सत्याग्रह है। सत्य की ओर अभिमुख होकर दूसरों के मन में उच्च भावनाओं को जाग्रत करना, उनका आत्मोन्नयन करना ही सत्याग्रह का ध्येय है। गांधीजी के सत्याग्रह का मूलरूप आत्मत्याग तथा आत्म-बलिदान है। यही नहीं, उन्होंने सत्याग्रही के कर्तव्यों की रूपरेखा भी बनायी।[2] सत्याग्रही को आत्मसंयमी, आत्म-प्रबुद्ध तथा निर्भीक होना चाहिये। उसका बलमात्र आत्मबल है। उसे लगन, आत्मविश्वास, अहिंसा तथा श्रद्धा के साथ, अडिग होकर, सत्य के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। इसी में उसे आत्मानन्द मिलता है और यही लोक-कल्याण का मार्ग है।

हिन्दू धर्म और अछूतोद्धार—गांधीजी का धर्म से अभिप्राय किसी विशिष्ट सम्प्रदाय या मत से नहीं, किन्तु शाश्वत सत्य से था। उन्होंने हिन्दू धर्म के मौलिक दार्शनिक सत्यों को अपने विवेक के प्रकाश में समझकर उन्हें आत्मसात् किया और कहा कि प्राणी-प्राणी में मूलतः कोई भेद नहीं है। दूसरे का अहित करना अथवा बुरा सोचना या देखना अधर्म है। मानवता के प्रति ममत्व की भावना तथा विश्वप्रेम ही धर्म है। अथवा सर्वकल्याण का नाम ही धर्म है। वे अपने प्रवचनों में बार-बार दुहराते थे कि मैं सनातन (शाश्वत) सत्य का पूजक हूँ। उनका सनातन धर्म अत्यन्त सहिष्णु है। उसके चार मुख्य स्तम्भ हैं: सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। उसका क्षेत्र व्यापक है। वह 'सर्वधर्म समन्वय' में विश्वास करता है। वेद, कुरान, बाइबिल, गीता, आवेस्ता आदि सब महान् धर्मग्रंथों के मौलिक सिद्धान्तों को स्वीकार कर उनके प्रति

---

१. गांधी-सत्याग्रह के मुख्य अंग स्नेह, प्रेम, एकता, सहृदयता और सहयोग हैं। भारतीय दर्शन और संस्कृति ने भी सदैव इन्हें ही प्रधानता दी।

२. देखिए—पट्टाभि भा० १, पृष्ठ ३८, ४५-४७, १७८-१८४।

श्रद्धा रखता है। मानव-एकता को भूलकर वाह्य जातिगत तथा सम्प्रदायगत विभेदों को देखना, अपने धर्म को अच्छा कहकर दूसरे धर्मों का अनादर करना, गांधी-धर्म के अनुसार अधार्मिक और अनैतिक[१] है। गांधीजी ने धर्म और नैतिकता को एक ही माना है। ये एक ही शाश्वत सत्य के दो स्वरूप हैं। दोनों में अभिन्नता है। अधार्मिक सिद्धान्त अनैतिक है। सब धर्म अपने विवेकसम्मत नैतिक रूप में (रूढ़िबद्ध और संकीर्ण रूप में नहीं) समान तथा श्रद्धामूलक हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपना धर्म पालन करने के लिए स्वतन्त्र है। गांधीजी अपने को हिन्दू[२] कहते थे, पर वे सब धर्मों का समान आदर करते थे। धर्म-प्रचारकों के वे विरुद्ध थे। किसी भी मतावलम्बी को दूसरों के धर्म का उन्मूलन करने का तब तक अधिकार नहीं है जब तक कि उसका धर्म मौलिक मानवीय सदाचार के विरुद्ध न हो। अनासक्त योग[3] गांधीजी के धर्मप्रेम, सत्य-प्रेम अथवा नैतिकता का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग था। धर्म एवं मानव-कल्याण की भावना ने ही उन्हें राजनीति में प्रवेश करने के लिए बाध्य कर[४] समाज-सुधारक बनाया। रूढ़ि-रीतिग्रस्त, अधार्मिक नियमों का विद्रोही बनाया। हिन्दू धर्म के माथे से छुआछूत के कलङ्क के टीके को मिटाने वाला बनाया। धर्म के कारण ही उन्होंने हरिजन आन्दोलन को भारतीय स्वतन्त्रता के संग्राम का एक मुख्य अङ्ग बनाया। अछूतों को हरिजन कहकर उन्होंने इस कथन की पुष्टि

---

१. 'जब यहाँ भी ईश्वर है, वहाँ भी ईश्वर है और ईश्वर तो एक ही हो सकता है तब दोनों अलग-अलग नाम लें और एक-दूसरे के नाम बर्दाश्त न कर सकें, यह तो पागलपन-सा ही दीखता है।'

२. 'हिन्दू धर्म, जैसा उसे मैं समझता हूँ, मुझे पूर्ण आत्म-सन्तोष देता है, मेरे समस्त अस्तित्व को पूर्णता देता है और मुझे भगवद्गीता और उपनिषद से शान्ति मिलती है।'

३. गीता की भांति वे प्रवृत्ति और निवृत्तिमार्ग के समन्वय में विश्वास करते थे। समाज में रहकर निःसंग होकर काम करना चाहिए।

४. 'ऐसे व्यापक सत्यनारायण के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए प्राणि-मात्र के प्रति आत्मवत् (अपने समान) प्रेम की बड़ी भारी ज़रूरत है। यही कारण है कि मेरी सत्य की पूजा मुझे राजनीतिक क्षेत्र में घसीट ले गई।'

की कि 'जाति-पाँति पूछे नहीं कोई, हरि को भजे से हरि का होई।' गांधी-धर्म एक शिष्ट सदाचारपूर्ण मानव-समाज का धर्म है। वह विवेकसम्मत धर्म है। उसकी नींव अन्धविश्वास पर नहीं, वह नैतिकता का ही दूसरा नाम है।

शिक्षा—गांधीजी का कहना था कि बच्चों को राष्ट्र की आवश्यकताओं तथा आदर्शों के अनुसार शिक्षा देनी चाहिये। यूनिवर्सिटी की शिक्षा-पद्धति तथा उसके पाठ्य-क्रम से वह सन्तुष्ट न थे; क्योंकि वह हमारे नवयुवकों को कष्ट-सहिष्णु, स्वावलम्बी तथा सेवा-तत्पर बनाने में असमर्थ है। वह अपने धर्म तथा संस्कृति से भी विमुख है। वह विद्यार्थियों को क्लर्कों का जीवन व्यतीत करना भर सिखा रही है। उनके अनुसार शिक्षा का लक्ष्य नैतिक चेतना को जाग्रत करना होना चाहिये। विद्यार्थियों को स्वावलम्बन तथा श्रम उद्योग भी सीखने चाहिये। परीक्षाओं को अत्यधिक महत्त्व देना भूल है। वे जीवन का आदि और अन्त नहीं हैं। शिक्षा द्वारा विद्यार्थियों में कर्तव्य-ज्ञान उत्पन्न करना चाहिये। उन्हें देश की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति करने का ज्ञान होना चाहिये। वर्धाशिक्षा-केन्द्र इन्हीं आदर्शों पर स्थापित किया गया था और गान्धी सेवा-संघ भी व्यक्तियों को स्वावलम्बी और आत्म-त्यागी बनाने के लिए खोला गया था।

गांधीवाद और समाजवाद—गांधीजी ने सत्य-अहिंसा द्वारा एक नवीन सामाजिक व्यवस्था बनानी चाही। उन्होंने समाजवाद की परिभाषा को व्यापक रूप देना चाहा। समाजवाद से उनका अभिप्राय केवल आर्थिक समानता से नहीं था किन्तु आध्यात्मिक एकता, नैतिक निष्ठा तथा कर्तव्यबोध से भी था। उनका कहना था कि सत्तात्मक एकता के सत्य को लोगों को समझना चाहिये। इससे उनकी नैतिक चेतना का विकास होगा। वे समानाधिकार में विश्वास करने लगेंगे। पृथ्वी से उत्पन्न पदार्थों का भोग सभी कर सकते हैं। अमीर-गरीब का तथा जातीय-राष्ट्रीय भेद मानना अनुचित है। आत्म-चेतन प्राणी तथा सत्य-अहिंसा के उपासक को अपने कर्तव्य और अधिकार को समझना चाहिये। उनके मत के अनुसार पूंजीपति और सम्पत्तिवान् दरिद्रनारायण के धन के संरक्षक मात्र हैं। उन्हें गरीबों का अभिभावक बनना होगा और इसलिए

विषय-सुख तथा विलासिता को हिंसा समझकर उन्हें अपने ऊपर उतना ही खर्च करना चाहिये जितना उनके मानसिक और शारीरिक जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है[१]। उन्हें गरीबों की रक्षा करना, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना, उनकी सेवा करना अपना परम कर्तव्य समझना चाहिये क्योंकि उन्हीं के पास गरीबों की धरोहर है[२]। उनका विश्वास था कि नैतिक चेतना के विकास द्वारा ही सुदृढ़ रामराज्य (मानव-प्रेम और आत्मिक एकता के समाजवाद) की स्थापना हो सकती है। आत्मत्याग, आत्मोन्नति और वसुधैव कुटुम्बकम् के सिद्धान्त को आत्मसात् करने की आवश्यकता है। यही वास्तविक समाजवाद को स्थापित कर सकेगा। इसके विपरीत आधुनिक साम्यवादी तथा समाजवादी, जिन्होंने अपनी प्रेरणा पश्चिम से पायी है, अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए हिंसात्मक साधन को आवश्यक समझते हैं। वे वर्तमान आर्थिक व्यवस्था को वर्गयुद्ध तथा रक्तक्रान्ति द्वारा बदलना चाहते हैं। उनके अनुसार समानता (आर्थिक) अमीरों को मिटाने से ही सम्भव है। सम्पत्तिवानों तथा शोषकों का हृदय-परिवर्तन आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन द्वारा ही हो सकता है। अथवा व्यक्तियों में नैतिक चेतना की जागृति, मानवीय भावना की उत्पत्ति के लिए यह आवश्यक है कि सर्वहारा में क्रान्ति की भावना उत्पन्न की जाय। आर्थिक

---

१. स्वयं भी वे अपने जीवन में अत्यन्त मितव्ययिता के साथ रहे। जब सन् १९३० में वे यरवदा जेल में थे तो उन्होंने जेल सुपरिण्टेण्डेण्ट से कहा कि उनपर ३५) रु० मासिक से अधिक खर्च नहीं होना चाहिए। उन्हें खाने के लिए सी क्लास के बरतन मिलने चाहिए। उन्होंने रोज नीम की नई दातुन तक लेने से इन्कार कर दिया।

देखिए—बापू की झाँकियाँ—दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर।

२. तुलना कीजिए—

'Temporal goods which are given to men by God are his as regards their possession but as regards their use, if they should be superfluous to him, they belong to others who may profit by them'—Thomas Aquinas.

(१२२५-१२७४)

व्यवस्था में परिवर्तन तथा क्रान्ति का आतंक ही वर्ग-चेतना से पीड़ित समाज का हृदय वदल सकता है। समाजवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति में विश्वास नहीं करता है। पूँजीपतियों को अस्तित्वरहित करना ही इसका सर्वोपरि ध्येय है। समाजवादियों के अनुसार सम्पूर्ण —चल और अचल—सम्पत्ति-स्वामी लोकराष्ट्र है। मनुष्य का परिवार तथा वच्चे सब-कुछ लोकराष्ट्र के हैं। मनुष्य राष्ट्र का अंग मात्र है। उसकी व्यक्तिगत सत्ता नहीं के वरावर है। गान्धीवाद समाजवाद के साधनों को हिंसात्मक समझता है। उसके अनुसार पूँजीपतियों की सम्पत्ति के छीने जाने का विचार हिंस्र पशु-प्रवृत्ति का सूचक है। रक्त-क्रान्ति की पुकार अमानुषीय और अनैतिक है। व्यक्तिगत सम्पत्ति रखना, निर्धनों के धन का संरक्षक वनना अनुचित नहीं है। अपने स्वार्थ के लिए धन-सञ्चय (परिग्रह) करना पाप है। स्वेच्छापूर्वक आत्मत्याग करना, अपने ऊपर आवश्यकता से अधिक खर्च न करना, दीनों को दान देना नैतिकता है। मनुष्य का नैतिक उन्नयन बाह्य परिस्थितियों, भौतिक घटनाओं तथा आर्थिक व्यवस्था के रक्त-क्रान्तिपूर्ण परिवर्तन द्वारा सम्भव नहीं है। जव तक व्यक्ति अपनी आत्म-प्रेरित बुद्धि से समानता और लोककल्याण की भावना को स्वीकार नहीं करेगा तव तक सुख और शान्ति असम्भव है। दूसरे शब्दों में गांधीवाद आत्मोन्नति, आध्यात्मिक विकास तथा सांस्कृतिक उत्थान के द्वारा चिरस्थायी मङ्गलमय सामाजिकता की स्थापना करना चाहता है।

आलोचना—आलोचकों के अनुसार गांधीजी ने स्वप्न-द्रष्टा की भाँति आदर्श आध्यात्मिक समाज स्थापित करने की चेष्टा की। उनका ध्येय अतिमानवीय है। उनके साधन अवास्तविक और अव्यावहारिक हैं। उनका 'वाद' कष्ट-साध्य संन्यासवाद के समान है। वे शुद्ध बुद्धिमय जीवन को पवित्र जीवन कहते हैं। किन्तु गांधीजी के नैतिक (अथवा दार्शनिक) सिद्धान्त को एकाङ्गी कहना अनुचित है। जीवन-सत्य को उन्होंने अपनी सहजबुद्धि से समझ लिया था। उनका नैतिक-ज्ञान मानवीय वास्तविकता का ज्ञान है। वे भली-भाँति जानते थे कि नंगे तन और भूखे पेटवालों को नैतिक, सामाजिक और धार्मिक सदाचार का पाठ पढ़ाना पागलपन है। अतः उन्होंने खेत-खलिहानों की ओर ध्यान

आकर्षित किया। ग्रामोद्योगों और पञ्चायत-राज को महत्ता दी। ग्रामीणों के स्वास्थ्य, आहार-विहार-सम्बन्धी स्वच्छता तथा अछूतोद्धार की ओर ध्यान दिया। इसी अभिप्राय से उन्होंने गांधी-सेवक-संघ की स्थापना की। यह सब कोरा एकाङ्गी सिद्धान्तवाद नहीं है। उन्होंने भारत की मिट्टी के कण-कण से अपने को परिचित किया और इस परिणाम पर पहुँचे कि भारत की असल आवादी या असल हिन्दुस्तान गाँवों में है। उन्होंने अपने अहिंसात्मक आर्थिक सिद्धान्त के आधार पर ग्रामोद्योगों के विकास के लिए प्रयत्न किया। लोगों से सादगी और ईमानदारी का जीवन व्यतीत करने को कहा ताकि लोग आत्म-निर्भर हो सकें और हमारी भूखी जनता का पेट भर सके। नैतिक पतन से वचने के लिए उन्होंने सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, आत्मनिग्रह का कठोर व्रत धारण कर जनता के सम्मुख आदर्श प्रस्तुत किया। गुलाम भारतीयों को उन्होंने गुलामों को उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहित न कर स्वतन्त्र होने पर स्वतन्त्र भारत-वासियों को जन्म देने को कहा। भारत के असंख्य नंगे तथा भूखों को ध्यान में रखते हुए वे कहा करते थे कि इस देश में भूखा मरने के लिए सन्तान को उत्पन्न नहीं करना चाहिये। उन्होंने सदैव मानव-स्वभाव की दुर्बलताओं को सामने रखकर लोगों को सब प्रकार की शिक्षा दी। उन्होंने भावनाओं का उन्नयन कर उन्हें बौद्धिक स्तर उठाने का आदेश दिया।

गांधीजी मनुष्य-जीवन के उन्नत तथा दुर्बल, दोनों पक्षों से भली-भाँति परिचित थे। आत्म-चेतन मनुष्य पशुता से ऊपर उठकर आत्मानन्द प्राप्त कर सकता है, यही संक्षेप में गांधीवाद का तत्त्व तथा उनका नैतिक दर्शन है। वे जानते थे कि प्राणी का व्यक्तित्व सृष्टि का एक आवश्यक अंग है। उसका आत्म-सन्तोष सृष्टिमात्र की प्रसन्नता पर निर्भर है। व्यक्तिगत कल्याण और लोक-कल्याण में अभिन्नता है। अतः मानवता की सोई हुई चेतना को जगाना ही उन्होंने अपना धर्म समझा। उनका जीवन उपनिषदों के कथन का क्रियात्मक रूप रहा है। "मैं शक्ति का आकांक्षी नहीं हूँ, मैं स्वर्ग का आकांक्षी हूँ, मैं पुनर्जन्म से मुक्ति का आकांक्षी नहीं हूँ, मैं सृष्टि के आर्त प्राणियों को वेदना से

मुक्त करने का आकांक्षी हूँ।"[1] गांधीजी की यह आकांक्षा आत्मज्ञानियों के लिए, आत्मिक सत्य को समझने वालों के लिए नवीन और असम्भव नहीं है। सत्तात्मक एकता के मानने वाले का ममत्व व्यापक होता है। गांधीजी स्वयं ममता तथा लोक-प्रेम की मूर्ति थे। उन्हें प्राणों का मोह या मृत्यु का भय नहीं था। उनका जीवन विश्व-जीवन से ओत-प्रोत था। इसलिए उन्होंने धरती की सन्तानों को उन्नत मनुष्यत्व में बाँधकर भू-स्वर्ग निर्माण करने की चेष्टा की। वे लोक-पुरुष थे। मानव-सभ्यता की सांस्कृतिक और नैतिक उन्नति के द्योतक थे। सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक विषमताओं, वर्गयुद्धों, व्यक्तिगत घृणा-द्वेषों से वे मानवों का उद्धार करना चाहते थे। बुद्ध और मसीह की भाँति नवीन मानवता की सजीव शोभा को पृथ्वी पर मूर्तिमान् करना चाहते थे। पृथ्वी को आत्मिक ऐश्वर्य देना चाहते थे।

किन्तु प्रश्न यह है कि गांधी के विश्व-प्रेमरूपी रामराज्य की स्थापना सम्भव है या नहीं? क्या यह केवल बौद्धिक आदर्श है? गांधीजी के अनुसार यह आत्मिक आदर्श है जो आत्म-त्याग और आत्म-शुद्धि[2] द्वारा सम्भव है। उसको अहिंसा, श्रम तथा निष्ठा द्वारा व्यापक और मूर्त रूप देना आवश्यक है। यह असिधारा का मार्ग है जो नीत्से के अतिमानव को शक्ति-लालसा और पदाधिकार से मुक्त करता है। उसके पाशविक अट्टहास को आत्मानन्द में बदल देता है। समर्थ और चेतन मनुष्य को हिंसा से ऊपर उठाकर जनमंगल की ओर ले जाता है। वह मानव-विकास, मानव-उन्नति और लोक-सेवा में अपना सर्वस्व उसी प्रकार खो देता है जिस

---

१. एफ़० जी० जेम्स के अनुसार भी गांधी-नैतिकता के यही अर्थ हैं: "दूसरों के लिए तपना, उन्हें प्रेम देना—यह पुराने और नये मसीह की अपने समय की खोज है।"

पट्टाभि भा० १, पृ० १८१।

२. 'बिना आत्म-शुद्धि के प्राणि-मात्र के साथ एकता का अनुभव नहीं किया जा सकता। और आत्म-शुद्धि के अभाव में अहिंसा-धर्म का पालन करना भी हर तरह नामुमकिन है।...लेकिन मैं पल-पल पर इस बात का अनुभव करता हूँ कि शुद्धि का यह मार्ग विकट है। शुद्धि होने का मतलब तो मन से, वचन से और काया से निर्विकार होना, राग-द्वेष आदि से रहित होना है।...अहिंसा नम्रता की पराकाष्ठा है।'

प्रकार भक्त भगवान् में। जनता ही उसके लिए जनार्दन है। ऐसे व्यक्ति को ---समष्टि को अपनाने वाले को—अहिंसा आत्म-बल देती है। गांधीजी के खिलाफत आन्दोलन, बारदोली, नमक सत्याग्रह, पौराणिक डाँडी-यात्रा, असहयोग आन्दोलन, भारत-छोड़ो आन्दोलन, रौलेट ऐक्ट आन्दोलन, लगानवन्दी, आम हड़तालें आदि अहिंसात्मक कर्म उनके और उनके अनुयायियों के आत्मबल के ही सूचक हैं। अपने सत्य और अहिंसा के अजेय पौरुष द्वारा उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य को हिला दिया और सदियों की दासता के बन्धन को तोड़कर हिन्द के इतिहास में नवीन युग उपस्थित कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि अहिंसा का सिद्धान्त प्राचीन है! किन्तु इसका क्रियात्मक सामूहिक प्रयोग, विश्व के इतिहास में सर्वप्रथम गांधीजी ने ही किया। बिना रक्त-क्रान्ति के, बिना युद्ध के भारत को स्वतन्त्र करना अहिंसात्मक आत्म-शक्ति द्वारा ही सम्भव था। अहिंसा का सिद्धान्त व्यावहारिक है। यह उपयोगी है। अहिंसा, जो कि अभी तक विचारकों, राजनीतिज्ञों, दार्शनिकों, नीति-चिन्तकों और सुधारकों का स्वप्न मात्र थी, उसे गांधीजी ने ही विश्वव्यापी धर्म बना दिया।

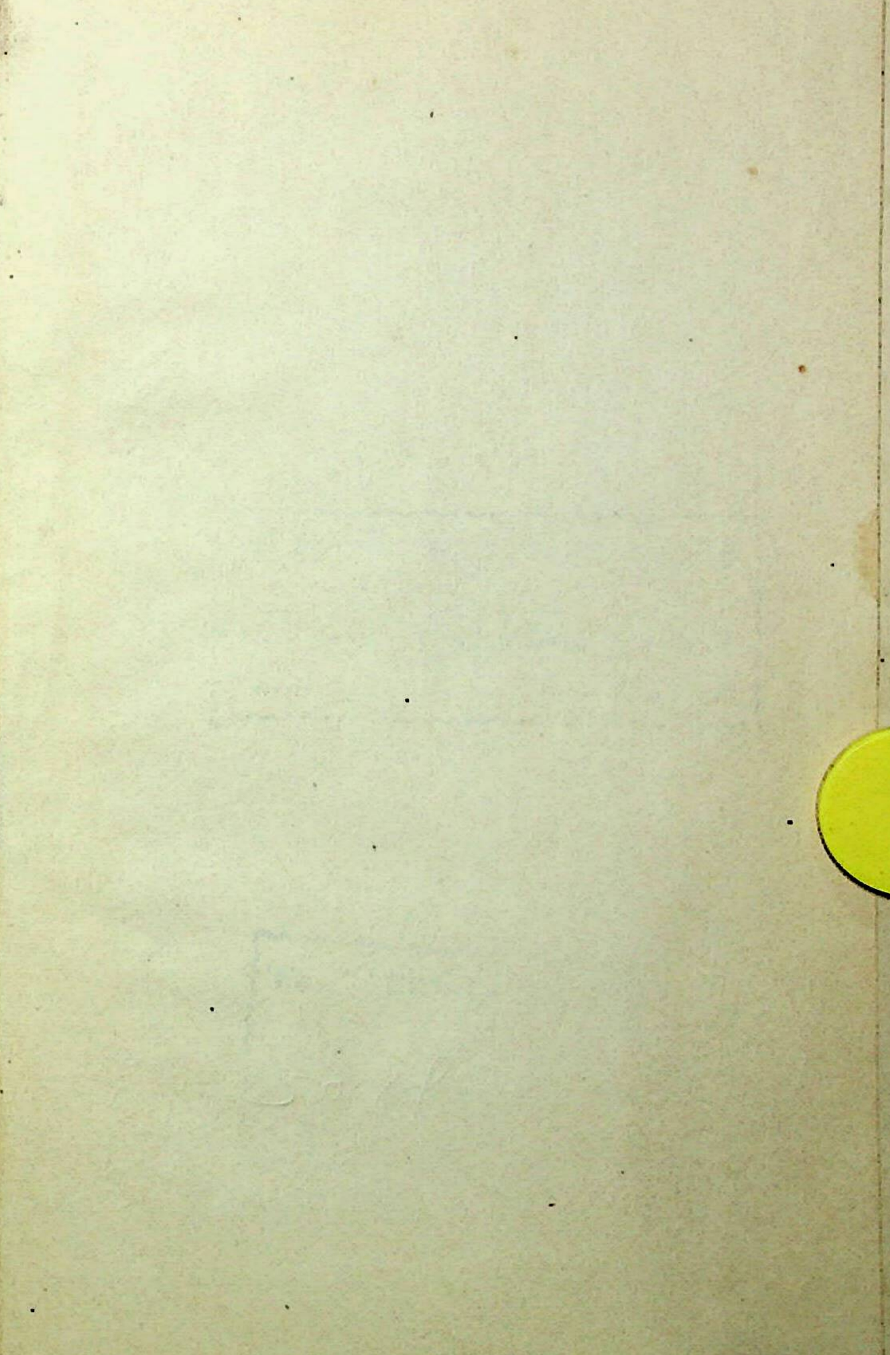
गांधीजी ने संसार को सत्य और अहिंसा के रूप में नया युग-धर्म देकर विश्व के इतिहास में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। उनका धर्म सत्तात्मक एकता और विश्वप्रेम के दृढ़ विश्वास पर आसीन है। वह राजनीति, धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र को नैतिक एकता के सूत्र में पिरोता है। गांधीजी ने विश्वनिर्माण, विश्व एकीकरण की नवीन सांस्कृतिक शक्तियों का आवाहन किया और आज इस नवीन युगधर्म के कारण ही मानवीय नैतिक चेतना जाग्रत हो रही है और विश्व-शान्ति की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हो रहा है। अनासक्ति योग युग-युग से निष्क्रिय हृदयों को आकर्षित कर रहा है। गांधीजी के ज्ञान और कर्म के समन्वय ने मानव-जीवन के समस्त क्षेत्रों में नवीन आलोक डालकर मानव-दृष्टिकोण को विकसित किया। गांधीजी के लिए ज्ञान और आचार अभिन्न हैं। पूर्ण शील ही पूर्ण प्रज्ञा है और पूर्ण प्रज्ञा ही पूर्ण शील है। वह यह मानते हैं कि जीवन और नैतिकता एक ही है। उनका जीवनरूपी कर्मक्षेत्र नैतिकता की सजीव मूर्ति था। उनके जीवन को

समझना ही एक नवीन किन्तु चिरपुरातन नैतिक-सांस्कृतिक चेतना को समझना है। उनका जीवन आचार-शास्त्र का क्रियात्मक एवं सत्य रूप है।

गांधीजी ने अहिंसा को एक व्यापक सांस्कृतिक एवं नैतिक प्रतीक के रूप में ही हमारे सम्मुख रखा है। वह विश्व-मानवता का एकमात्र सार है और आज के विध्वंस के युग में मानव-जाति का एकमात्र जीवन-अवलम्ब है। गांधीजी ने अपने व्यक्तिगत जीवन के आदर्शों द्वारा अपराजित साहस, संयम, तत्परता, निर्भयता तथा जागरूकता को आत्मिक गुण बताया। वह स्वतन्त्र मानवीय चेतना के प्रतीक थे। त्यागी, तपस्वी तथा निर्भीक विचारक थे। वे अहिंसाव्रतधारी थे। अहिंसा को उनके अनुसार वही समझ सकता है जिसकी आत्मा का हनन न हुआ हो। 'मगर जो आदमी आत्मा से लूला है, पंगु है, अन्धा है, वह अहिंसा को समझ नहीं सकता।' गांधी-दर्शन में कठोर यथार्थता है। वह नैतिक और सामाजिक आदर्शों का, त्याग और सेवा का, सत्य और अहिंसा का वह असिपथचारी धर्म है जो 'असत् से सत् की ओर और अन्धकार से प्रकाश की ओर' ले जाता है।

o o o






राजकमल